उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिंदी उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन

UPANIVESH AUR NAVAUPANIVESHKALEEN STREE KENDRIT HINDI UPANYASOM KA TULANATMAK ADHYAYAN

Thesis submitted to

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

for the award of the degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY
in
HINDI

under the Faculty of Humanities

By

BEENA PYLEE
बीला पैली

Prof. Dr. K. Ajitha
Head of the Department

Dr. K. VANAJA
Professor & Dean
Faculty of Humanities
Supervising Teacher

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi-682 022

DECEMBER - 2018

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis entitled **"UPANIVESH AUR NAVAUPANIVESHKALEEN STREE KENDRIT HINDI UPANYASOM KA TULANATMAK ADHYAYAN"** is a bonafide record of research work carried by **Smt. Beena Pylee** under my supervision for Ph.D (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university. All the relevant corrections and modifications suggested by the audience during the pre-synopsis seminar and recommended by the Doctoral Committee of the candidate has been incorporated in the thesis.

Dr. K. VANAJA
Professor and Dean
Faculty of Humanities
Supervising Guide

Place : Kochi
Date :

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis entitled **"UPANIVESH AUR NAVAUPANIVESHKALEEN STREE KENDRIT HINDI UPANYASOM KA TULANATMAK ADHYAYAN"** based on the original work done by me under the guidance of Dr. K. Vanaja, Professor and Dean, Faculty of Humanities, Dept. of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin-682 022 and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any other university.

Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Kochi-22.

Beena Pylee
Research Scholar

भूमिका

उपनिवेशवाद प्राचीन काल से ही कायम रहा है। अनेक शक्तिशाली देशों ने शक्तिहीन देशों में उपनिवेश स्थापित किए है और इनका प्रमुख लक्ष्य आर्थिक शोषण था। नवउपनिवेश में भी एक शक्तिशाली राष्ट्र एक विकासशील स्वतंत्र राष्ट्र पर गूढ़ तंत्र से आधिपत्य स्थापित करते हैं और इसका भी मकसद आर्थिक शोषण ही है। उपनिवेश में प्रत्यक्ष रूप से और नवउपनिवेश में अप्रत्यक्ष रूप से शासन और शोषण चलते हैं। भारतीय स्त्रियों पर भी उपनिवेश और नवउपनिवेश का असर पड़ा है।

उपन्यास ऐसी एक सशक्त विधा है जिसमें व्यापक ढंग से विषय को प्रस्तुत किया जा सकता है। उपनिवेश - नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों के द्वारा तद्‌युगीन स्त्रियों के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियों तथा उनकी अस्मिता के संबंध में जानकारी मिलती है। सामन्तवाद, औद्योगीकरण, भूमंडलीकरण और पितृसत्तात्मक पूँजीवादी शक्तियों की वजह से स्त्री समाज में युगों से शोषण की शिकार बनती आ रही है। दुनिया की आधी आबादी स्त्री होते हुए भी वह दोयम दर्जे की है। समाज में लिंगगत भेद को मिटाने और स्त्री सशक्तिकरण को लक्ष्य करके अनेक प्रयास कई संस्थाओं, सरकार, कानूनी तौर पर तथा अनेक प्रकार से एवं अनेक दिशाओं से से हो रहा है। वर्तमान समय में स्त्री विषय की प्रासंगिकता को

ध्यान में रखकर मैंने अपना शोध विषय 'उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन' चुन लिया।

उपनिवेशकाल में ज़्यादातर पुरुषों द्वारा लिखे गए स्त्री केन्द्रित उपन्यास ही मिलते हैं। इन्होंने अपनी दृष्टि से स्त्री की समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। नवउपनिवेशकाल में स्त्रियों द्वारा स्त्री पर लेखन एक महत्वपूर्ण आयाम बनकर उभरा है। स्वानुभव होने के कारण अपनी वैचारिक स्थिति को लेखिकाओं ने बहुत प्रामाणिकता के साथ व्यक्त किया है। सहानुभूति के बदले स्वानुभूति का प्रश्न ज़्यादा प्रासंगिक है। प्रस्तुत शोध में कुछ चुने हुए उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित उपन्यासों का अध्ययन किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए विषय को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है।

पहला अध्याय है 'उपनिवेश और नव उपनिवेश : परिदृश्य एवं अवधारणा'। इस अध्याय में उपनिवेश और नवउपनिवेश के अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप की चर्चा करते हुए औपनिवेशिक और नवऔपनिवेशिक भारत का परिवेश, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ एवं साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, सुधारवादी आंदोलन, नवजागरण, स्वाधीनता आंदोलन तथा नवऔपनिवेशिक स्थितियाँ जैसे आधुनिकता, औद्योगीकरण, पश्चिमीकरण, भूमंडलीकरण, उदारीकरण, बाज़ारीकरण, निजीकरण और साम्राज्यवाद पर भी विचार किया गया है। उपनिवेश और नवउपनिवेश के साम्य-वैषम्य को भी इस अध्याय के अंत में प्रतिपादित किया गया है।

दूसरा अध्याय है 'उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में समाज एवं संस्कृति'। इस अध्याय में समाज और संस्कृति की परिभाषा एवं अवधारणा को व्यक्त करते हुए समाज और संस्कृति के बीच का संबंध भी अभिव्यक्त किया गया है। समाज की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति से लेकर परिवार, पारिवारिक समस्याएँ, धर्म, वर्ण एवं जातिव्यवस्था, सामाजिक रूढियाँ एवं कुरीतियाँ, स्त्री शिक्षा आदि पर उपन्यासों से उदाहरण देते हुए चर्चा की गई है। भारत की बुनियादी संस्कृति कृषि संस्कृति है। औद्योगीकरण और भूमंडलीकरण की वजह से समाज में संस्कृति के मायने बदल गए। उपनिवेश और नवउपनिवेशकाल में समाज और संस्कृति में आए परिवर्तन को भी इस अध्याय में प्रतिपादित किया गया है।

तीसरा अध्याय है 'उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में अर्थ एवं राजनीति'। इसमें अर्थ और राजनीति की परिभाषा देते हुए उसकी एक सामान्य अवधारणा प्रस्तुत की गयी है। अर्थ और राजनीति का ध्येय मानवतावादी होना चाहिए। यह स्वार्थी और उग्र राष्ट्रवाद के दोषों से मुक्त होना चाहिए। उपनिवेशकाल में ब्रिटन की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और साम्राज्यवादी ताकतों से भारतीय शोषित थे। नवउपनिवेशकाल में भूमंडलीकरण, बाज़ारीकरण, उदारीकरण, नवसाम्राज्यवाद आदि स्थितियों से समाज में बदलाव आए हैं, लेकिन मानव विशेषकर स्त्री शोषण से मुक्त नहीं हुई है। स्त्री केन्द्रित उपन्यासों के अर्थ और राजनीति से संबंधित पक्षों का उद्‌घाटन इस अध्याय में हुआ है।

चौथा अध्याय है 'उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता'। अस्मिता निजत्व का बोध कराने के कारण जीवन में स्थित मूल्यों से भी जुड़ जाता है, जो समय-समय पर बदलते रहते हैं। उपनिवेशकाल में रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा धार्मिक कुरीतियों के कारण स्त्री की कोई अस्मिता ही नहीं थी। स्त्री शिक्षा के प्रचार-प्रसार से ही स्त्री अपने अधिकारों और मुक्ति के संबंध में सचेत हुई। नवउपनिवेशकाल में शिक्षित स्त्री अपनी अस्मिता की खोज में पूँजीवाद की शिकार बन गयी है। वह आर्थिक स्वतंत्रता तो हासिल कर रही है, लेकिन इस बाज़ार की दुनिया में वह व्यक्ति से वस्तु में तब्दील हुई है। लेकिन वह अपने विवेक एवं सूझ-बूझ से दुनिया में मानवीयता को बरकरार रखने और अपनी अस्मिता से सामाजिक उन्नयन की हिमायती बनना चाहती है। प्रारंभिक काल से आज तक के स्त्री केन्द्रित उपन्यासों में स्त्री की अस्मिता की खोज इस अध्याय में हुई है।

पाँचवाँ अध्याय है 'उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों का शिल्प'। इसमें प्रारंभिक स्त्री केन्द्रित उपन्यासों से लेकर समकालीन उपन्यासों तक शिल्प में आए परिवर्तन को प्रतिपादित किया गया है। प्रारंभिक उपन्यासों में वर्णनात्मक शैली में किस्सागो द्वारा कथा कहने की रीति थी, लेकिन बाद में नए-नए शिल्पगत प्रयोग, प्रतीकों, बिंबों और संकेतों का प्रयोग, हरित भाषा, स्त्री भाषा आदि का प्रयोग किया गया है। स्त्री भाषा में पुरुष भाषा से भिन्न सहानुभूति के स्थान पर स्वानुभूति है।

अंत में उपसंहार है। उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित उपन्यासों के तुलनात्मक विश्लेषण के उपरांत जिन निष्कर्षों को प्राप्त हुआ, उनको प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध कोच्ची विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की प्रोफेसर एवं मानविकी संकाय अध्यक्षा डॉ. के. वनजाजी के निर्देशन एवं निरीक्षण में संपन्न हुआ है। उनकी विद्वता, बहुमूल्य सुझावों एवं मार्ग निर्देशन से ही मेरा यह शोधकार्य पूरा हुआ है। मैं तहे दिल से उनके प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ।

मेरा डोक्टरल कमिटी के विशेषज्ञ डॉ. एन. मोहननजी ने भी समय-समय पर सुझाव और प्रोत्साहन देते हुए मुझे पूरा सहयोग दिया है।

हिन्दी विभाग के अन्य गुरुजनों, पुस्तकालय के कर्मचारीगण, हिन्दी विभाग के अन्य कर्मचारीगण और मेरे प्रिय दोस्तों के प्रति भी मैं धन्यवाद अदा करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मेरी मदद की है।

इस शोध प्रबंध की पूर्ति केलिए जिन पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का उपयोग मैंने किया है, उन सबके लेखकों के प्रति भी मैं आभारी हूँ।

मेरे माता-पिता, जीवन-साथी, बच्चे और परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ। उनके सतत प्रोत्साहन और सहायता मुझे हमेशा मिले हैं। मेरे परमेश्वर के प्रति भी मैं आभारी हूँ, उनकी कृपा और आशिष से ही मेरा यह शोधकार्य सफल हुआ है।

इस शोध प्रबंध को मैं अपनी माँ मरियामा और सास एलियामा को सादर समर्पित करती हूँ। इन्होंने मेरी शिक्षा और व्यक्तित्व विकास में बहुत बड़ा सहयोग दिया है। त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

सविनय

बीना पैली

शोध छात्रा
हिन्दी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोच्चिन-682022

तारीख :

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

अध्याय एक 1-68

उपनिवेश और नवउपनिवेश : परिदृश्य एवं अवधारणा

उपनिवेश : अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप - औपनिवेशिक भारत का परिवेश - उपनिवेशकालीन परिस्थितियाँ - राजनीतिक परिस्थिति - आर्थिक परिस्थिति - सामाजिक परिस्थिति - सांस्कृतिक परिस्थिति - 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम - भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना - सुधारवादी आंदोलन - ब्रह्म समाज तथा राजाराम मोहनराय - प्रार्थना समाज तथा रानाडे - आर्य समाज तथा दयानन्द सरस्वती - रामकृष्ण मिशन तथा स्वामी विवेकानन्द - थियोसोफ़िकल सोसाइटी तथा श्रीमति एनी बेसेन्ट - नवजागरण - नवजागरण में ईसाई मिशनरियों का योगदान - स्वाधीनता आंदोलन - साहित्यिक प्रवृत्तियाँ - 1. मुक्ति चेतना, 2. राष्ट्रीयता, 3. सुधारवादी चेतना, 4. नैतिकता बोध, 5. गद्य साहित्य और खडीबोली का विकास, 6. प्रकृति का मधुर चित्रण, 7. कृषक जीवन, 8. सामंतीय व्यवस्था का विरोध, 9. औद्योगीकरण का विरोध, 10. छुआछूत का विरोध, 11. मज़दूर जीवन, 12. स्त्री सशक्तिकरण - नवउपनिवेश - अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप - नवउपनिवेशकालीन परिवेश - आधुनिकता - औद्योगीकरण - पश्चिमीकरण - भूमंडलीकरण - उदारीकरण - उपभोक्तावाद और बाज़ारीकरण - ब्रांड संस्कृति - वस्तुकरण - निजीकरण बनाम बाज़ारीकरण - साम्राज्यवाद - सांप्रदायिकता - नव उपनिवेशकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ - 1. आधुनिकता का विकास - समकालीनता - स्वदेशीबोध - स्थानीयता बोध - हाशियेकृत जनसमूह का प्रतिरोध - उपनिवेश और नवउपनिवेश का साम्य-वैषम्य।

अध्याय दो 69-168

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में समाज एवं संस्कृति

समाज - अर्थ, परिभाषा एवं अवधारणा - संस्कृति अर्थ, परिभाषा एवं अवधारणा - समाज और संस्कृति का संबंध - व्यक्ति और समाज - परिवार - संयुक्त परिवार - एकल परिवार - विवाह - तलाक - प्रेम - नैतिकता - धर्म - वर्ण एवं जाति व्यवस्था - बाल-विवाह - विधवा जीवन - दहेज प्रथा - अनमेल विवाह - वेश्यावृत्ति - स्त्री शिक्षा - संस्कृति - कृषि संस्कृति - औद्योगिक संस्कृति - भूमंडलीय संस्कृति और समाज - जन संस्कृति - धंधा - रीति-रिवाज़ और रहन-सहन - वेश-भूषा - संगीत एवं नृत्य - त्योहार, पर्व एवं मेला।

अध्याय तीन 169-236

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में अर्थ एवं राजनीति

अर्थ - एक सामान्य अवधारणा - राजनीति - अर्थ एवं परिभाषा - उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन भारत की आर्थिक व्यवस्था - गाँधीवादी आर्थिक चिंतन - डॉ. अंबेडकर के आर्थिक विचार - अमर्त्य सेन का आर्थिक चिंतन - महावीरप्रसाद द्विवेदी का सम्पत्तिशास्त्र - सामंतीय अर्थव्यवस्था - पूँजीवाद और भूमंडलीकरण - उपभोक्तावाद और बाज़ारीकरण - अनुदारवाद और उदारीकरण - साम्राज्यवाद और नवसाम्राज्यवाद - राजनीति में नैतिकता - सांप्रदायिकता - राजनीति में स्त्री - अर्थ एवं स्त्री स्वावलंबन।

अध्याय चार 237-313

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता

अस्मिता - अवधारणा एवं स्वरूप - स्त्री अस्मिता - स्त्री अस्मिता संबंधी विविध दृष्टिकोण - 1. सामंती दृष्टिकोण, 2. मार्क्सवादी दृष्टिकोण, 3. पूँजीवादी दृष्टिकोण - विभिन्न कालों में स्त्री अस्मिता - 1. वैदिक काल में स्त्री, 2. बौद्धकाल में स्त्री, 3. मध्यकाल में स्त्री, 4. उपनिवेश कालीन स्त्री, 5. नवजागरणकालीन स्त्री - नारी मुक्ति आंदोलन - पश्चिमी नारी मुक्ति आंदोलन - भारतीय नारी मुक्ति आंदोलन - नवउपनिवेशकालीन स्त्री - पुरुषवर्चस्ववादी व्यवस्था का विरोध - सामंतवादी व्यवस्था का विरोध - लड़का-लड़की में भेद - स्त्री शिक्षा - पराए घर का धन - मनपसंद वर चुनना - वैयक्तिक स्वतंत्रता - पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध - कन्या भ्रूणहत्या - स्त्री सिर्फ देह नहीं - स्त्री प्रताडन - छोटा परिवार, सुखी परिवार - वैवाहिक व्यवस्था का विरोध - स्त्री के विविध रूप और उनकी अस्मिता - 1. बेटी - पत्नी - माँ - कामकाजी महिला - सौंदर्य मिथक - प्रकृति में स्त्री अस्मिता की खोज - मूल्य और आस्था।

अध्याय पाँच 314-367

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों का शिल्प विधान

शिल्प : अर्थ एवं स्वरूप - कथानक सृष्टि : विविध प्रयोग - पूर्व प्रेमचंदकालीन उपन्यास - उपदेशप्रधान सामाजिक - तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास - जासूसी उपन्यास - ऐतिहासिक उपन्यास - प्रेमचंदकालीन उपन्यास - सामाजिक उपन्यास - आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास - राष्ट्रीय उपन्यास - मनोवैज्ञानिक उपन्यास - प्रकृतिवादी उपन्यास - दार्शनिक उपन्यास -

ऐतिहासिक उपन्यास - प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यास - मनोवैज्ञानिक उपन्यास - मार्क्सवादी उपन्यास - आंचलिक उपन्यास - आधुनिक उपन्यास - समकालीन उपन्यास - पात्र-परिकल्पना - उपनिवेशकालीन उपन्यास - नवउपनिवेशकालीन उपन्यास - कथोपकथन एवं संवाद - उपनिवेशकालीन उपन्यास - नवउपनिवेशकालीन उपन्यास - थलकाल - उपनिवेशकालीन उपन्यास - नवउपनिवेशकालीन उपन्यास - भाषा - उपनिवेशकालीन उपन्यास - दैनन्दिन बोलचाल की खडीबोली भाषा - मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों के प्रयोग - काव्यात्मक भाषा - पात्रानुकूल भाषा - नवउपनिवेशकालीन उपन्यास - 1. सहज, स्वाभाविक और पात्रानुकूल भाषा, 2. सांकेतिक भाषा, 3. मुहावरे और लोकोक्तियाँ, 4. प्रतीकात्मक भाषा, 5. अलंकृत भाषा, 6. यौन संदर्भित भाषा, 7. स्त्री भाषा - हरित भाषा - शैली - उपनिवेशकाल - 1. किस्सागोई शैली, 2. स्वप्न कथा शैली, 3. वर्णनात्मक शैली, 4. आत्मकथात्मक शैली, 5. पत्रात्मक शैली, 6. पात्र किस्सागो शैली - नवउपनिवेशकालीन उपन्यास - 1. वर्णनात्मक शैली, 2. आत्मकथात्मक शैली, 3. पूर्व दीप्ति शैली (फ्लैशबैक शैली), 4. नाटकीय संवाद शैली, 5. मनोविश्लेषणात्मक शैली, 6. आंचलिक भाषा शैली, 7. पत्रात्मक सैली, 8. मिथक, प्रतीक एवं रूपक का प्रयोग

उपसंहार 368-373

संदर्भ ग्रंथ सूची 374-390

परिशिष्ट 391

अध्याय एक

उपनिवेश और नवउपनिवेश : परिदृश्य एवं अवधारणा

अध्याय एक
उपनिवेश और नवउपनिवेश : परिदृश्य एवं अवधारणा

उपनिवेश : अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप

उपनिवेश, अंग्रेजी 'colony' का पर्यायवाची शब्द है। उपनिवेश का सामान्य अर्थ है, वह देश जहाँ किसी दूसरे देश के लोगों ने आकर बस लिया हो और अपना अधिकार जमा लिया हो। लेकिन व्यापक अर्थ में उपनिवेश से आशय है, वह देश जिसे किसी दूसरे देश ने आकर परास्त करके उसपर राजनीतिक, प्रशासनिक आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आधिपत्य स्थापित कर लिया हो और उसका संपूर्ण शोषण कर लिया हो।

'Colony' शब्द लैटिन 'colonus' से निर्मित शब्द है जिसका अर्थ है, एक छोटा फार्म या बस्ती (a small farm or settlement) इस प्रकार 'colonia' एक विजित देश में रोमन नागरिकों की बस्ती के लिए प्रयुक्त शब्द है।

'The New Encyclopaedia Britanica' के अनुसार उपनिवेशवाद की परिभाषा है - "The exercise of political and economic sovereignty by a country on a country or territory outside its borders"[1] एक देश के

---

1. The New Encyclopaedia Britanica, volume 3, 15th Edition 2010, P. 464

द्वारा अपनी सीमा से बाहर दूसरे देश या क्षेत्र पर राजनीतिक और आर्थिक आधिपत्य स्थापित करने को उपनिवेशवाद कहा जाता है।

हिन्दी विश्वकोश के अनुसार, "एक राज्य के निवासियों की अपने राज्य की भौगोलिक सीमाओं के बाहर अन्य स्थान पर बसी बस्ती को तब उपनिवेश कहते हैं, जब वह स्थान उस राज्य के ही प्रशासकीय क्षेत्र में आता हो अथवा कोई स्वतंत्र राष्ट्र, जो किसी अन्य (प्रधान) राष्ट्र की राष्ट्रीयता, प्रशासन तथा आर्थिक एकता से घनिष्ट संबंध रखता हो।"[1]

उपनिवेश मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं-

1. आवासीय उपनिवेश (Settlement colony)
2. प्रशासनिक उपनिवेश (Administrative colony)

किसी देश को पराजित करके उसपर आधिपत्य स्थापित करने के बाद वहाँ के लोगों के साथ घुल-मिलकर बस जाना आवासीय उपनिवेश है।

प्रशासनिक उपनिवेश में उपनिवेशक, उपनिवेशित राज्य में न बसते हुए बाहरी नियंत्रण से उनपर प्रशासनिक शासन चलाते हैं। उनका लक्ष्य उस राज्य का संपूर्ण शोषण है।

उपनिवेशवाद प्राचीन काल से ही कायम रहा है। अनेक ग्रीक नगरों ने उपनिवेश स्थापित किए थे। विश्व विजेता सिकंदर ने अनेक देशों को पराजित

---

1. हिन्दी विश्वकोश, खंड-2, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, पृ. 90-91

करके अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। 1760 में ब्रिटेन में हुई औद्योगिक क्रांति के पश्चात् यूरोप के अनेक शक्तिशाली देशों जैसे इंग्लैंड, फ्रांस, पूर्तगाल और स्पैन ने एशिया, अमेरिका और आफ्रिका में उपनिवेश स्थापित किए और इनका प्रमुख लक्ष्य आर्थिक शोषण ही था। विकासशील पूँजीवादी शक्तियों को अपने विस्तार और संचय के लिए अविकसित देशों के कच्चे मालों की आवश्यकता थी। उन्हें ऐसे देशों की आवश्यकता अपने उत्पादित मालों के बाज़ार के रूप में और अपने अतिरिक्त पूँजी लगाने के क्षेत्र के रूप में थी। अपने अधीनस्थ देशों के मज़दूरों के आसानी से शोषण हो सकने के कारण उससे बहुत अधिक लाभ भी हासिल किया जा सकता था। शायद इस आधार पर 'लेनिन' उपनिवेशवाद को पूँजीवाद का अंतिम चरण मानते हैं।

'एडवर्ड सईद' के अनुसार उपनिवेशवाद, सुदूर क्षेत्रों मे बस्तियों की स्थापना है और वह बहुधा साम्राज्यवाद का नतीजा है।

एक शक्तिशाली देश के द्वारा एक शक्तिहीन देश को परास्त करके उसे उपनिवेश के रूप में अपने अधीन रखने की नीति को साम्राज्यवाद कहा जाता है। प्रत्येक शक्तिस्रोत ऐसे विजित देशों का एकमेव संनियंत्रक और एकाधिकारी बनना चाहता है। उपनिवेश कभी खरीदा जाता है और कभी तलवार के बल पर या धोखे से जीता जाता है, जैसे अंग्रेज़ों ने भारत को जीत लिया।

औपनिवेशिक भारत का परिवेश

प्राचीन काल से ही भारत बौद्धिक, भौगोलिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तौर पर समृद्ध देश रहा है। इससे विदेशी राष्ट्रों का उसपर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है। अनेक यूरोपीय शक्तियों जैसे पुर्तगाल, डच, फ्रांस और इंग्लैंड ने भारत में उपनिवेश स्थापित किए थे। उनका लक्ष्य भारत का संपूर्ण शोषण ही था।

17 मई 1498 में पुर्तगाली व्यापारी वास्को डि गामा, कालिकट के बन्दरगाह पर उतरा था। तत्कालीन स्थानीय शासक जमोरिन ने उनको व्यापारिक सुविधाएँ भी दीं। उसके बाद भारतीय राजाओं की आपसी फूट का फायदा उठाकर पुर्तगालियों ने गोवा, दमन-दीव और बम्बई नगर पर आधिपत्य स्थापित किया। कालिकट और गोवा से सबसे ज्यादा काली मिर्च का नियति होता था। 17वीं शताब्दी से भारत में पुर्तगालियों का पतन होने लगा।

पुर्तगाली सत्ता को चुनौती देते हुए डचों (हॉलैण्डवासियों) ने 1605ई. में भारत में अनेक फैक्टरियाँ स्थापित कीं। उन्हें स्थानीय शासकों से व्यापारिक सुविधाएँ भी मिलीं। 1632-1658ई. में डच्चों ने पुर्तगालियों को भारत से हटाने का कार्य किया। सत्रहवीं शताब्दी में भारत तथा हिंद महासागरीय क्षेत्र में आधिपत्य स्थापित करने के लिए डच और अंग्रेज़ों के बीच संघर्ष आरंभ हो गया। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तीन युद्ध अंग्रेजों और डचों के बीच हुए जिनमें अंग्रेज़ों की जीत हुई। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में डच शक्ति क्षीण हो गई। भारतीय वस्त्र के निर्यात को सर्वोच्च स्थिति प्रदान करने का श्रेय डचों को दिया जाता है।

1667ई. में प्रथम फ्रांसीसी अभियान दल फ्रांको मार्टिन के नेतृत्व में भारत आया। उन्होंने भी भारतीय राजाओं से व्यापार करने की अनुमति लेकर 1668ई. में सूरत में अपने फैक्टरी की स्थापना की। 1697ई. में फांसीसियों ने पॉण्डिचेरी पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उस काल में भारत फ्रांसीसियों के अंतर्राष्ट्रीय नीति से बहुत अधिक प्रभावित था। 1672 और 1713ई. के बीच फ्रांस, डच के साथ लगातार युद्ध करता रहा। 1720ई. में फ्रांसीसी कंपनी का पुनर्निर्माण हुआ। 1742ई. में डूप्ले फ्रांसीसी गवर्नर के रूप में नियुक्त हुए जो भारत में फ्रांसीसी व्यापार के इतिहास में एक नए अध्याय की शुरुआत थी। उसके बाद फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों के बीच तीन कर्नाटक युद्ध हुए जिसके अंत में फ्रांसीसियों का हार हुआ।

भारत में नवीन व्यापारिक गतिविधियाँ शुरू करनेवालों में अंग्रेज़ का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण शायद यह था कि एशियाई व्यापार के स्वरूप को समझने में वे सफल रहे थे और साथ ही उन्होंने सैनिक तथा राजनैतिक शक्ति का सहारा भी लिया था। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक एशिया से माल यूरोप से पहुँचने लगा था। इस व्यापार के लाभ को देखकर अंग्रेज़ों को पूर्व से व्यापार करने की प्रेरणा मिली। 1599ई. में मर्चेण्ट एडवेंचर्स नामक दल ने लन्दन में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना की थी। महारानी एलिज़बेथ प्रथम ने दिसम्बर 1600ई. में कम्पनी को पंद्रह वर्षों के लिए पूर्व के साथ व्यापार करने का अनुमोदन दिया। पंद्रह वर्ष बीत जाने के पहले ही सम्राट जेम्स प्रथम ने अनिश्चित कालावधि के लिए कम्पनी को व्यापारिक अधिकार दे दिया।

1604ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी भारत की ओर बढ़ी और 1611ई. में उन्हें सूरत में व्यापार करने की अनुमति दी गई। ब्रिटिश शासक जेम्स प्रथम के दूत के रूप में थॉमस रो का भारत आगमन कम्पनी के इतिहास में एक निर्णायक घटना थी। वह 1615 से 1618ई. तक मुगल दरबार में रहा और साम्राज्य के विभिन्न भागों से व्यापार करने की अनुमति तत्कालीन सम्राट जहाँगीर से ले ली। 1691ई. मे औरंगज़ेब ने कम्पनी को कर रहित व्यापार की अनुमति दी। अंग्रेज़ भारत से वस्त्र, नील, मसाले, मलमल आदि ले जाते थे। पहले तो अंग्रेज़ों के भारत से बड़े पैमाने में वस्तुएँ ले जाने से भारत के दस्तकारी को बहुत लाभ मिलता था। इससे बड़े-बड़े भारतीय व्यापारी कम्पनी के मध्यस्थ व्यापारी के रूप में काम करने लगे। कंपनी धीरे-धीरे व्यापारिक क्षेत्र में वर्चस्व कायम करती रही और धन बटोरने लगी।

यूरोपीय शक्तियाँ अनेक वर्षों तक परस्पर संघर्ष करती रही। पुर्तगाली और डच कंपनियों ने हार स्वीकार करके अंग्रेज़ों से संधि कर ली और संधि के अनुसार बम्बई अंग्रेज़ों को मिल गया। डच लोग गोवा, दमन और दीव द्वीप समूहों पर अपना अधिपत्य स्थापित करके व्यापार करने लगे। 1761ई. में फ्रांसीसियों ने भी पराजय स्वीकार करके अंग्रेज़ों से संधि कर ली। पैरिस में हुई संधि के अनुसार पॉण्डिचेरी, चन्द्रनगर, माही नामक स्थानों पर उन्होंने अपना आधिपत्य स्थापित किया। इस प्रकार यूरोपीय कंपनियों के भारत में संघर्ष के बाद, केवल अंग्रेज़ ही अपना अस्तित्व कायम रखने में सफल रहा।

व्यापार में अभिवृद्धि होने के साथ ही ब्रिटिश कंपनी भारत के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगी। कंपनी के कर्मचारी राजनीतिक सत्ता का दुरुपयोग

करने लगे। लूटमार और भ्रष्टाचार शुरू हो गये। तत्कालीन भारत की अराजकतापूर्ण स्थिति का ईस्ट इंडिया कंपनी ने बेहद लाभ उठाया।

ईस्ट इंडिया कंपनी के नेता 'क्लाइव' ने अपनी सेवा को सुसंगठित कर लिया। वे भारत के राजाओं और नवाबों को परस्पर लड़ाते रहे। सबसे पहले उसने बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के सेनापति को अपनी ओर मिला लिया। सेनापति मीर जाफर को बंगाल का नवाब बनाने का लालच दिया गया। मीर जाफर ने लालच और बहकावे में आकर सिराजुद्दौला के साथ विश्वासघात और देशद्रोह का कार्य किया। सन् 1757 में प्लासी के मैदान में नवाब सिराजुद्दौला और अंग्रेज़ी सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ जिसमें मीर जाफर की गद्दारी के कारण सिराजुद्दौला का हार हुआ। सिराजुद्दौला के मारे जाने के बाद अंग्रेज़ों ने बंगाल पर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

प्लासी युद्ध में विजय प्राप्त करने पर कंपनी ने मीर जाफ़र को पुरस्कार के रूप में बंगाल का नवाब बना दिया। इसके बदले में मीर जाफ़र ने कंपनी को चौबीस परगने की ज़मींदारी सौंप दी। बाद में कंपनी ने मीर जाफ़र को हटाकर मीर कासिम को नवाब बना दिया। इसके बदले में मीर कासिम ने तीन ज़िले कंपनी को दिए। इसके अलावा दोनों ने कंपनी को उस समय के मूल्य के अनुसार तीन करोड़ का सोना और संपत्ति भी प्रदान की।

कंपनी से नाराज़ होकर नवाबमीर कासिम ने उसके खिलाफ आवाज़ उठाई। परिणामस्वरूप सन् 1764 में बक्सर का भयंकर युद्ध हुआ जिसमें अंग्रेज़ों

की जीत हुई और यह घटना अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना में एक निर्णायक कदम साबित हुआ। सही अर्थों में तो भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य की नींव 1757ई. में प्लासी के मैदान में डाली गई।

कंपनी ने अपना कार्य क्षेत्र बढ़ाने के साथ-साथ अपनी सुसंगठित सेना को किराए पर देना प्रारंभ कर दिया, जिसमें वह किसी एक पक्ष की सहायता के बदले में अधिक से अधिक कीमत वसूल करती और अपनी शक्ति बढाती जाती। जब तक लोगों को उनकी सहायता के झूठ का भंडाफोड हुआ, तब तक अंग्रेज़ अपने सत्ता को पूरे देश में जमा चुके थे।

सन् 1759 में मुगल बादशाह शाह आलम दिल्ली के सम्राट थे। 1764 के बक्सर युद्ध में शाह आलम तथा बंगाल और अवध के नवाबों पर विजयी होकर कंपनी ने बंगाल पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित किया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ में आ जाने से उन्हें मालगुज़ारी वसूल करने का अधिकार भी मिल गया। अब कंपनी के कर्मचारी और एजेंट धन लूटने के लिए प्रजा पर घोर अत्याचार करने लगे। लूटमार और कुशासन के फलस्वरूप सन् 1769-70 में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा जिसमें लगभग तीस लाख लोग भूख और बीमारियों के शिकार हुए। अकाल इतना भयंकर था कि लोग मुर्दा को खाकर मौत से संघर्ष कर रहे थे। उस समय कंपनी के एजेंटों के घर और गोदाम में चावल ठुँसे हुए थे। अंग्रेज़ों ने एक ओर भारत में भुखमरी और बेबसी की इतनी भीषण स्थिति पैदा की, तो दूसरी ओर उन्होंने बंगाल और बिहार से लूटी हुई धन दौलत से इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात किया।

1772ई. में जब वारेन हेस्टिंग्स बंगाल का गवर्नर बना तब कंपनी के दोहरे शासन का अंत हुआ। ब्रिटिश संसद ने 1773 में भारत की शासन व्यवस्था को सुधारने के लिए रेगुलेटिंग एक्ट लागू किया। शासन का पूर्ण नियंत्रण गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारिणी के हाथ में आ गया। अब कंपनी के हाथों से शासन ब्रिटिश मंत्रिमंडल के अधिकार में आ गया।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुगल शासकों की कमज़ोर स्थिति का लाभ उठाकर मराठों ने दिल्ली को अपने कब्जे में करने का प्रयास किया। उस समय अंग्रेज़, शेष यूरोपियों को हराकर सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में उभर रहे थे। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों में अंग्रेज़ों और मराठों के बीच तीन युद्ध हुए और अंतिम युद्ध में (1817-18ई.) मराठा शक्ति मृतप्राय हो गई।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में वे सभी शक्तियाँ, जो मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारत में अपनी सत्ता और शक्ति स्थापित करने के प्रयास में लगी थी, अंग्रेज़ों द्वारा पराजित हुई और अंग्रेज़ सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनकर भारत में उभरे। सन् 1859 तक लगभग संपूर्ण भारत में कंपनी का साम्राज्य स्थापित हो चुका था।

उपनिवेशकालीन परिस्थितियाँ

राजनीतिक परिस्थिति

सन् 1757 में प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला को हराने के बाद अंग्रेज़ों ने भारत में अपनी नींव दृढ़ कर दी और धीरे-धीरे ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन सारे

भारत में फैल गया। कंपनी की नीतियों और दुर्व्यवहार के कारण भारत के अधिकांश राजा महाराजा और सामंत असंतुष्ट हो रहे थे। 1707ई. में औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य कमज़ोर हो गया। राजनीतिक दृष्टि से भारत दुर्बलता और अव्यवस्था से घिर गया। कंपनी इसका फायदा उठाने लगी और उन्होंने राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करना प्रारंभ कर दिया। सन् 1764 में मुगल सम्राट आलम द्वितीय को बक्सर युद्ध में पराजित करके कैद कर लिया गया। देशी राजाओं के अधिकारों को समाप्त करके उनका उत्पीड़न आरंभ कर दिया। अवध की बेगामों के साथ बहुत ही अपमानजनक व्यवहार किया गया। साम्राज्यवादी गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने बलपूर्वक पंजाब, सिक्किम एवं बर्मा के दक्षिणी भाग को जीतकर अंग्रेज़ी साम्राज्य में मिला दिया। तंजौर और कर्नाटक के राजाओं के पद और पेंशन समाप्त कर इन राज्यों को अंग्रेज़ी शासन का अंग बना दिया गया।

युद्ध के समय भारतीय सिपाहियों को आगे रखा जाता था जिससे पहले वे ही मारे जाएँ। भारतीय सैनिक समुद्र पार जाना धर्म विरुद्ध समझते थे। अतः अंग्रेज़ी सरकार ने 1856 में 'जनरल सर्विस इनफिस्टमेंट एक्ट' पास किया जिसमें प्रावधान था कि सेना में केवल उन्हीं लोगों को भर्ती की जाएगी जो सब जगह जाने को तैयार है। इसके अलावा चर्बीयुक्त कारतूसों का प्रयोग भी कम्पनी की सेना में भर्ती भारतीय सिपाहियों की धार्मिक भावनाओं को बड़ी ठेस पहुँचाई। इसके संबंध में यह अफवाह फैल गई कि ये कारतूस गाय और सूअर की चर्बी से वने है। इसे दाँत से काटकर प्रयोग करने के आदेश से हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों के सिपाही

भड़क उठे। उन्होंने इन कारतूसों को प्रयोग करने से इनकार कर दिया। 10 मई, 1857ई. में कंपनी के भारतीय सिपाहियों ने अपने यूरोपीय अफसरों को मारकर मेरठ में क्रांति की शुरुआत की। लेकिन इस अनियोजित और अचानक हुए विद्रोह को अंग्रेज़ी सरकार ने छल, बल और बुद्धि से दबा दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त करके ब्रिटेन की सरकार ने भारत का शासन अपने हाथों में ले लिया।

आर्थिक परिस्थिति

ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप 19वीं सदी के अंत तक भारत ब्रिटिश उपनिवेश के रूप में बदल गया। देश की राजनीति में परिवर्तन के साथ ही धीरे-धीरे आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में परिवर्तन भी लक्षित किए जाने लगे। औद्योगिक क्रांति के कारण ब्रिटेन में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अस्तित्व में आ चुकी थी और बडे पैमाने पर उत्पादन किए जाने के कारण अंग्रेज़ों को कच्चे माल की सख्त आवश्यकता थी। 19वीं शताब्दी में बंगाल, बिहार और उडीसा का प्रशासन अपने हाथ में आने पर वे भारत की कृषिजन्य अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण बदलाव लाये। इससे उनका लक्ष्य, उत्पादन को बढ़ाकर कृषि व्यवस्था में सुधार लाना या कृषकों की सुख-सुविधा को सुनिश्चित करना नहीं था, बल्कि उसे कच्चे माल का स्रोत बनाने के लिए था। 1783ई. में लार् कार्नवालिस ने बंगला उडीसा और बिहार में ज़मींदारी प्रथा लागू कर दी। जिससे भू राजस्व न देने पर कृषक को अपनी ज़मीन से बेदखल किया जाता था या उस ज़मीन को अपने इष्ट ज़मींदार के नाम लिखने पर

विवश किया जाता था। अब गांव में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खाद्य उत्पन्न नहीं किया जाता था बल्कि उन्हीं वस्तुओं को पैदा किया जाने लगा जो व्यवसाय की दृष्टि में लाभदायक थी। इसके परिणामस्वरूप अंग्रेज़ों को कम दाम पर कच्चा माल मिलने लगा। लेकिन ज़मींदारों और महाजनों के चंगुल में फँसकर किसान की अवस्था खराब होती गई। इसी बीच किसान भूख, अकाल और महामारियों का शिकार होता रहा। काफी किसान ज़मीन छिन जाने के कारण खेत मज़दूर बने और कुछ लोग मज़दूरी करने या उद्योगों में काम करने के लिए शहरों की ओर भागे। ब्रिटिश सरकार ने अपने शासन तथा अंग्रेज़ पूँजीपति तथा ज़मींदार वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर डाक, तार, रेल और सड़क की व्यवस्था की। अंग्रेज़ी शिक्षा देनेवाले स्कूल कॉलेज तथा विश्वविद्यालय खोले गए। इससे पश्चिम के नए विचार भी लोगों में फैले।

सामाजिक परिस्थिति

देश की इस अराजकता के बीच समाज की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। समाज की आधार शिला धार्मिक रूढ़ियाँ थीं। मानवोचित कार्यों और मानवीय संवेदनाओं से सर्वथा रहित सामाजिक कुरीतियों को धर्म की आड़ में प्रश्रय दिया जा रहा था। धर्म के आंतरिक सत्य के स्थान पर जब बाह्य रूप को महत्व दिया जाने लगा तो धार्मिक अंधविश्वासों और रूढ़ियों में वृद्धि होने लगी। पंड़ितों को यह अधिकार था कि वे किसी भी सामाजिक बुराई को शास्त्रोचित बताकर उसे धार्मिक कार्य का रूप दे दे। अठारहवीं शताब्दी में बाल विवाह, सती-प्रथा, विधवा-विवाह

निषेध, स्त्री शिक्षा का अभाव, अस्पृश्यता, जाति प्रथा, पर्दाप्रथा आदि परंपरागत रूढ़िवादी कुरीतियों का बोलबाला था।

जाति प्रथा ने समाज को अनेक श्रेणियों में विभाजित कर रखा था। किसी भी व्यक्ति का सामाजिक स्थान उस जाति में जन्म लेने पर निर्भर करता था। व्यक्ति को अपने व्यवसाय के चयन करने की स्वतंत्रता नहीं थी। उन्हें अपनी इच्छा से विवाह करने की भी स्वतंत्रता नहीं थी। जाति-व्यवस्था के कारण समाज की स्थिति इतनी भीषण थी कि निम्न स्तर के लोगों को अस्पृश्य और निकृष्ट माना जाता था। उन्हें मंदिर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। प्रत्येक जाति के अपने-अपने आदर्श मूल्य तथा आचार-विचार थे जिससे समाज में ऐक्य और बंधुत्व की भावना नष्ट होती गयी। जाति प्रथा के कारण सामाजिक अनैक्य, ऊँच-नीच भावना तथा अस्पृश्यता की भावना का उदय हुआ।

तत्कालीन समाज में स्त्री बाल विवाह, सती प्रथा तथा कन्या हत्या जैसी क्रूर प्रथाओं की शिकार थी। पति की मृत्यु के बाद, पति की लाश के साथ पत्नी के जलकर मरने की प्रथा थी। निर्धन माता-पिता दहेज प्रथा की समस्या के कारण नवजात कन्याओं की हत्या करने के लिए विवश हो जाते हैं। घर के चहार दीवारों के भीतर स्त्री को आजीवन कैद में रहना पड़ता था। स्त्री को शिक्षा के लिए कोई अवसर नहीं दिया जाता था।

अंग्रेज़ों के आगमन से भारतीय समाज में नई चेतना आई। अंग्रेज़ी शिक्षा के फलस्वरूप समाज में नवजागरण फैल गया। सामाजिक रूढ़ियों का तिरस्कार

होने से जीवन के मूल्य बदले। ब्रिटिश शासन, अंग्रेज़ी शिक्षा और ईसाई मिशनरियों की लगन और कर्मठता का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव जन आंदोलनों और समाज-सुधार आंदोलनों पर पड़ा। अतः समाज सुधारक सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों का खण्डन करने के साथ ही सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए ठोस विचार और सुझाव प्रस्तुत करने लगे। धीरे-धीरे मानववादी भावनाओं का भी विकास होने लगा।

सांस्कृतिक परिस्थिति

संस्कृति की दृष्टि से उपनिवेशकाल बड़ा रोचक और महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कतिपय नई विशिष्टताएँ लक्षित हुईं। ब्रिटिश शासन की राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि व्यवस्था का भारत की परिस्थिति और भावनाओं पर धीरे-धीरे प्रभाव पड़ने लगा जिससे भारतीय मनःस्थिति में गहरा परिवर्तन हुआ।

आरंभ में यूरोपीय संस्कृति का बहुत बड़ा विरोध हुआ क्योंकि भारतीय संस्कारों में जकड़ा मन उसको स्वीकार करके अपने को सहसा परिवर्तित करने को तैयार न था। इसलिए भारतीय संस्कृति ने सर्वोपरि होने का दम भरते हुए यूरोपीय संस्कृति के सभी पक्षों के प्रति विरोध और उपेक्षा का भाव दिखाने लगा। लेकिन बाद में ब्रह्म समाज आर्य समाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि के आंदोलनों के फलस्वरूप भारतीयों ने ऐसे मानसिक समझौते प्रकट किए कि आध्यात्मिक क्षेत्र में वे संपन्न हैं, लेकिन ऐहिक क्षेत्र में उन्हें ब्रिटिश से कुछ सीखना है। उनके इतिहास, समाज-सुधार, राजतंत्र, विज्ञान, औद्योगिक और आर्थिक नीति

से उन्हें शिक्षा ग्रहण करनी है। इस तरह वे धीरे-धीरे यूरोपीय संस्कृति को अपनाने लगे। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में पाश्चात्य संस्कृति के प्रति भारतीयों में विशेष लगाव और इसका अंधानुकरण लक्षित होता है। अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य रहन-सहन के प्रति पुरानी पीढ़ी के असंतोष का कारण प्राचीन व्यवस्था में उथल-पुथल की आशंका थी। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में राष्ट्रीय भावना में प्रगति और व्यापकता लक्षित होती है। इसका प्रदर्शन हमें विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आंदोलन में देख सकते हैं। अब अत्यधिक अंग्रेज़ियत के प्रति असंतोष, अपनी संस्कृति के प्रति प्रबल आकर्षण और मोह जागृत होते हैं। स्वतंत्रता मिलने के पूर्व तक भारतीय जनता के मानस में यह सांस्कृतिक संक्रमण परिलक्षित होता है।

1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम

ब्रिटिश शासन के विरोध में 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में सैनिकों, राजाओं, भूस्वामियों, किसानों और लाखों कारीगरों ने भाग लिया। 1857 के इस विद्रोह ने ब्रिटिश शासन को गंभीर चुनौती दी और उसकी जडें हिला दी। लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने इसे मात्र सिपाही विद्रोह कहकर इसकी महत्ता को कम करने की कोशिश की।

10 मई, 1857 को कंपनी के भारतीय सिपाहियों ने अपने यूरोपीय अफ़सरों को मारकर मेरठ में क्रांति की शुरुआत की। सिपाहियों को अपने अंग्रेज़ अधिकारियों से सेवा शर्तों में गिरावट, धार्मिक हस्तक्षेप और जातीय स्वाभिमान

संबंधी अनेक शिकायतें थीं। सिपाहियों के कारतूसों में गाय और सुअर के चर्बी के इस्तेमाल किए जाने की खबरों ने 1857 की क्रांति की अग्नि में घी डाल दी। जिन कारतूसों का प्रयोग सैनिक करते थे, उनको पहले दाँतों से काटकर प्रयोग किया जाता था। इससे उनके मन में धर्मभ्रष्ट होने का भय समा गया। साथ ही यह अफ़वाह भी उठी कि सिपाहियों के आटे में हड्डी का चूर्ण मिलाया जाता है। इसके अलावा सिपाहियों के सेवा शर्तों में प्रजातीय भेदभाव किया जाता था जिसके कारण भी आक्रोश व्याप्त था। भारतीय अर्थ व्यवस्था का छिन्न-भिन्न होना, उसका ब्रिटिश अर्थ व्यवस्था के अधीन होना तथा राष्ट्र का आर्थिक शोषण भी विद्रोह का कारण बन गया।

यद्यपि 1857 का गदर सफल नहीं हुआ और विद्रोहियों को भारत को स्वतंत्र कराने में सफलता नहीं मिली, सत्ता ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकलकर ब्रिटिश सरकार के हाथ में चली गई। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता, विद्रोहियों के व्यापक संगठन, उनके शौर्य व बलिदान ने अकाट्य रूप से सिद्ध कर दिया कि यह सिपाही विद्रोह नहीं, बल्कि स्वाधीनता संग्राम था। इसने भारतीयों में ब्रिटिश शासकों के प्रति घृणा तथा स्वतंत्रता की अदम्य अभिलाषा जगा ली। आगे चलकर स्वतंत्रता आंदोलन के लिए यह संग्राम प्रेरणादायक रहा।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

1857 के गदर के बाद कुछ वर्षों तक दमित शांति रही। फिर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना उभरी और संगठित राष्ट्रीय आंदोलन

का उद्‌भव हुआ। इस दौर में भारत के नए शिक्षित वर्ग ने राजनीतिक शिक्षा के प्रसार और देश में राजनीतिक गतिविधियाँ प्रारंभ करने के लिए राजनीतिक संगठनों की स्थापना की। इन संगठनों के कार्यों के फलस्वरूप राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध लोग एक अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता महसूस करने लगे। बम्बई के राष्ट्रवादी राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने दिसम्बर 1885 में देश के विभिन्न भागों के राजनीतिक नेताओं को बम्बई में एकत्र करने के लिए ए.ओ. ह्यूम का समर्थन प्राप्त किया और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। यह हमारे देश के आधुनिक इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी। कांग्रेस के प्रारंभिक वर्षों में उनके नेताओं ने सरकारी नौकरियों में भारतीयों के लिए अधिक स्थान, संस्थाओं में प्रतिनिधित्व तथा प्रशासनिक सुधार की माँग की। जो भी हो, इन नेताओं को ब्रिटिश सरकार की तथाकथित न्यायप्रियता तथा ब्रिटेन की तथाकथित जनतांत्रिक परंपराओं में विश्वास था। उनका ख्याल था कि भारत के ब्रिटेन के साथ संबंधों से भारत का भला होगा। कुछ लोगों का मत है कि कांग्रेस की स्थापना के साथ मंद गति से लेकिन संगठित रूप से देश की स्वतंत्रता के लिए प्रयास शुरू हो गया है।

सुधारवादी आंदोलन

भारत में अंग्रेज़ों के आगमन तथा अंग्रेज़ी शिक्षा से भारतीय समाज में जो आधारभूत परिवर्तन हुए, इनके फलस्वरूप समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। पुराने धर्म एवं संस्कारोंवाले रूढ़िग्रस्त समाज को नये समाज के अनुरूप ढालने का महान कार्य उन्नीसवीं शताब्दी के महान सांस्कृतिक उन्नायकों ने

किया। इनके सुधारवादी आंदोलनों से राष्ट्र में अभूतपूर्व जनजागृति हुई और राष्ट्रीय तथा मानवतावादी भावनाएँ सुदृढ़ हुईं।

ब्रह्म समाज तथा राजाराम मोहनराय

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारवादी आंदोलनों में सबसे पहले 1828ई. में भारतीय नवोत्थान के अग्रगामी नेता राजाराम मोहनराय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। इसका लक्ष्य भारत के सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों, मूर्ति पूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद, सती प्रथा, जाति प्रथा, बहु-विवाह, बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं का उन्मूलन करना था। राजाराम मोहनराय ने जीवन की सार्थकता सामाजिक विषमताओं, कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं धार्मिक जड़ताओं के उन्मूलन में स्वीकार की। उन्होंने नारी स्वातंत्र्य, नारी अधिकार एवं नारी शिक्षा पर बल दिया तथा हिन्दू स्त्रियों पर किए जानेवाले निर्मम अत्याचारों की भर्त्सना की। इनके प्रयत्न के फलस्वरूप सन् 1829 में लार्ड विलियम बैटिक ने सती प्रथा को अवैध घोषित किया। राजाराम मोहनराय ने अनुभव किया कि धार्मिक एवं सामाजिक जड़ताओं का कारण शिक्षा का अभाव है। इसलिए उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का समर्थन दिया।

प्रार्थना समाज तथा रानाडे

सन् 1867ई. में प्रार्थना समाज अस्तित्व में आया जिसके प्रधान निर्माता महादेव गोविन्द रानाडे थे। रानाडे के नेतृत्व में प्रार्थना समाज ने जाति-प्रथा, बाल-विवाह, मूर्ति-पूजा आदि रूढ़ियों वे विरुद्ध आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उन्होंने नारी को उनकी शोचनीय अवस्था से उबारने के लिए विशेष प्रयत्न किए। रानाडे ने विधवा पुनर्विवाह के समर्थन में और बाल विवाह के विरुद्ध शास्त्र सम्मत विद्वतापूर्ण ग्रंथ लिखे। उन्होंने सरकार से यह अनुरोध किया कि 45 वर्ष की आयु से अधिक पुरुष को कुमारियों से विवाह करना कानूनी रूप से निषेध कर दिया जाए। रानाडे ने उन सामाजिक व्यवस्थाओं की निन्दा की जो स्त्रियों को अशिक्षित बनाए रखने के लिए उत्तरदायी थे। रानाडे ने जिन धार्मिक और सामाजिक मूल्यों को प्रतिपादित किया, वे पाश्चात्य चिन्तनधारा से प्रभावित थे।

आर्य समाज तथा दयानन्द सरस्वती

सन् 1875ई. में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। उन्होंने देशवासियों के हदय में यह भावना जागृत करने का प्रयत्न किया कि वैदिक धर्म ही सत्य एवं सार्वदेशिक है। उन्होंने यह नारा लगाया कि वेदों के युग में लौट जाओ। हिन्दू पुनरुत्थान के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रवाद को जागृत करने का प्रयास किया। आर्य समाज ने व्यक्तिगत निर्णय की स्वतंत्रता के बदले वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकृति प्रदान की।

दयानन्द सरस्वती नारी स्वातंत्र्य के पक्षपाती थे। स्त्री के समाज में लगे प्रतिबंधों की उन्होंने कटु आलोचना की। पुरुषों के समान स्त्रियों को वेदाध्ययन में अवसर न देना वे अनुपयुक्त, मूर्खता, स्वार्थपरता और बुद्धिहीनता मानते थे। उनका विश्वास था कि समुचित शिक्षा के अभाव में भारतवासी विकास नहीं कर सकते। दयानन्द सरस्वती के सामाजिक सुधार संबंधी उपदेश आर्य समाज के माध्यम से

पूरे देश में व्याप्त हो गए। "पुरुष शिक्षित और स्वस्थ हो, नारियाँ शिक्षिता और सबला हो। लोग संस्कृत पढ़े और हवन करें, कोई भी हिन्दू मूर्ति-पूजा का नाम न लें, न पुरोहितों, देवताओं और पंड़ों के फेर में पड़े, ये उपदेश उन सभी प्रांतों में कोई पचास साल तक गूँजते रहे जहाँ आर्य समाज का थोड़ा बहुत भी प्रचार था।"[1]

रामकृष्ण मिशन तथा स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण परमहंस के देहान्त के बाद स्वामी विवेकानन्द तथा उनके अन्य शिष्यों ने रामकृष्ण मिशन नामक संस्था की स्थापना की। विवेकानन्द वेदान्त के आधार पर एक ऐसा दर्शन विकसित करना चाहते थे जो समग्र संघर्षों को दूर करके समग्र मानव जाति का उत्थान कर सके। उन्होंने अस्पृश्यता, जाति व्यवस्था, पंडे-पुरोहितों तथा धार्मिक भय आदि पर तीव्र प्रहार किए। उन्होंने अस्पृश्यता को घोर अमानवीयता बतायी। विवेकानन्द ने दलितों के उत्थान के लिए भरसक प्रयत्न किया। उन्होंने देश के आध्यात्मिक उत्थान के लिए आर्थिक एवं राजनीतिक पुनर्निर्माण करना पहला शर्त माना। उन्होंने कहा, "भूख से पीड़ित जनों के गले में धर्म उंडेलना, उनका अपमान करना है। भूख से अधमरे व्यक्ति को धार्मिक सिद्धान्तों की घुट्टी पिलाना, उसके आत्म-सम्मान पर आघात करना है।"[2] इसलिए विवेकानन्द ने भारतीय जनता को राष्ट्रप्रेम तथा राष्ट्रभक्ति जैसे मूल्यों के प्रति सजग कर नये सामाजिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया।

---

1. मूल्य और हिन्दी उपन्यास, डॉ. हेमराज कौशिक, पृ. 105
2. वही, पृ. 108

थियोसोफ़िकल सोसाइटी तथा श्रीमति एनी बेसेन्ट

1875ई. में न्यूयार्क में मदाम ब्लावस्की और ओलकार्ट के नेतृत्व में थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की गई। 1882ई. में मद्रास के अडयार में इसकी शाखा खोली गई। आयरिश महिला श्रीमति एनी बेसेन्ट 16 नवम्बर, 1893 को भारत आई और थियोसोफिकल सोसाइटी की सदस्य बनी। वे मद्रास में रहकर भारत के सांस्कृतिक आंदोलन मे कूद पड़ी। उनके महान व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बहुत से विद्वान और नेता इस सोसाइटी में सम्मिलित हो गए। काशी में उन्होंने सेंट्रल हिन्दू कॉलेज की स्थापना की जो आगे चलकर हिन्दू विश्व विद्यालय के रूप में विकसित हुआ। उन्होंने 'नेशनल रिफार्मर' नामक पत्र में चार्ल्स ब्रेडलाक के साथ काम किया। वे ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आलोचक बनी। उनकी यह स्पष्ट मान्यता थी कि भारत का भविष्य हिन्दू धर्म और संस्कृति से जुड़ा हुआ है। उन्होंने अपने भाषणों में प्राचीन मान्यताओं, विश्वासों और कर्मकांडों का बड़े प्रभावशाली ढ़ंग से समर्थन किया।

1914ई. में एनी बेसेन्ट ने राजनीति में प्रवेश किया। वे लोकमान्य तिलक द्वारा चलाए गए होमरूल आंदोलन में शामिल हो गई। इसी समय वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति पद पर चुनी गई। कांग्रेस की सक्रिय सदस्या के रूप में उन्होंने भारत में राजनीतिक चेतना जागृत करने में महत्वपूर्ण कार्य किया।

एनी बेसेन्ट के नेतृत्व में थियोसोपिकल सोसाइटी ने अनेक स्थानों पर स्कूल, कॉलेज और छात्रावास स्थापित कर शिक्षा के प्रसार के लिए प्रशंसनीय

कार्य किया। इसके अतिरिक्त इसने बाल-विवाह, कन्या-वर विक्रय, विधवा-विवाह, छुआछूत आदि सामाजिक कुरीतियों का घोर विरोध किया। सोसाइटी के कार्यों से न केवल धर्म एवं समाज सुधार आंदोलन को बल प्राप्त हुआ। बल्कि राष्ट्रीय आंदोलन में भी नई जान फूँक दी।

नवजागरण

भारतीय नवजागरण शुरुआत में बंगला नवजागरण और कालान्तर में समूचे भारत में फैलते हुए आधुनिक भारतीय नवजागरण के रूप में ख्यात हुआ। इस नवजागरण का नेतृत्व अंग्रेज़ी पढ़े लिखे भारतीयों की पहली पीढ़ी के बौद्धिकों ने की। अंग्रेज़ शासकों ने अंग्रेज़ी शिक्षा का आरंभ अपने प्रशासनिक हितों के लिए किया था। लेकिन भारतीयों ने अंग्रेज़ी पढ़ने के साथ-साथ पूरे विश्व के ज्ञान-विज्ञान से परिचित हो गए और उनकी सोच में भी गुणात्मक बदलाव हुआ। वे जानते थे कि अंग्रेज़ों की विराट सैन्य शक्ति को सशस्त्र तरीके से पराजित नहीं किया जा सकता। इसलिए उन्होंने ब्रिटिश सत्ता के उन्मूलन को अपना लक्ष्य न बनाकर, भारतीय समाज के अभ्युत्थान करने का निश्चय किया।

रामविलास शर्मा ने स्पष्ट करते हुए नवजागरण का अर्थ बताया है - "किसी देश या उसके प्रदेश के सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन को हम नवजागरण कहते हैं। इसमें सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के प्रयत्न शामिल है। शूद्रों और

स्त्रियों की स्थिति को बदलने के प्रयत्न नवजागरण के अंग हैं। धार्मिक, सुधार, अंधविश्वासों के विरुद्ध प्रचार नवजागरण के अंतर्गत है।"[1]

1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद भारत का शासन कंपनी के हाथों से ब्रिटिश की महारानी विक्टोरिया के हाथों में आ गई थी। भारत का शासन संभालते ही विक्टोरिया ने एक शोषणा पत्र ज़ारी किया था जिसमें अंग्रेज़ी राज के तमाम अत्याचारों के लिए भारतीय जनता से माफ़ी माँगते हुए भारतीयों को भविष्य में न्यायोचित अधिकार देने की बात कही गई थी। उनके धर्म में दखलंदाज़ी न करने तथा भेदभाव न करने के आश्वासन भी उसमें शामिल थे। इस घोषणा पत्र ने नवजागरण के बौद्धिकों तथा भारतीय जनता को एक सीमा तक प्रभावित किया था। उनमें यह भोला विश्वास जगा कि विक्टोरिया महारानी के शासनकाल में भारत के दिन फिरेंगे। नवजागरण के सूत्रधारों ने भी ब्रिटिश सत्ता के तहत सामाजिक-सांस्कृतिक नवजागरण पर काम करने का निश्चय किया। नवजागरण के भागीदारों में राष्ट्रीय नेता, समाज सुधारक तथा ईसाई मिशनरी ने अहम भूमिका निभाई है।

नवजागरण में ईसाई मिशनरियों का योगदान

अठारहवीं शताब्दी की शुरुआत से लेकर अनेक मिशनरियाँ भारत में आए। इनका मकसद कोई धर्म की स्थापना या धर्म परिवर्तन नहीं था, बल्कि ईसा मसीह के सुसमाचार का प्रचार करना था। दो हज़ार वर्ष पहले परमेश्वर ईसा मसीह

---

1. हिन्दी नवजागरण और संस्कृति, शंभुनाथ, पृ. 184

ने यहूदिया देश में एक कुँवरी मरियम की कोख में जन्म लिया। उन्होंने पूर्ण ईश्वर और पूर्ण मनुष्य बनकर तैंतीस वर्ष तक पृथ्वी पर जीवन बिताया। उसके बाद पूरी मानव जाति के उद्धार के लिए वे काल्वरी क्रूस पर मारे गए, गाडे गए और तीसरे दिन जी उठे। उनके इस बलिदान पर विश्वास करनेवालों को मुक्ति और अनंत जीवन मिल सकते हैं। यही खुश खबरी सुनाने के लिए ईसाई मिशनरियाँ भारत आए थे। ईसा मसीह ने अपने शिष्यों को आदेश दिया था कि वे 'लोक के आलोक' और 'पृथ्वी के नमक' बनकर रहे। इसलिए वे समाज सेवा में भी विशेष दिलचस्पी रखते थे।

ईसाई मिशनरियों ने भारत आकर शिक्षा के विकास के लिए, विशेषकर स्त्री शिक्षा के विकास के लिए बहुत बड़ा काम किया। उनके लिए शिक्षा एक व्यावसायिक उद्यम नहीं था बल्कि एक मिशनरी प्रतिबद्धता थी क्योंकि वे विश्वास करते थे कि सृष्टिकर्ता एक तर्कसंगत व्यक्ति है और मानव, दोनों स्त्री और पुरुष, उनकी छवि में बनाये गये हैं। इसलिए तर्कसंगत बनने के लिए मनुष्य के लिए शिक्षित होना बहुत ज़रूरी है। इस प्रकार भारत में हज़ारों शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना चर्चों और ईसाई मिशनरियों के द्वारा हुआ है। इससे भारत के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन संपन्न हुआ है। सेराम्पुर विश्वविद्यालय के डॉ. विलियम कैरी ने अनुवाद और शिक्षा के क्षेत्र में सराहनीय काम किया है। बाइबिल को विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने के उनके आग्रह से अनेक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ।

भारत में दो अंतर्राष्ट्रीय तौर पर स्वीकृत अस्पताल बाइबिल मिशनरियों के द्वारा स्थापित हुए। पहला 'क्रिस्टियन मेडिकल कॉलेज', लुधियाना, डॉ. एडिथ ब्राउन के द्वारा 1893ई. में स्थापित हुआ। दूसरा, 'क्रिस्टियन मेडिकल कॉलेज', वेल्लूर, डॉ. ऐड़ा स्कड्डर द्वारा 1895ई. में स्थापित हुआ।

भारतीय समाज में हाशियेकृत वर्ग के लोगों को हैसियत और प्रतिष्ठा दिलाने के उद्देश्य से ईसाई मिशनरियों ने उनके लिए क्रिस्टियन संस्थाओं में शिक्षा का अवसर दिलाया। दलित विमोचन, आदिवासी परिरक्षा और स्त्री शाक्तीकरण ईसाई शिक्षा का एक प्रमुख लक्ष्य बन गया था।

नवजागरण और शिक्षा के विकास से भारतीयों के मन में राष्ट्रीयता की भावना जागृत हुई। यही भावना आगे चलकर स्वाधीनता आंदोलन के लिए प्रेरणादायक बना।

स्वाधीनता आंदोलन

स्वाधीनता आंदोलन की मुख्य चेतना बनती है, नवजागरण की सुधारवादी सोच और सुधारवादी प्रकृति 1857ई. के गदर आंदोलन के बाद औपनिवेशिक शासकों ने समझा कि भारत के शिक्षित समाज को अपने साथ लिए बिना वे भारत पर शासन नहीं कर पायेंगे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यही शिक्षित वर्ग नवजागरण का नेतृत्व कर रहा था। शिक्षित भारतीय समाज को खुश करके तथा प्रशासन और उनके बीच संवाद कायम करने के इरादे से कुछ अंग्रेज़ अफ़सरों के नेतृत्व में सन् 1885ई. में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की गई। यह संस्था

आगे चलकर एक ऐसा मंच बनी, जिसके तहत ब्रिटेन की सत्ता के खिलाफ भारत का स्वाधीनता आंदोलन शुरू हुआ।

"रजनी पामदत्त ने कांग्रेस के नेतृत्व में शुरू हुए स्वाधीनता आंदोलन को दुहरे चरित्रवाला आन्दोलन कहा है, अर्थात् एक ओर जनता को सन्तुष्ट करने के लिए उनके हित से जुडे मुद्दे उठाना, और दूसरी ओर साम्राज्यवादी शासकों के प्रति भी भक्ति-भाव प्रदर्शित करते रहना।"[1]

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के तीन प्रमुख प्रवाह रहे थे नरम दल अथवा उदारमतवादी प्रवाह, गरम दल अथवा क्रांतिकारियों का प्रवाह और जनवादी आंदोलन अथवा महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक आंदोलन का प्रवाह। नरम दल के प्रमुख नेता थे - दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता आदि। इन्होंने यह मांग की थी कि अंग्रेज़ों के अधीन रहकर इस देश के भीतर का प्रशासन भारतीयों के हाथों में दिया जाए। गरम दल के प्रमुख नेता बाल गंगाधर तिलक,लाला लाजपतराय तथा विपिनचंद्र पाल थे। इन्होंने नरम दल के भिक्षावृत्ति का विरोध किया। अंग्रेज़ों के सामने गिड़गिड़ाकर कुछ माँगना इन्हें मान्य नहीं लगा। यह दल स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के लिए आंदोलन किए। तिलक उग्र राष्ट्रवाद के समर्थक और गोखले नरम राष्ट्रीयता के समर्थक थे। महात्मा गाँधी ने इन दोनों से प्रभावित होकर लिखा - "तिलक उन्हें हिमालय की तरह उच्च और अगम्य दिखाई पड़े, किन्तु गोखले गंगा की पवित्र धारा

---

1. साहित्य इतिहास और संस्कृति, शिवकुमार मिश्र, पृ. 28

के सदृश्य प्रतीत हुए जिसमें वे सफलतापूर्वक डुबकी लगा सकते थे।"[1] गोखले का आदर्श प्रेम और सेवा था जबकि तिलक का आदर्श सेवा और कष्ट सहना था। 1920ई. में तिलक की मृत्यु के बाद महात्मा गाँधीजी ने राजनीति में प्रवेश किया गाँधीजी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन एक क्रांतिकारी कदम था। गाँधीजी यह कभी नहीं चाहते थे कि आंदोलन अनुशासनहीन और हिंसात्मक बने। वे अहिंसा की शक्ति के द्वारा विजय पाना चाहते थे। इस तेजस्वी आंदोलन के संबंध में जवाहरलाल नेहरु ने लिखा - "इस आंदोलन के बाद अत्याचार और निराशा की पुरानी भावनाएँ पूर्णतया लुप्त हो गई। लोगों में एक आत्मविश्वास पैदा हो गया।"[2]

नवजागरण की कोख से जन्में इस स्वाधीनता आंदोलन में नवजागरण के अन्तर्विरोध प्रतिबिम्बित होते हैं। अंग्रेज़ी शासकों की कुख्यात 'फूट डालो और राज करो' की नीति से भी उसका संबंध है। पूरे भारत में मुसलमानों की तुलना में शिक्षा, व्यापार तथा सभी क्षेत्रों में हिन्दू आगे रहे थे। अंग्रेज़ों ने मुसलमानों के इस पिछड़ेपन और उससे उपजे संत्रास को पहचाना और उनके अभ्युत्थान के लिए प्रयत्न करने के बजाय, मुसलमान जनता के पृथक निर्वाचन की माँग का समर्थन किया। मुसलमानों की इस माँग के पीछे सर सैयद अहमद खाँ के विचारों का संबंध था। उन्होंने पहले हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने के लिए बेहद प्रयास किया। लेकिन बाद में वे न केवल कट्टर सांप्रदायिक बने, उससे भी अधिक अंग्रेज़ परास्त भी बने। इसके मूल में नवजागरण के अंतर्विरोध से उपजा वह हिन्दूवाद था, जो

---

1. 20वीं सदी का नवजागरण और हिन्दी साहित्य, डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, पृ. 144
2. वही, पृ. 148

आगे चलकर स्वाधीनता आंदोलन में संक्रमित हुआ। अंग्रेज़ों ने मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन की व्यवस्था की। साथ ही प्रशासन के हर स्तर पर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेद डालने की कोशिश की।

भारत में 1906ई. में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, जो अंग्रेज़ों की प्रेरणा और प्रयास का फल था। ब्रिटिश शासकों ने सोचा कि मुसलमानों को एक अलग राजनीतिक संगठन मिल जाने से वे राष्ट्रीय आंदोलन में भाग नहीं लेंगे। लेकिन मुसलमानों ने भी कांग्रेस की तरह 'साम्राज्यवाद के भीतर स्वराज्य' का लक्ष्य अपनाया। 1916ई. तक मुस्लिम लीग और कांग्रेस ने आपसी सहयोग से भारत की स्वाधीनता के लिए प्रयास किया।

खिलाफत आंदोलन में हिन्दू-मुस्लिम भाईचारे के साथ साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में सहयोग किया। 'स्वराज्य' शब्द की व्याख्या पूर्ण स्वतंत्रता के रूप में की जाए, यह सुझाव सबसे पहले खिलाफत कमिटी ने सामने रखा। किन्तु कांग्रेस और मुस्लिम लीग की एकता ज़्यादा दिनों तक नहीं टिक सकी। गाँधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन बंद कर दिए जाने पर खिलाफत कमिटी नेताओं ने असंतोष प्रकट किया और इसके फलस्वरूप कांग्रेस और मुस्लिम लीग एक दूसरे के वैर बन गए। सन् 1925 में मुस्लिम लीग के विरोध में अखिल भारतीय तौर पर हिन्दू महा सभा का गठन किया गया जिसके अध्यक्ष लाला लाजपतराय चुने गए। बाद का इतिहास कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच संघर्ष का इतिहास था जिसके औपनिवेशिक शासकों ने खूब फायदा उठाया। अंग्रेज़ शासकों ने हिन्दू-

मुस्लिम एकता मे फूट डाला। हिन्दू-मुस्लिम अलगाव के परिणामस्वरूप मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग की और देश का विभाजन हुआ। 1947ई. में भारत तो स्वतंत्र हुआ परंतु विभाजित होकर।

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

उपनिवेशकाल के हिन्दी साहित्य में नवचेतना विविध आयामों में मुखरित हुई। मुक्ति चेतना, राष्ट्रीयता, देश प्रेम, प्रकृति प्रेम, सुधारवादी चेतना, परिवर्तनप्रियता, नैतिकता आदि विविध विषयों पर उस काल में साहित्य रचना हुई है। समय और समाज सापेक्ष नवजागृति के नाना रूप तत्कालीन साहित्य में दृष्टिगोचर होता है।

1. मुक्ति चेतना

भारत में मुक्ति चेतना की भावना विदेशी शासन के दमन के साथ विशेष रूप से प्रज्वलित हुई। अंग्रेज़ों का शासन भारतीय स्वतंत्रता को, संपत्ति को तथा भारतीय गौरव की भावना को विनष्ट करने में प्रयत्नशील था। इनकी रक्षा के लिए राष्ट्रीय नेताओं जैसे महात्मा गाँधी, तिलक, गोखले आदि ने भारतीय जनता को समस्त विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करके स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया, जिससे भारतीय संपत्ति भारत में ही रहें। भारत की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता बहुत ज़रूरी थी। इसलिए भारतेन्दु और द्विवेदी युग के साहित्यकारों ने ऐसी रचनाएँ लिखीं जिनमें साम्प्रदायिक एकता की भावना को प्रोत्साहन दिया गया।

2. राष्ट्रीयता

राष्ट्रीय चेतना इस काल की प्रमुख भावना रही है। राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप राजभक्ति, देशभक्ति, भारत के अतीत गौरव का गान, भारत की शोचनीय अवस्था पर विलाप, जागृति का संदेश आदि साहित्य में देखने को मिलता है। इसके अलावा हिन्दू-मुस्लिम एकता, गाँधीजी का अहिंसा सिद्धान्त, आत्म-बलिदान का महत्व, अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य संस्कृति के प्रति असंतोष तथा अपनी संस्कृति के प्रति गर्व का भाव तत्कालीन साहित्य में प्रतिफलित हुआ है।

"It is colonialism that creates the patriotism of the colonized. Like animals when they are not given any rights, their condition worsens and when they are left with only one option, choosing how to die, their misery will become their courage, they will turn the eternal rejection that colonization confronts them with, into an absolute rejection of colonization"[1]

3. सुधारवादी चेतना

अंग्रेज़ी शिक्षा पाने के फलस्वरूप भारत के शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग के मन में सुधारवादी चेतना पैदा हुई। अपनी नई शिक्षा पद्धति से वे विश्वभर की गतिविधियों

---

1. Albert Memmi's The colonizer and the colonized, Les Temps Modernes, Nos. 137-138 July-Aug. 1957

से परिचित होने लगे। उन्होंने महसूस किया कि भारत रूढ़ियों, अंधविश्वासों और अनाचारों में जकड़ा हुआ है। देश को इस अज्ञान रूपी अंधकार से मुक्त करके ज्ञान रूपी प्रकाश की ओर ले जाने की ज़रूरत हैं। इस उद्देश्य से राजाराम मोहनराय से शुरू होकर अनेक समाज सुधारकों जैसे दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, ज्योतिबा फुले आदि और स्त्रियाँ जैसे पंड़िता रमाबाई, ताराबाई शिन्दे, सावित्री बाई फुले, शारदा देवी आदि ने अपनी रचनाओं के द्वारा और सुधारवादी प्रवृत्तियों के द्वारा समाज में प्रचलित कुरीतियों को दूर करने के कार्य किए।

4. नैतिकता बोध

नवजागरणकालीन सुधारवादी आंदोलनों के उन्नायकों तथा ईसाई मिशनरियों ने भारतीय समाज एवं धर्म में प्रचलित अनैतिक रीति-रिवाज़ों एवं अंध-विश्वासों का विरोध करने से लोगों की नैतिकता संबंधी अवधारणा में न्यायोचित परिवर्तन आया। अंग्रेज़ी शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीय जनता तर्कसंगत विश्वासों को ही अपनाने के लिए तैयार हुई। स्त्री शिक्षा के समर्थन से नारी अपनी अस्मिता को पहचानने लगी और उसका नैतिकता बोध तदनुसार बदलने लगा। वह सती प्रथा को अमानवीय, विधवा विवाह को मान्य और स्त्री-पुरुष समानता को प्रश्रय देने लगी। तत्कालीन साहित्य में भी विशेषकर प्रेमचंद कालीन साहित्य में इसका विवेचन हम देख सकते हैं।

5. गद्य साहित्य और खडीबोली का विकास

अंग्रेज़ी शिक्षा तथा प्रेस के विकास से मुद्रण की सुविधा हुई और गद्य के माध्यम से मानव हृदय की भावनाओं को संप्रेषित करने का अवसर साहित्यकारों को मिला। गद्य के लिए खडीबोली ही उपयुक्त भाषा थी। धीरे-धीरे नवयुग की चेतना की अभिव्यक्ति के लिए काव्य में भी इसका व्यवहार होने लगा।

6. प्रकृति का मधुर चित्रण

भारतेन्दु युग में प्रकृति स्वतंत्र आलंबन के रूप में प्रतिष्ठित हुई। देश प्रेम के वर्णन में भी प्रकृति चित्रण मिलता है। साथ ही प्राकृतिक सौंदर्य की स्वतंत्र रचनायें भी प्राप्त होते हैं जिनमें रहस्यवादी पुट भी मिलता है।

7. कृषक जीवन

प्रेमचंदकालीन साहित्य में कृषक जीवन की दुर्दशा का हृदयभेदक वर्णन मिलता है। साम्राज्यवाद के विरोध में कृषक वर्ग में चेतना पैदा करने के उद्देश्य से इन्हें देशभक्ति के आदर्शों से जोड़कर स्वतंत्रता आंदोलन की मुख्य धारा में सम्मिलित करने का प्रयास किया गया। इसके लिए तत्कालीन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में किसानों की विवशताओं और उनके शोषक ज़मींदारों, महाजनों तथा उनको सहारा देनेवाली सरकारी मशीनरी को उसके सच्चे, नंगे और घिनौने रूप में पेश किया है।

8. सामंतीय व्यवस्था का विरोध

औपनिवेशिक भारतीय समाज में सत्ता भूस्वामी वर्ग के हाथ में थी। पुरोहित और राजा इसके पीछे खड़े थे। राजस्व का प्रधान माध्यम कृषि कर ही था। कृषकों से अन्यायपूर्वक कर बसूल करने के कारण, इनकी स्थिति दयनीय हो गई। सामंतीय समाज पितृसत्तात्मक होने के कारण स्त्री की स्थिति भी शोचनीय थी। उसे शिक्षा पाने या नौकरी करने की कोई स्वतंत्रता नहीं दी जाती थी। इसलिए उपनिवेशकालीन साहित्यकारों ने सामंतीय व्यवस्था के विरुद्ध रचनाएँ है, जिससे तत्कालीन जनता के मन में जागृति पैदा हो सके।

9. औद्योगीकरण का विरोध

औपनिवेशिक भारत में मशीनीकरण, औद्योगीकरण, बड़ी-बड़ी योजनाओं का निर्माण चाहे जितना हुआ हो, उससे गाँवों में रहनेवाली भारत की अधिसंख्य निर्धन जनता का भला नहीं हुआ। जो कुछ हुआ उससे केवल पूँजीवादी हितों के साधन में सहायता मिली। प्रेमचंदकालीन और उसके बाद के उपन्यासों में औद्योगीकरण का सशक्त विरोध दिखाई पड़ता है।

10. छुआछूत का विरोध

जातिव्यवस्था के आधार पर समाज में विकसित एक कुप्रथा है, छुआछूत। नवजागरणकाल में समाज-सुधारकों ने इसका घोर विरोध किया। नवजागरणकालीन साहित्य में भी छुआछूत का विरोध किया गया है, लेकिन दुख की बात है कि आज भी इसका पूर्ण निवारण नहीं हो पाया है।

11. मज़दूर जीवन

प्रेमचंद की दृष्टि में मज़दूर भूमि से बेदखल किया हुआ किसान ही था जो सामंतीय और महाजनी शोषण के कारण मज़दूरी करने को विवश हो गया था। मिलों और कारखानों में काम करनेवाले श्रमिकों की दशा गुलामों से बेहतर नहीं थी। इनका जीवन घोर आर्थिक विपन्नता का था। आजीवन रोज़ी-रोटी की समस्या में उलझा मज़दूर वर्ग जीवन की उस दुरावस्था में था, जिसमें जीवन भी एक अभिशाप लगता है। प्रेमचंदकालीन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में मज़दूरों की विषम परिस्थितियों और समस्याओं का सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से वर्णन किया हैं।

12. स्त्री सशक्तिकरण

सदियों से भारतीय समाज में स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक दोनों स्थितियों बहुत पिछड़ी हुई हैं। समाज की आधी आबादी स्त्री होते हुए भी उसे दोयम दर्जे ही हासिल हुई है। पितृसत्तात्मक समाज में दबाई और सताई गई स्त्रियों को ऊपर उठाने के लिए नवजागरणकालीन उपन्यासकारों और समाज सुधारकों ने भरसक कोशिश की हैं। स्त्री की सशक्तिकरण के बिना समाज की उन्नति नहीं हो सकती। इसलिए स्त्री सशक्तिकरण अपने आप में एक सामाजिक उत्थान का ही काम है जिससे सारे समाज की स्त्रियों को एक साथ लाभ मिलें।

नवउपनिवेश

अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप

'नवउपनिवेश' अंग्रेजी शब्द 'Neo-colonialism' का पर्यायवाची है। यह शब्द इस तथ्य का द्योतक है कि इसमें एक नई तरह का उपनिवेश विद्यमान है। Webster's Encyclopaedia के अनुसार "New-colonialism is the policy of a strong nation in seeking political and economic hegemony over an independent nation or extended geographical area without necessarily reducing the subordinate nation or area to the legal status of a colony"[1]

एक शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा एक विकासशील स्वतंत्र राष्ट्र पर गूढतंत्र द्वारा राजनैतिक और आर्थिक आधिपत्य स्थापित करने की नीति को नव-उपनिवेश कहा जाता है। उपनिवेश में प्रत्यक्ष रूप से शासन और शोषण चलते हैं तो नवउपनिवेश में अप्रत्यक्ष रूप से शासन और शोषण कायम रहते हैं।

"A country may be both post colonial (in the sense of being formally independent) and neo colonial (in the sense of remaining economically and/or culturally dependent) at the same time"[2]

---

1. Webster's Encyclopaedia, published by Merriam Webster, 2000
2. Colonialism/Post colonialism, Ania Loomba, P. 7

"The term Neo-colonialism was coined by Kwame Nkrymah, the first president of Ghana in his New-colonialism : The last stage of imperialism (1965)"[1]

उपनिवेश में पूरे विश्व पर यूरोपीय देशों ने आधिपत्य जमा लिया था तो नवउपनिवेश में यूरोपीय देशों का स्थान अमेरिका ने ले लिया है और सोवियत संघ के पतन ने अमेरिका के काम को आसान बना दिया।

द्वितीय विश्वमहायुद्ध के बाद तो यूरोपीय देशों के आधिपत्य कमज़ोर पड़ने लगे। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अनेक उपनिवेशित राष्ट्र स्वतंत्र हो गए। इससे यूरोपीय देशों को अपने माल निवेशित करने और बेचने के लिए बाज़ार की कमी पड़ गई। परिणामस्वरूप यूरोपीय देशों में भीषण आर्थिक मंदी लग गई। इस आर्थिक मंदी को दूर करने के उद्देस्य से ब्रिटेन और अमेरिका के नेतृत्व में 1944ई. में अमेरिका के न्यू हैम्पशायर की पहाडी सैरगाह ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) में तीन संस्थाएँ अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund), विश्व बैंक (World Bank) और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organization) रूपायित हुए। ITO लक्ष्य प्राप्ति तक नहीं पहुँच सका और उसके बदले में 1948ई. में गैट (General Agreement on Tariff and Trade) अस्तित्व में आया। बाद में 1995ई. में विश्व व्यापार संगठन

---

1. The Wiley - Blackwell Encyclopaedia of Globalisation, Edited by George Ritzer, vol. 1, 2012 publication, P. 244

(World Trade Organization) रूपायित हुआ जिसका मुख्यालय जनीवा में है। ये संस्थाएँ आज भी तीसरी दुनिया के प्रगतिशील देशों का शोषण कर रही हैं। साधारण जनता अपनी अनभिज्ञता से इनकी शिकार हो रही है।

उपनिवेशकाल में यूरोपीय राष्ट्रों ने अपनी शक्ति से भारत पर आधिपत्य जमा लिया था तो नवउपनिवेशकाल में अमेरिका जैसे राष्ट्र अपनी बुद्धि से भारत पर आधिपत्य स्थापित कर रहे हैं। भूमंडलीकरण, बाज़ारीकरण, उदारीकरण जैसे नवऔपनिवेशिक तत्वों के द्वारा वे पूरे संसार को एक बाज़ार बनाने का कार्य कर रहे हैं ताकि उनका आर्थिक बहाव सुगमता से चले।

नवउपनिवेशकालीन परिवेश

दो हज़ार वर्षों की लम्बी दासता के उपरान्त भारत सन् 1947 में स्वतंत्र हुआ। सामान्य जनता के मन में शांति और खुशी के मधुर सपने खिलने लगे। लेकिन सत्य कुछ और था। अंग्रेज़ों की कूट-नीति से हिन्दू-मुस्लिम के बीच सांप्रदायिक दंगे शुरू हुए। वे एक दूसरे के खून के प्यासी हो गए। देश की शासन व्यवस्था बदल गई लेकिन शोषण की प्रक्रिया में कोई अंतर नहीं हुआ। अंग्रेज़ी शासकों का स्थान राजनीतिक नेताओं, सामंतों और उद्योगपतियों ने ले लिया। पंचवर्षीय योजनाएँ, औद्योगीकरण आदि का काम सरकारी स्तर पर पूरी गति से चला। परिणामस्वरूप समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन भी हुआ, लेकिन इससे पूँजीवादी व्यवस्था समाप्त न हो सकी। एक ओर अमीरी बढ़ी तो दूसरी ओर गरीबी भी बढ़ी और इन दोनों के बीच मध्य वर्ग अर्थ की चक्की में पिस रहा था। स्वतंत्रता

प्राप्ति के तीन दशकों के बाद भी जनता समाज में असंतोष के कारण विद्रोह करने लगी। द्रुत गति से हुए सामाजिक परिवर्तनों ने रूढ़ियों और परंपराओं को विश्रृंखलित कर दिया। विश्रृंखलन की इस स्थिति ने अर्थ व्यवस्था, व्यक्ति, समाज, परिवार, धर्म, नैतिकता, शिक्षा व्यवस्था सभी को प्रभावित किया।

समाज में हाशियेकृत वर्गों की उन्नति के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाए गए। अछूत, दलित, आदिवासी, पिछडे वर्ग, नारी वर्ग आदि को भारतीय संविधान द्वारा विशेष अधिकार तथा सुविधाएँ प्रदान की गईं। पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी नौकरियाँ, उच्च शिक्षा आदि प्राप्त किए गए।

पाश्चात्य संस्कृति और चिन्तन के प्रभाव से नई विचारधाराएँ पनपी जिसने भारतीय जन जीवन और साहित्य को प्रभावित किया। इनमें मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद और सार्त्र, हेगेल, कीर्केगार्द द्वारा प्रतिपादित अस्तित्ववादी जीवन दर्शन प्रमुख हैं।

अधुनातन चिन्तन और वैज्ञानिक जीवन दृष्टि ने मानवीय संबंधों में दरारे उत्पन्न कर दी हैं। संबंधों में मानवीय भावना से ज़्यादा अर्थ को महत्व दिया जा रहा है। नवीनता के आकर्षण में रूढ़ियों और परंपरागत मूल्यों का विघटन हो रहा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद अनेक उपनिवेशित राष्ट्र स्वतंत्र हो गए। इसी समय पश्चिमी देश आर्थिक मंदी से ग्रसित हो रहे थे। इससे बचने के लिए उन्होंने भूमंडलीकरण का षड्यंत्र रचा। 1991ई. में भारत भी इनके जाल में फँस गया। 15 अप्रैल, 1994ई. को भारतीय वित्तमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने गैट समझौते में

हस्ताक्षर कर दिया। इससे भारत को इनकी गुलामी स्वीकार करनी पड़ी। आई.एम.एफ, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन आदि हमारी राष्ट्रीयता को बर्बाद करनेवाली संस्थाएँ निकलीं। हमारे स्वदेशी उद्योगों का नाश हो गया। किसान बर्बाद होकर आत्महत्या करने लगे। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ हमारे देश की प्रकृतिजन्य वस्तुओं को 'लीस' में लेते या उनके 'पेटेंट' हमसे छीन लेती हैं।

भूमंडलीकरण के इस दौर में भारतीय जनता पाश्चात्य संस्कृति और वस्तुओं के प्रति आकर्षित हो रही हैं। इन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नीतियों का मकसद पश्चिमी चीज़ों को हमारे जैसे अविकसित या विकासशील देशों में बिकने के लिए बाज़ार उपलब्ध कराना है। भारतीय जनता इसे आधुनिकता का नाम देकर हमारी पैतृक परंपरा, संस्कृति और सभ्यता को टुकराते हुए इनके मनमोहक वादों के जंजाल में फँस रही है।

आधुनिकता

आधुनिकता अंग्रेज़ी शब्द 'modernity' का हिन्दी रूपान्तरण है। आधुनिकता का स्वरूप शाश्वत रूप से परिवर्तनशील है। वास्तव में आधुनिकता किसी भी तरह की परिणति नहीं है। आधुनिकता किसी भी सामयिक तथ्य का नाम भी नहीं है। वस्तुतः आधुनिकता एक तरह की रचनात्मक स्थिति है जिसका अपना दर्शन है, अपनी निजी वैचारिकता है। आधुनिकता को किसी सामाजिक या व्यक्तिगत दर्शन से जोड़कर विश्लेषित नहीं किया जा सकता। समकालीन चेतना और जागृति को

ध्यान में रखकर स्वतंत्र रूप से सर्वव्यापक दृष्टि से आधुनिकता के संबंध में विचार किया जाना चाहिए।

आधुनिकता को परिभाषित करते हुए डेनियल लर्नर (Daniel Lerner) ने लिखा है - "आधुनिकता मुख्यतः मन की एक अवस्था, प्रगति की आकांक्षा, विकास की ओर झुकाव और स्वयं में परिवर्तन ग्रहण करने की शीघ्रता है।"[1]

सर्वप्रथम पश्चिम में आधुनिकता का विस्फोट हुआ। वास्तव में पश्चिमी धारणा के अनुसार अस्तित्ववादी दर्शन ही आधुनिकता की बुनियाद है। इस धारणा के अंतर्गत व्यक्तिमन का विश्लेषण मुख्य रहता है और सामाजिक संदर्भ व्यक्तिमन के अध्ययन से ही प्रकट होता है, जिनमें मानव व्यक्तित्व की स्वतंत्रता का प्रश्न सर्वोपरि रहता है। आधुनिक मानव ने एक ओर धर्म, ईश्वर को चिन्तन के क्षेत्र से निकालकर बाहर किया है तो दूसरी ओर उसके समक्ष मानव को केन्द्र में रखने पर नई समस्याएँ सामने आईं। नैतिकता, स्वतंत्रता, अस्तित्व की सार्थकता आदि के प्रश्न उतने ही गहरे और गंभीर रूप में उठ खडे हुए जिनके उत्तरों की खोज में वह लगा है। इस संदर्भ में यह कहना समीचीन होगा कि आधुनिकता एक बुद्धिवादी मनोवृत्ति है, साथ-साथ एक अन्वेषण भी है, क्योंकि हर युग में नई-नई समस्याओं का जन्म होता रहा है और उसके समाधान के लिए नए रास्तों का अन्वेषण होता रहा है। आधुनिक मनुष्य प्राचीन परंपराओं, सामाजिक रूढ़ियों और सांस्कृतिक संबंधों को छोड़कर उसे नवीन कर देता है, वह अपने समय से संघर्ष करता है,

---

1. सम्मेलन पत्रिका, भाग 14, संख्या 3, 2009ई, पृ. 38

उससे जूझता है, और अपने लिए सार्थक की रचना करता है। अतः आधुनिकता एक निरंतर चलनेवाली प्रक्रिया है, यह प्रक्रिया नैतिकता में उदारता बरतने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बुद्धिवादी बनने की प्रक्रिया है, यह प्रक्रिया धर्म के सही रूप पर पहुँचने की प्रक्रिया है।

औद्योगीकरण

स्वतंत्र भारत में औद्योगीकरण से देश की स्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन हुए। हमारा देश बुनियादी रूप से खेती प्रधान देश है। खेती का औद्योगीकरण, नए-नए मशीनों के आविष्कार आदि से शिक्षित और अशिक्षित श्रमिकों की माँग बड़ी मात्रा में बढ़ने लगी। खेती के क्षेत्र से असंख्य लोग कल-कारखानों में नौकरी मिलने की आशा से शहरों में आ जाने से शहरों की सीमाएँ बढ़ने लगीं तथा नए-नए शहरों की स्थापना होने लगी। औद्योगिक सभ्यता की आर्थिक प्रगति तथा सुख सुविधा के साधनों का बहुत विकास होने से और मज़दूर संगठनों के कार्यक्रमों से मिल कारखानों के श्रमिकों तथा खेत मज़दूरों की औसत स्थिति में काफी सुधार आया है।

औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप और आर्थिक स्थिति बेहतर शक्तिशाली होने के कारण एक नया पूँजीवादी उद्योगपति वर्ग उभर आया जिसमें मिल मालिक, बडे-बडे व्यापारी और स्वतंत्र व्यवसाई होते थे।

औद्योगिक विकास और पाश्चात्य भाषा और संस्कृति के प्रभाव से निम्न और उच्च वर्ग के अलावा एक तीसरे वर्ग का जन्म हुआ, मध्यम वर्ग। इस वर्ग के अंतर्गत समस्त वेतन भोगी कर्मचारी तथा बुद्धिजीवी लोग आते हैं।

औद्योगीकरण ने पूँजीवादी व्यवस्था को बढ़ावा दिया तथा उसकी शोषण प्रवृत्ति को बल दिया था। इसके परिणामस्वरूप समाज में कई विसंगतियाँ उत्पन्न हुई थी। लोग निराशा, अतृप्त आकांक्षाओं एवं आर्थिक समस्याओं से जूझते रहते थे। पारिवारिक संबंध, धार्मिक आस्थाएँ, नैतिक मूल्य, सांस्कृतिक धारणाएँ शिथिल पड़ने लगे। नागरिक जीवन के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाली कुंठा, निराशा, पलायन, व्यस्तता, भय एवं संत्रास से लोग पीड़ित होने लगे।

"पूँजीवाद के कारण मानव के बीच स्वार्थ का संबंध ही शेष बचा है और सहज मानवीय सम्बन्ध का लोप हो गए हैं। यांत्रिक जीवन की तीव्र गति व्यक्ति को और अकेला कर जाती है। तकनीकी विकास के फलस्वरूप औद्योगीकरण ने उसके जीवन की अविराम गति में और तेज़ी ला दी है। अकेलापन आने का प्रमुख कारण औद्योगीकरण और उससे पनपा हुआ शहरीकरण है।"[1]

विज्ञान की प्रगति और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से समाज के बुद्धिजीवी वर्ग अंधविश्वासों और रूढ़ियों का खंडन एवं धार्मिक विद्रोह करने लगे। औद्योगीकरण से उत्पन्न विविध विषमताएँ तथा शोषण के कारण इस विद्रोह को बल मिला था। परंपरा से विद्रोह करने के साथ-साथ उन्होंने अपने नवीन तर्क एवं विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से धर्म, ईश्वर इत्यादि की नवीन व्याख्या भी की थी।

---

1. आधुनिकता बोध : प्रमुख प्रवृत्तियों के आलोक में एकता जैन, चैत्र संवत् 2070, पृ. 103

पश्चिमीकरण

किसी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या परोक्ष संपर्क के कारण किसी गैर पश्चिमी देश में होनेवाले परिवर्तनों के लिए पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग किया जाता है। "पश्चिमीकरण एक अंतर्भूताकारी संश्लिष्ट और बहुस्तरीय अवधारणा है। उसमें एक छोर पर पश्चिमी औद्योगिकी से लेकर दूसरे छोर पर आधुनिक विज्ञान और आधुनिक इतिहास लेखन तक विस्तृत क्षेत्र सम्मिलित है।"[1] अंग्रेज़ी शासन के फलस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में होनेवाले परिवर्तनों के लिए पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग किया जाता है और यह शब्द औद्योगिकी, विचारधारा, नैतिकता और जीवन के विभिन्न स्तरों पर होनेवाले परिवर्तनों को आत्मसात करता है।

उपनिवेश काल में पश्चिम से मतलब इंग्लैंड और दूसरे यूरोपीय राष्ट्र थे, तो नवउपनिवेशकाल में पश्चिम से मतलब है अमेरिका। अंग्रेज़ी शिक्षा और औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप भारतीय जनता के मन में पश्चिमीकरण की ओर एक मोह और लालसा जागृत हुई थी। स्वतंत्र बाज़ार ने विज्ञापन के द्वारा भारतीय जनता के मानस में पश्चिमी वस्तुओं के प्रति मोह की सृष्टि की है। हर कही विशिष्ट वर्ग पश्चिमी सुख-साधन का सामान आयात कर रहा है। फ्रैडरिक जैमेसन ने कहा था - "दुनिया के हर कोने में अमेरिकी सोप ऑपरा से लेकर मैक्डोनॉल्ड की छायाएं हैं। दुनिया की हर संस्कृति अपने बचाव में भूमंडलीकरण पर सवाल उठाती है, इसे चुनौती देती है, मगर अन्ततः भूमंडलीकरण से प्रभावित होती है।

---

1. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, एम.एन. श्रीनिवास, पृ. 66

पश्चिम सारी दुनिया को प्रभावित करना चाहता है। शायद इसीलिए भूमंडलीकरण को पश्चिमी संस्कृति के दिग्विजय का माध्यम माना जाता है।"[1] संचार माध्यमों के प्रभाव से पश्चिमी और गैर पश्चिमी लोगों के बीच बिना किसी बाधा के विचारों का आदान-प्रदान हो रहा है। भूमंडलीय स्टेज पर पश्चिमी सत्ता और नियंत्रण है। गैर पश्चिमी कार्यक्रम वहाँ बहुत विरले ही देखने को मिलते हैं। अतः भूमंडलीकरण के नाम पर वास्तव में यह नव पश्चिमीकरण ही है जिसके रंग से हर देश को रंगा जा रहा है।

भूमंडलीकरण

बीसवीं शताब्दी के इतिहास में एक प्रमुख घटना है, भूमंडलीकरण। इसके माध्यम से यही प्रचार-प्रसार हो रहा है कि पूरा विश्व एक गाँव (global village) में तब्दील हो चुका है और राष्ट्रों की सीमा का कोई महत्व नहीं है। बिल गेट्स से लेकर अजीम प्रेमजी तक बहुराष्ट्रीय कंपनियों की बड़ी-बड़ी हस्तियाँ भूमंडलीकरण का परिणाम है।

अमेरिका और ब्रिटेन के नेतृत्व में अमेरिका के न्यू हैम्पशायर की पहाडी सैरगाह ब्रेटन वुड्स में 1944ई. में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा विश्व बैंक (World Bank) और 1948ई. में गैट (General Agreement on Tariff and Trade) जैसे संस्थाओं की स्थापना की गई। इन संस्थाओं के माध्यम से एक ऐसी अर्थव्यवस्था का निर्माण किया गया जो मुक्त

---

1. बाज़ार के बीच बाज़ार के खिलाफ, प्रभा खेतान, पृ. 13

बाज़ार प्रणाली पर आधारित था। इनका लक्ष्य दुनिया भर के बाज़ारों का आपस में लेन-देन का नियंत्रण हटा देने और निजी निवेश की पूरी आज़ादी देनी थी। अस्सी के दशक में बहुर्राष्ट्रीय कंपनियों के नेतृत्व में उत्पादन का भूमंडलीकरण शुरू हुआ और तत्पश्चात उत्पादन इकाइयों (production units) को विकासशील देशों में स्थानांतरित कर दिया गया जहाँ सस्ता श्रम उपलब्ध था। नब्बे के दशक में राष्ट्रातीत पूँजी की गतिशीलता आरंभ हुई और बाज़ार की शक्तियाँ जोर पकड़ने लगी। 15 अप्रैल 1994 को नरसिंह राव सरकार के वित्त मंत्री, डॉ. मनमोहन सिंह ने गैट (GATT) समझौते में हस्ताक्षर करके भारत में भूमंडलीकरण का दरवाज़ा खोल दिया। "भूमंडलीकरण पाश्चात्य देशों और अब विशेषतः अमेरिका का तीसरी दुनिया के देशों में अपना प्रभुत्व जमाने का चतुर आर्थिक प्रबन्धन मात्र है।"[1] भूमंडलीकरण ने एक ओर व्यक्तियों और राज्यों को अनेक नूतन अवसर उपलब्ध कराए हैं तो दूसरी ओर इसने अनेक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याएं भी उत्पन्न की हैं। बहुसांस्कृतिकता से संपन्न भारत जैसे देश भूमंडलीकरण के प्रभाव से एकायामी होते जा रहे हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों को ज़्यादा मुनाफा कमाने के लिए और अपनी कार्य कुशलता से चलाने के लिए इसकी आवश्यकता है।

हम भूमंडलीकरण के ज़माने से गुज़र रहे हैं। हमारी राष्ट्रीयता को खतरे में डालने में भूमंडलीकरण का बड़ा हाथ है। भूमंडलीकरण ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का नारा लगाया था लेकिन वह आज हमें नवसाम्राज्यवाद की ओर ले जा रही है।

---

1. उत्तर आधुनिकता तथा भूमंडलीकरण : पाश्चात्य उद्भव एवं दर्शन, डॉ. सम्राट सुधा, आषाढ़-भाद्रपद : संवत 2066, पृ. 41

उदारीकरण, निजीकरण और बाज़ारीकरण से भूमंडलीकरण अविकसित और विकासशील तीसरी दुनिया के राष्ट्रों का विनाश कर रहा है।

उदारीकरण

"Liberalization refers to a relaxation of government regulations typically in social and economic policy"[1] आर्थिक मामलों में कम सरकारी रोक और निजी कंपनियों की भागीदारी को ज़्यादा महत्व देने की नीति उदारीकरण है। आज ऐ.एम.एफ, विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन, आर्थिक उदारीकरण के महत्वपूर्ण समर्थक है। ये ग्लोबल अर्थव्यवस्था के तीन सबसे शक्तिशाली अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएँ हैं। ये वास्तव में भूमंडलीकरण के एजेंट है जो यह समर्थन करता है कि उदारीकरण विकास का मार्ग है।

भारत में उदारीकरण की शुरुआत इंदिरा गाँधी सरकार के समय से यानी 1980ई. से मानी जाती है। इंदिरा गाँधी सरकार ने एक बार अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण ज़रूर लिया था लेकिन जब उन्हें महसूस हुआ कि इन नीतियों से देश का भला नहीं हो सकता तो उन्होंने मुद्रा कोष का ऋण चुका दिया। राजीव गाँधी सरकार को ऐसी कोई मज़बूरी नहीं थी, फिर भी 1991ई. में आम चुनाव के लिए उन्होंने जो घोषणा पत्र बनाया, उसमें आर्थिक कार्यक्रम इसी लाइन पर था। इसमें सबसे प्रमुख बात यह थी कि अर्थव्यवस्था को पूँजीवादी मूल्यों के आधार पर चलाया जाएगा यद्यपि बीच-बीच में जनहित की बातें भी की गई थी।

---

1. The Wiley - Blackwell Encyclopaedia of Globalization, George Ritzer, P. 1292

विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा प्रस्तावित उदारीकरण कार्यक्रम के मुख्य उपादान इस प्रकार है-

1) अर्थ व्यवस्था का खुलापन यानी देशी उद्योगों के मामले में सरकारी नियंत्रणों को समाप्त करना तथा विदेशी निवेश के लिए दरवाज़ा खोलता, (2) सार्वजनिक क्षेत्र को घटाना तथा निजी क्षेत्र का दायरा बढ़ना, (3) बाज़ार की शक्तियों को ज़्यादा मौका प्रदान करना, (4) सब्सिडी कम करना, ताकि राजकोष पर दबाव को कम किया जा सके तथा (5) मुद्रास्फीति की दर को नियंत्रित करना।[1]

भारत सरकार अनेक वर्षों से इसी उदारीकरण के कार्यक्रम को अमल करती रही है। इससे हम समझ सकते हैं कि उदारीकरण ही भारत के नए शासक वर्ग का राजनीतिक आर्थिक दर्शन है।

1991ई. में राजीव गाँधी की मृत्यु के बाद नरसिंह राव सरकार ने 'गैट' समझौते के द्वारा भारत में उदारीकरण की औपचारिक शुरुआत की। उदारीकरण से हम बहुराष्ट्रीय कंपनियों के गुलाम बन गए और हम अपनी संस्कृति भी खोने लगे। हमारे स्वत्व को बनाए रखनेवाले अनेक तत्व जैसे खेती, वनस्पति, औषधि, दर्शन, आध्यात्म, संस्कृति, कला आदि हमें नष्ट होने लगे। इसके अलावा विदेशी कम्पनियों ने हमारे बाज़ार पर भी कब्जा करने लगा, वे मुफ्त और किश्त की नीति

---

1. उदारीकरण की राजनीति, राजकिशोर, पृ. 41,42

से तथा छूट देकर साधारण लोगों को आकृष्ट करके उन्हें बेहद लूटने लगे। बचत की संस्कृति को छोड़कर लोग ऋण लेने की संस्कृति अपनाने लगे। पिग्गी बैंक (Piggy Bank) का स्थान ई.एम.ऐ (E.M.I) लेने लगे। जब बाज़ार सामने खुला है और ऋण देनेवाले बैंक भी कगार में है तो जनता आसानी से उपभोक्तावादी संस्कृति का गुलाम होना स्वाभाविक ही है।

उपभोक्तावाद और बाज़ारीकरण

आधुनिक व्यवस्था में सभी मनुष्य उपभोक्ता संस्कृति के शिकार हैं। उन्हें ज़िन्दगी को बेहतरीन बनानेवाली कई चीज़े चाहिए, जिन्हें खरीदना और इस्तेमाल करना ही उपभोग है। उपभोग का सुखभोग से गहरा संबंध है। मनुष्य की इच्छाएँ उन्हीं चीज़ों तक सीमित नहीं रहती जो उन्हें आवश्यक हैं। जीवन में सुख देनेवाली चीज़ों के लिए वह कहीं भी जाने के लिए तैयार है। भूमंडलीकरण बहुराष्ट्रीय कंपनियों के द्वारा बाज़ार के माध्यम से मनुष्य के सुखभोग की पूर्ति करने का वादा करता है। समकालीन समय में मानव बाज़ार के जाल में फँसकर उपभोक्ता में परिणत हो गया है। "बाज़ार सुविधाओं को अनिवार्यताओं में तब्दील करता है।"[1]

'मॉल' (mall) संप्रदाय उपभोक्ताओं को बाज़ार की ओर आकृष्ट करने का एक सम्मोहक तंत्र है। एक छत के नीचे सभी आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध होने से तथा अनगिनत 'वेरैटी' और 'ब्रांड' की मनपसन्द चीज़े मिलने के कारण,

---

1. उत्तर औपनिवेशिक परिदृश्य और समकालीन स्त्री कविता में अभिव्यक्त सांस्कृतिक संकट, सुरभी सुरेन्द्रन, मधुमति, अगस्त 2016, पृ. 135

उपभोक्ता इसकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है। इसके अलावा मुफ्त और छूट की नीति से ग्राहक को लुभाकर, बिक्री करने का तंत्र भी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ इस्तेमाल करती हैं। उपभोज्य वस्तुएँ कौन सी हैं, उसे उपभोक्ता नहीं बाज़ार ही तय करता है। इसके लिए वे विज्ञापन के कुतंत्र का भी प्रयोग करते हैं। खरीददारी करते समय हम अपनी इच्छा से भी ज़्यादा, विज्ञापन की सुन्दरी की इच्छा को महत्व देते हैं। भूमंडलीय बाज़ार अपनी 'मार्केटिंग' तकनीक से लोगों को लूट रहा है और सामान्य लोग अपने जेब के पैसे देकर अनावश्यक वस्तुओं को अपनी हैसियत दिखाने के लिए खरीद लेते हैं। अनुपयोगी वस्तुओं को दूसरों में बाँटने की प्रवृत्ति भी आजकल के समाज में नहीं है। ये घर के कोने में पड़े रहते हैं।

ब्रांड संस्कृति

भूमंडलीय बाज़ार में ब्रांड संस्कृति एक लोकप्रिय अवधारणा बन गई है। विशेषकर युवापीढ़ी के मन में 'ब्रांड', संस्कृति ने एक सिम्बल के रूप में स्थान ग्रहण किया है। उसे ऐसा लगता है कि ब्रांडेड वस्तुओं के इस्तेमाल से वह आधुनिक, शहरी तथा आकर्षित बन जाएँगे और समाज में उसकी हैसियत बढ़ जाएगी। 'ब्रांड' उपभोक्ता को वस्तु के गुणवत्ता की गारंटी भी देता है जिसके पीछे विज्ञापन ऐजेन्सियों का भी प्रमुख हाथ हैं। जीवन जीने का तरीका सब कुछ ब्रांड पर आधारित है। "ब्रांड का मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक आयाम है। ब्रांड केवल उत्पादित वस्तु का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि अपनी साख भी रखता है।

यह अपने बारे में उपभोक्ताओं से संवाद स्थापित करता है।"[1] बाज़ार की यह स्वाभाविक गति को मोड़ने में मनुष्य असमर्थ है।

वस्तुकरण

भूमंडलीकरण और बाज़ारीकरण के दौर में व्यक्ति का वस्तुकरण हो रहा है। हर किसी को कमाऊ चीज़ समझी जाती है और उसका मूल्य उसकी कीमत के आधार पर आँका जाता है। मनुष्य लाभोन्मुख जीवन जीने के कारण वृद्ध और अपाहिज के प्रति उसे कोई चेतना नही। वह बिना किसी हिचक से इनकी उपेक्षा कर सकता है। व्यक्ति का ही नहीं, प्रकृति और सभी जीव-जन्तुओं का भी वस्तुकरण हो रहा है। प्रसिद्ध वेदशास्त्री 'ऑगस्टीन' के अनुसार आज की दुनिया में वस्तु से प्रेम और मनुष्य का उपयोग किया जा रहा है।

आजकल स्त्री भूमंडलीय बाज़ार की पण्य वस्तु बन गई है। वह अपनी देह के प्रदर्शन और व्यापार करने में कोई पाप बोध महसूस नहीं करती। विज्ञापन, फिल्मों, टेलिसीरियलों आदि में काम करनेवाली स्त्रियाँ, देहव्यापार से ऐसे कमाने में हिचकती नहीं। भूमंडलीकरण ने वेश्यावृत्ति को भी 'ग्लोरिफाइ' किया है। आज 'सेक्स वर्केस' एक माननीय धंधे के रूप में अपना काम करती हैं। यौन मुक्ति की माँग स्त्रियों को पुरुषों के समान इतना भोगवादी बना दिया है कि स्त्री-पुरुष एक दूसरे का उपयोग करते हैं, प्रेम नहीं। प्रेम शाश्वत होता है लेकिन भोग क्षणिक होता

---

1. भूमंडलीकरण : ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, प्रभा खेतान, पृ. 58

है। विवाह के भीतर के यौन संबंध में प्रेम है, सुरक्षा है, आनंद है। पति-पत्नी को इसका भरपूर आस्वादन करना वांछित है। वैसे ही भूमंडलीय दौर में स्त्री को उपभोक्तावादी संस्कृति और बाज़ारीकरण से मुक्ति पाना आसान कार्य नहीं है। "आज की स्त्री सबल है। वह रोती-बिसूरती नहीं, वह शक्ति संपन्न है। वह सदाबहार दिखना चाहती है। इसके लिए वह डॉयट, कसरत, मालिश, नये-नये फैशनबल कपड़े - गहने सब कुछ चाहती है - वह अपनी बेटी जैसे दिखना चाहती है।"[1] सीमोन ने लिखा था - "स्त्री को यदि मुक्ति चाहिए तो पहले गहने - कपड़ों से, प्रसाधन से मुक्ति ले। ये तो बेडियाँ है जिन्हें अब तक अज्ञानवश वह पहनती रही और वस्तु रूप में स्वयं को पेश करती रही।"[2] इसका मतलब यह नहीं है कि स्त्री को श्रृंगार करना था संवारना नहीं चाहिए बल्कि बाह्य सौंदर्य के वर्द्धन के साथ-साथ उसको आंतरिक सौंदर्यवर्द्धन की ओर भी ध्यान देना ज़रूरी है। स्त्री अपने-आप को स्त्रीयोचित गुणों जैसे दया, करुणा, सौमनस आदि से सज दे तो उसका वास्तविक सौंदर्य निखर उठेगा।

निजीकरण बनाम बाज़ारीकरण

बाज़ारीकरण से शिक्षा, स्वास्थ्य, पेय जल, परिवहन, बिजली आदि की व्यवस्था प्रभावित हुई है। सब्सिडी हटाने से इनकी दरें बढ़ी है। सार्वजनिक शिक्षा की स्थिति दयनीय है, जिससे धनी लोग अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेज देते

---

1. बाज़ार के बीच, बाज़ार के खिलाफ, प्रभा खेतान, पृ. 228
2. वही

हैं। सरकारी अस्पतालों की स्थिति भी शोचनीय है जबकि निजी अस्पताल आधुनिक यंत्रों, दवाओं और सुविधाओं से संपन्न है। इससे साधारण निर्धन लोगों को अच्छी चिकित्सा मिलने की संभावना कम है। पेय जल का बाज़ारीकरण होने से साधारण लोगों को स्वच्छ जल उपलब्ध नहीं होता है। 'गैट' (GATT) समझौते के तहत बारह सेवाओं का बाज़ारीकरण तय है जिनमें व्यवसाय, संचार, निर्माण और इंजनीयरिंग, वितरण, शिक्षा, पर्यावरण, वित्त, स्वास्थ्य, पर्यटन, मनोरंजन, संस्कृति और क्रीड़ा, तथा परिवहन शामिल हैं। डाक सेवाओं के बाज़ारीकरण से कोरियर कंपनियों को बहुत मुनाफा मिलता है। सुरक्षा सेवाओं के बाज़ारीकरण से धनी लोग निजी सुरक्षा गार्डों को लगा लेते है लेकिन साधारण जनता की सुरक्षा भगवान के ऊपर है।

"उपभोक्तावाद का दबाव इतना ज़्यादा है कि अब माँएँ बच्चे नही, कंप्यूटर पैदा करती हैं। उपभोक्ता वस्तुएँ पैसे की भाषा में बोलती हैं, इसलिए लोगों के दिमाग में सिर्फ पैसा भर गयी हैं। पैसा ही दिमाग हो गया है। बच्चे पढ़ते तभी हैं, जब उन्हें पैसा मिलता है। आदमी अब कोई काम तभी करता है, जब उसे पैसा मिलता है। अब कोई कहेगा कि वह राष्ट्रीय झंडा तभी फहराएगा, जब उसे पैसा मिलेगा या और कुछ मिलेगा। उपभोक्तावाद ने आधुनिक युग में धीरे-धीरे पैसे को आदमी से ज़्यादा महत्व दे दिया है। परिणामस्वरूप मानवीय संबंध और संवेदना के सबसे निश्छल कोनों में भी बाज़ार पहुँच गया और पैसा अहम हो गया।"[1]

---

1. संस्कृति की उत्तर कथा, शंभूनाथ, पृ. 157

'रामचन्द्र गुहा मानते हैं कि उपभोगवाद में भी अपसंस्कृति का राज़ छिपा है। चमकती चीज़ों का लालच, ब्रान्ड का वैविध्य, महँगी चीज़ों को खरीदने दिखाने का लालच एक अर्थ में अपसंस्कृति है।'

निष्कर्षतः हम कर सकते हैं कि नवउपनिवेशकाल में मनुष्य बाज़ार के जाल में फँसकर उपभोक्ता में परिणत हो गया है। बाज़ार के मज़बूत हाथों से, विज्ञापन के मायिक जाल से समाज की रक्षा करना देश के बुद्धिजीवियों का फर्ज़ है।

साम्राज्यवाद

द्वितीय महायुद्ध के बाद पूरी दुनिया पर साम्राज्यवाद की पकड़ ढीली पड़ गई। अनेक गुलाम देश आज़ाद हो गए। वर्तमान काल में सामंतवादी साम्राज्यवाद पूँजीवादी साम्राज्यवाद के रूप में विकसित हो गया है। अर्थात्, आज की साम्राज्यवादी शक्तियों का लक्ष्य अविकसित और विकासोन्मुख देशों में अपनी पूँजी का निवेश करना तथा वहाँ उद्योग धंधे और बाज़ार खोलना होता है। पूरी दुनिया को अपने अधीन लाने का काम करनेवाले बहुराष्ट्रीय साम्राज्यवाद का अधिकारी अमेरिका है। पुराने साम्राज्यवाद से भिन्न आज आक्रमण प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष है। उपनिवेश के स्थान पर बाज़ार स्थापित करके ये आक्रमण करते हैं।

साम्राज्यवादी हितों के विस्तार के लिए हथियारों का उत्पादन, सूचना तकनीकी के उत्पादन एवं माध्यम कार्यक्रमों के उत्पादन पर ज़ोर दिया गया। इन तीनों क्षेत्रों के ज़रिए अमरीकी साम्राज्यवाद ने विश्व भर में अपनी प्रभुता स्थापित

की और अपनी शक्ति का विस्तार किया। विगत पचास वर्षों में इन क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों की परिसंपत्तियों में बेशुमार वृद्धि हुई। तीसरी दुनिया के देशों को नए सिरे से नव औपनिवेशिक शोषण की चक्की में पिसना पड़ रहा है। गरीबी, भुखमरी, सामाजिक विखंडन और कर्जों के दबाव से गुज़रना पड़ रहा है।[1]

साम्राज्यवाद का स्वरूप जो भी हो, उनकी नीति हमेशा शोषण की नीति होती है। साम्राज्यवाद का लक्ष्य सत्ता और अर्थ हासिल करने के सिवा और कुछ नहीं है। नवउपनिवेशकाल में भारत जैसे विकासशील देशों में बिना साम्राज्य के साम्राज्यवाद, भूमंडलीकरण और बाज़ारीकरण के द्वारा चल रहा है। "भूमंडलीकरण ने कहीं भी समाजवादी विचारों को प्रोत्साहन नहीं दिया और कहीं भी बाज़ारवाद ने मनुष्यों के बीच सहयोग और करुणा के विस्तार को भी आधार नहीं दिया है। हाँ, राष्ट्रीयता और राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया ज़रूर वैश्वीकरण और भोगवाद के बावजूद जारी है।"[2]

समकालीन संदर्भ में दुनिया के किसी भी देश की शासन व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार बहुराष्ट्रीय साम्राज्यवाद को है। नवसाम्राज्यवाद की घातक स्थितियों से जनता को अवगत कराने का काम समकालीन साहित्यकार करते आ रहे हैं।

---

1. उत्तर आधुनिकतावाद, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ. 303
2. भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास, सम्पादक नीरू अग्रवाल, पृ. 18

सांप्रदायिकता

भारत में सांप्रदायिक वैमनस्य मूलतः ब्रिटिश कूटनीति की उपज है। उपनिवेशवादी शासकों ने अपने राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सांप्रदायिकता की चाल से हिन्दू-मुसलमानों दोनों को पराजित किया। हिन्दुओं और मुसलमानों का वास्तविक शत्रु ब्रिटिश शासक था, किन्तु ये उसका सम्मिलित विरोध न करके परस्पर सन्देह और अविश्वास का युद्ध लडने लगे। समकालीन उपन्यासकार सांप्रदायिकता की समस्या के मानसिक प्रभाव का चित्रण पूरी सजगता के साथ करते हैं। सांप्रदायिकता के भयावह रूप को दर्शाने के साथ-साथ वे सांप्रदायिकता के विरोध में आवाज़ भी उठाता है।

सांप्रदायिकता का संबंध मात्र धर्म से नहीं, उसका संबंध अर्थ और राजनीति से भी है। जब व्यक्ति सांप्रदायिकता की अनुपयुक्तता को समझ लेगा, तभी इस समस्या से मुक्ति मिल सकती है, नहीं तो वह समय-समय पर स्वार्थी लोगों के हाथों कठपुतली बनकर नाचते रहेंगे और दंगे भडकते रहेंगे। दंगे भडकने से धन और जन की हानि होगी और साथ ही सामाजिक चेतना के विकास को गहरा धक्का पहुँचेगा।

नव उपनिवेशकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

1. आधुनिकता का विकास

आधुनिकता में वैज्ञानिकता और उसकी उपज औद्योगीकरण से मनुष्य ईश्वर और प्रकृति से अलग हो गया था। इससे वह निराशाग्रस्त और आस्थाविहीन

बन गया। द्वितीय विश्वमहायुद्ध के बाद नीत्शे के 'ईश्वर की मृत्यु' की घोषणा से मनुष्य और भी आशाविहीन हो गया। अनेक विचारधाराओं और वादों के प्रभाव से तथा जीवन के यंत्रीकरण से मनुष्य संवेदनरहित बन गया। ज़मीन में काम करनेवाले किसानों और खेत मज़दूरों को गाँव से शहरों में विस्थापित करने से वे ज़्यादा व्यक्ति केन्द्रित और स्वार्थी बन गए। संयुक्त परिवार एकल परिवार में बदल गए।

स्वतंत्रता प्राप्ति और भारत विभाजन की भीषण स्थिति से भारतीय जनता अनिश्चितता, अनास्था और मोहभंग की मानसिकता से जूझने लगे। तत्कालीन हिन्दी साहित्य में इसी मानसिकता के अनुरूप अनास्था और निराशा का स्वर छाया हुआ है। आधुनिकता के साहित्यकार व्यक्ति की अस्मिता एवं अस्तित्व के अन्वेषण है। समकालीनता में यह केन्द्रियता टूट गई है और हाशियेकृतों को भी मुख्य धारा में लाने का प्रयत्न है। हाशियेकृतों में स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, पिछडे लोग, सब शामिल हैं। समकालीनता, वास्तव में आधुनिकता का विकास है, जिसमें विकेंद्रीकरण तथा बहुलता की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

समकालीनता

समकालीनता एक दृष्टिकोण है जो अपने समय की असंगतियों को पहचानकर, उसका प्रतिरोध करने की कामना करती है। समकालीनता समष्टि केन्द्रित है और मानव के भविष्य के प्रति आस्था रखकर मानवीयता को प्रधानता देता है। परम्परागत विविधता को बनाए रखते हुए, सभी हाशियेकृत वर्गों को प्रश्रय देनेवाली मानसिकता है, समकालीनता।

"हिन्दी का समकालीन साहित्य अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों के साथ संघर्ष करते हुए अपने सामाजिक सरोकार को प्रमाणित करनेवाला साहित्य है।'[1] "जो साहित्य समकालीन जीवन मूल्यों और जीवन सत्यों को यथार्थता के साथ स्वीकार करता है, वही समकालीन साहित्य है।"[2] समकालीन साहित्य की और एक विशेषता उसकी बहुलता है। यह विशेषता आभिजात्यवादी वर्चस्व को चुनौती देकर लघु संस्कृतियों को स्थान देती है। समकालीनता या उत्तर आधुनिकता अब बहुसंस्कृतिवाद या बहुलतावाद पर आधारित नया विमर्श है जिसे भारत में सहजता से स्थान मिल गया।

समकालीनता हर तरह की केन्द्रीयता को तोड़ती है और विकेन्द्रीकरण को महत्व देती है। इस विकेन्द्रीकरण में क्षेत्रीयता या स्थानीयता पर पूरा बल है। समकालीनता ने सभी वादों और विचारधाराओं को नकार दिया है। वह साहित्य के शाश्वततावादी प्रतिमान को भी स्वीकार नहीं करती है क्योंकि ये अभिजात्य वर्गों द्वारा निर्मित और प्रतिष्ठित किए गए हैं। इनमें दमित, शोषित, अपमानित अल्प-संख्यकों के साहित्य को न केवल उपेक्षित रखा गया है बल्कि उसे हीन मानकर उसका नज़रअंदाज़ करने की एक सुनियोजित साजिश भी रची गयी है। समकालीनता अभिजात्य वर्गों की इस साजिश को पूरी शक्ति से तोड़ना चाहती है।

अब कोई स्वीकृत सौंदर्यशास्त्र अर्थवान नहीं है और कोई स्वीकृत कृति कालजयी भी नहीं है। 'गोदान', 'कामायनी' जैसी कृतियाँ, जो बौद्धिक, सांस्कृतिक

---

1. समकालीन हिन्दी उपन्यास, डॉ. एन. मेहनन, पृ. 22
2. निर्वासन और समकालीन उपन्यास, डॉ. उषा सिन्हा, पृ. 10

तथा सौंदर्यात्मक तौर पर विशिष्ट मानते रहे हैं, इन्हें विखंडित (deconstruct) करने से हमें पाठ (text) के भीतर मौजूद उपपाठों और भाषा के पीछे छिपी अभिजात्य विचारधारा संवेदना, रूप-योजना आदि स्पष्ट दिखाई देता है। किसी भी कृति को इस तरह पढ़ना ही विखंडनवाद (deconstruction) है। लेखक अपनी भाषिक संरचना के द्वारा अपने वैचारिक-पूर्वाग्रहों, आशयों, अभिप्रायों को कितना ही छिपाने का प्रयत्न क्यों न करें, विखंडन के द्वारा वे प्रकट हो जाते हैं। हर साहित्यिक कृति एक पाठ (text) है और पाठ अपने अर्थ में बहुलार्थक तथा अनिश्चित है। फिर भाषा की भी सीमा होती है। जो लेखक कहना चाहता है, वह भाषा कहने में शायद असमर्थ हो जाती है। अतः कृति के संपूर्ण अर्थ को प्राप्त करने का दावा ही झूठ है। प्रायः इसी अर्थ में रोला बार्थ ने 'लेखक की मृत्यु' (Death of the Author) की घोषणा की थी।

समकालीनता से तात्पर्य किसी भी काल विशेष में मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियों और कठिनाइयों का मात्र चित्रण प्रस्तुत करना नहीं है बल्कि उन स्थितियों और समस्याओं के कारणों को समझकर उनका सामना करने की शक्ति हासिल करनी है।

स्वदेशीबोध

उत्तर आधुनिक काल में हमारा देश इतनी भयानक स्थिति से गुज़र रहा है कि जनता को स्वदेशीयता बोध नष्ट हो रहा है। भारतीय जनता को अपनी संस्कृति और सभ्यता में कोई आस्था नहीं है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, बाज़ारीकरण

आदि की चकाचौंध में वह इतना फँस गया है कि उसे पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों की कूटनीति का कोई एहसास ही नहीं होता है। समकालीनता में भारत पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का स्थान अमेरिका ने ले लिया और देश में ब्रिटिश अंग्रेज़ी भाषा का जो वर्चस्व था, वह अमेरिकी अंग्रेजी ने ले लिया। अमेरिका, पूरे विश्व को एक बाज़ार बनाकर अपने व्यापार सुगमता से चलाने का कार्य कर रहा है। भूमंडलीकरण और बाज़ारीकरण के मुफ्त-किश्त-छूट नीति तथा ब्रांड संस्कृति के पीछे छिपे गुप्त तंत्रों को न पहचानते हुए हमारे लोग विदेशी चीज़ों के प्रति मुग्ध हो रहे हैं और स्वदेशी चीज़ों को नकार रहे हैं। इससे भारतीय कुटीर उद्योगों तथा लघु-व्यवसायों को बडी हानि हो रही है।

औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप ग्रामों से शहरों की ओर विस्थापित ग्रामीण जनता वापस अपनी मिट्टी की ओर लौट रही है। शहरी जीवन से मनुष्य ऊब गए हैं। पर्यावरण प्रदूषण से लोग कई तरह की बीमारियों का शिकार बन रहे हैं। विदेशों में काम करनेवालों को भी अपनी मिट्टी में वापस आने की अदम्य इच्छा दिखाई पड़ती है। शहरी जीवन से संयुक्त परिवार, एकल परिवार में बदल गए। इससे युवा पीढ़ी ज़्यादातर स्वार्थी बन गई है। अपनी स्वार्थ की पूर्ति के लिए कुछ भी करने के लिए, यहाँ तक कि किसी खून करने के लिए भी वे हिचकते नहीं। बच्चे माँ-बाप को हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति अब साधारण सी हो गयी है। परिवारवालों के बीच प्रेम नष्ट हो रहा है। मास मीडिया और इलेक्ट्रोनिक यंत्रों के उपयोग के वृद्धि होने से मनुष्य मन संकुचित हो रहा है।

अपनी भाषा के ऊपर अमेरिकी अंग्रेज़ी का वर्चस्व उत्तर आधुनिक काल में दिखाई पड़ता है। निजी भाषा पर गर्व करने और उसे सीखने पर ज़ोर देनेवाले समकालीन साहित्यकार विदेशी भाषा और संस्कृति को अपनाने के खतरे के संबंध में जागरूक है।

प्राकृतिक संपत्ति का दोहन भी समकालीन जीवन की एक प्रमुख समस्या है। वन का नाश करके फैक्टरियों का निर्माण, फैक्टरियों के कूडे-कचरे से नदियों का विषलिप्त होना, पर्यावरण प्रदूषण, भौम ताप आदि समस्याओं से लोगों को प्रकृति की ओर लौटने का आग्रह दिखाई पड़ता है।

बाज़ारीकरण से राष्ट्र-राज्य की सीमाओं का पूरी तरह विनाश हो गया है और हम एक साथ स्थानीय और भूमंडलीय बन गए हैं। सूचना क्रांति ने हमारे बोध को इस तरह उलट-पलट किया है कि हमें पता नहीं कि हम कब स्थानीय है और कब भूमंडलीय। इस पश्चिमी तकनीक और संस्कृति से इतना आकर्षित हो रहे हैं कि हमें गाँधीजी के स्वदेशी चिंतन में कोई आस्था नहीं बची है।

समकालीन साहित्यकार भारतीय जनता के मन में स्वदेशीयता प्रेम जगाने और भूमंडलीकरण के खतरे से उन्हें अवगत कराने में बेहद प्रयत्नरत है। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के समय में महात्मा गाँधी ने जो स्वदेशी आंदोलन चलाया था वहीं आज समकालीन साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से कर रहे हैं।

स्थानीयता बोध

नगरीकरण और पश्चिमी संस्कृति के आकर्षण में पड़े भारतीय जनता को भारतीय संस्कृति और लोकजीवन में कोई दिलचस्पी नहीं। आज के युग में मास कल्चर, पॉपुलर कल्चर, डिजिटल सिनेमा और मोबाइल फोटोग्राफ़ी आम बात है। समकालीन साहित्यकार इनके मन में स्वदेशी बोध के साथ-साथ स्थानीयता बोध भी जगने का प्रयास कर रहे हैं। अपनी कला, वेश, लोक, प्रकृति, भाषा, संस्कृति आदि की रक्षा करने के उद्देश्य से समकालीन साहित्यकार पश्चिमीकरण के खतरे से लोगों को अवगत कराके स्थानीयता के महत्व को साहित्य के माध्यम से दर्शाने की कोशिश कर रहे हैं।

हाशियेकृत जनसमूह का प्रतिरोध

साम्राज्यवाद के वर्तमान दौर में दलित, स्त्री, आदिवासी, प्रकृति, किसान आदि समाज में हाशियेकृत और शोषित हैं। दलित को अस्पृश्य मानकर जाति व्यवस्था ने नकार दिया है। स्त्री को भूमंडलीकरण ने सिर्फ देह मानकर सीमित कर दिया है। आदिवासी को अपने जल, जंगल और ज़मीन से वंचित कर दिया गया है। औद्योगीकरण और पूँजीवाद ने प्रकृति का भी सर्वनाश कर दिया है। किसान को भी वैश्वीकरण ने अपनी भूमि से वंचित कर उसे शहर की ओर भागने के लिए विवश कर रखा है।

समकालीनता में शताब्दियों से तिरस्कृत इन उपेक्षितों और वंचितों पर ध्यान दिया जाता है। इन क्षेत्रों में महत्वपूर्ण काम करनेवाले विद्वानों में एडवर्ड

सईद, गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक, होमी भाभा, आशीष बन्दी, एजाज अहमद आदि का नाम उल्लेखनीय है। नवजागरण काल से शुरू हुए हाशिएकृत वर्गों का प्रतिरोध समकालीनता में आकर इतना सुदृढ़ हो गया है कि इनके पृथक-पृथक साहित्य भी रचे गए हैं। आज स्त्री, दलित, आदिवासी, किसान आदि अपनी अस्मिता के प्रति सजग है और उनके विरुद्ध काम करनेवाले साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रतिरोध भी कर रहे हैं। आज की स्त्री चुप रहनेवाली स्त्री नहीं, वह अन्याय के विरुद्ध प्रश्न करनेवाली है। वह अन्याय, अत्याचार, अनाचार आदि को सहने के लिए तैयार नहीं है। जातिभेद के नाम पर समाज द्वारा निम्न दर्जा दिए गए दलित वर्ग भी प्रतिरोध कर रहे हैं। समकालीन साहित्य उस व्यवस्था का प्रतिरोध करते हैं जो दलितों को अछूत कहकर, उन्हें मानवोचित अधिकारों से वंचित कर रखता है। उनके पास न मिट्टी है, न धन है, न मकान है। "आदिवासी समुदाय के लोग जंगलों में रहकर अपना जीवन बिता रहे हैं किन्तु उन्हें जंगलों में भी चैन से नहीं रहने दिया जा रहा है। जंगलों की अवैध कटाई से उनका आवास छीन लिया जाता है, शीलों व नदियों को प्रदूषित कर पीने के पानी पर प्रतिबंध लगाया जाता है, फैक्टरियों के गंदे पानी और कचरों से खेतों को बंजर बनाया जाता है।"[1] इन्हीं की भूमि पर जल विद्युत बाँध भी बनाए गए। आदिवासी स्त्रियों पर होनेवाले आक्रमण भी कम अमानवीय नहीं है। समकालीन साहित्यकार आदिवासियों को समाज में स्थान और सम्मान देने के लिए और उनकी समस्याओं को उद्‌घाटित करने के लिए कार्य कर रहे हैं।

---

1. आदिवासी साहित्य - स्वरूप एवं विश्लेषण, डॉ. शेख शहेनाज बेगम अहेमद, पृ. 178

उपनिवेश और नवउपनिवेश का साम्य-वैषम्य

उपनिवेश और नवउपनिवेश में एक शक्तिशाली देश के द्वारा उससे शक्तिहीन अविकसित या विकासशील देश पर राजनीतिक और आर्थिक आधिपत्य जमाने की नीति है। अंतर तो इतना ही है कि उपनिवेश में शासन एवं शोषण प्रत्यक्ष रूप में है और नवउपनिवेश में शासन एवं शोषण अप्रत्यक्ष रूप में होता है। उपनिवेशकाल में ईस्ट इंडिया कंपनी ने व्यापार करने के उद्देश्य से भारत का उपनिवेश बना दिया। नवउपनिवेशकाल में भूमंडलीकरण के तहत बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने भारतीय बाज़ार पर अपना अधिकार जमा लिया है। किसी भी काल में उपनिवेश स्थापित करने का उद्देश्य आर्थिक लाभ ही है।

भारत की आर्थिक स्थिति में आज़ादी के पूर्व और पश्चात् ज़्यादा फर्क नहीं दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि गुलामी के समय हमारी अर्थ-व्यवस्था पर अंग्रेज़ों ने पूरी तरह कब्जा कर रखा था। लेकिन स्वतंत्रता मिलने के बाद भी भूमंडलीकरण, उदारीकरण, बाज़ारीकरण आदि से हमारा अर्थ अमेरिका जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों के कब्जे में है। विश्व बैंक, अंतराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन आदि के द्वारा प्रमुख व्यापार संपन्न होने से हम अनजाने ही विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों में हमारा धन निवेश कर रहे हैं। हमारे देशी व्यवसायों को इससे बड़ा नुकसान हो रहा है।

भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति में भी उपनिवेश और नवउपनिवेश का प्रभाव परिलक्षित होता है। उपनिवेशकाल में समाज की स्थिति

बहुत ही शोचनीय थी। अंधविश्वासों और अनाचारों से जकड़े हमारा समाज अंग्रेज़ों के आगमन के बाद शिक्षा की प्राप्ति और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से नवजागरण की दिशा में अग्रसर हुआ। उसी समय भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण मूल्यों का ह्रास भी तत्कालीन समाज में दिखाई पड़ता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ औद्योगीकरण और शहरीकरण के फलस्वरूप संयुक्त परिवार एकल परिवार में परिवर्तित हो गए जिससे लोग स्वार्थी और संत्रस्त हो गए। पाश्चात्य विचारधाराओं के प्रभाव से भारतीय जनता को ईश्वर पर आस्था कम और व्यक्ति पर आस्था अधिक द्रष्टव्य होते हैं। इससे मानव मूल्यों का विघटन और मानवाधिकारों के प्रति सजग समाज का आविर्भाव हुआ। मीडिया और इलेक्ट्रोनिक यंत्रों के प्रभाव से मनुष्य अपने-अपने सीमित दायरे में रहना पसंद करते हैं। किसी बाहरी व्यक्ति के अपने जीवन में दखल देना उसे बिल्कुल पसंद नहीं है।

उपनिवेशी भारत में जो राष्ट्रीयता एवं स्वदेशी भावना स्वतंत्रता की अभिवांछा के साथ प्रबल हो गई थी वह स्वतंत्रता प्राप्ति के निकट तक आते आते गायब होने लगी। उपनिवेश भारत सामंती व्यवस्था में रूपायित होकर पूँजीवादी व्यवस्था में सशक्त हो गया। पूँजीवादी व्यवस्था में स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ तीव्रता प्राप्त होने लगी। औद्योगीकरण और विकास योजनाओं के बढते दौर में मनुष्य प्रकृति से दूर होने लगा। नवउपनिवेश में आकर मनुष्य और प्रकृति के बीच में बडी दरारें पैदा हुई। इसलिए प्रकृतिबोध समकालीन साहित्य का मुख्य स्वर बन गया। मनुष्य केंद्रीयता, विचारधाराओं की केंद्रीयता तथा तार्किकता की आधुनिकता के स्थान पर बहुलता की अस्मिता प्रतिष्ठित करने के लिए समकालीन साहित्यकार

एक प्रतिरोधी संस्कृति को दर्ज करने की सतर्कता एवं सजगता प्रकट करते हैं। प्रकृतिबोध पर केंद्रित मानवीयता की सहज संस्कृति समकालीन साहित्य की वाँछित संस्कृति है। वह उपनिवेशकालीन संस्कृति का विकसित रूप है।

उपनिवेशकालीन अशिक्षित स्त्री जन शिक्षित बन गई, वह घर के चहारदीवारों से निकलकर स्वावलंबी होने की इच्छुक हुई। बाहर काम पर जाने और आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनने से वह पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष के कंधे से कंधे मिलाकर चलने लगी। नैतिक मूल्यों के संबंध में उसकी दृष्टि में भी परिवर्तन आ गयी है। वह पतिव्रता और पुरुष की छाया बनकर रहनेवाली स्त्री नहीं, बल्कि पुरुष की सहयोगी स्त्री बनकर जीना चाहती है। स्त्रियों के खिलाफ हिंसा दोनों कालों में लगभग समान रूप से विद्यमान है। अंतर तो सिर्फ इतना है कि उपनिवेशकालीन स्त्री अपने प्रति घटित शोषण के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाती थी, लेकिन नवउपनिवेशकालीन स्त्री सशक्त रूप में प्रतिक्रिया करती है। विवाहेतर लैंगिक संबंध जो पाप समझी जाती थी, समकालीन स्त्री के लिए पाप नहीं है। यौन संबंध कार्यों में भी वह स्वतंत्रता आज बरतती आती है।

उपनिवेशकाल में ब्रिटिश अंग्रेज़ी का जो वर्चस्व था, वह अमेरिकी अंग्रेज़ी ने ले लिया है। पश्चिम की चीज़ों और भाषा के प्रति आकर्षण नवउपनिवेशकाल की विशेषता है। बहुलता, स्थानीयता और क्षेत्रीयता को महत्व देने के कारण समकालीनता में सभी संस्कृतियों को अपनाने की प्रवृत्ति है। दमित, शोषित वर्ग जैसे दलित, स्त्री, आदिवासी आदि को समाज में स्थान मिलने लगा है। शोषित,

पीड़ित और दमित हशियेकृत जनसमूह को नवजागरण से रूढ़ियों और अंधविश्वासों से मुक्ति मिल गया तथा उन्हें अपनी अस्मिता का बोध भी जताया गया। नव-उपनिवेशकाल में इन्हें अस्मिता मिलने के साथ-साथ इनके बीच भेद भी दिखाई पड़ता है, जिससे जवाहरलाल नेहरु के 'अनेकता में एकता' का सपना टूटता हुआ महसूस होता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि उपनिवेश हो या नवउपनिवेश दोनों में पश्चिमी आधिपत्य व्यक्त रूप से द्रष्टव्य है। दोनों में आर्थिक शोषण ही उपनिवेशकों का मकसद है। उपनिवेश में प्रत्यक्ष शोषण है तो नवउपनिवेश में गूढ़ तंत्रों द्वारा अप्रत्यक्ष शोषण है। उपनिवेशों को उनसे मुक्ति मिलने की लालसा बढ़ी थी और तत्परिणाम स्वतंत्रता आंदोलन संपन्न हुआ। पंद्रह अगस्त उन्नीस सौ सैंतालीस को भारत आज़ाद हो गया। लेकिन यह आज़ादी पूर्ण नहीं थी। स्वतंत्रता के पूर्व ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश शासकों ने भारत की अपार संपत्ति को हडपने के लिए जिस तंत्र का प्रयोग किया, उसी तंत्र का (बाज़ारीकरण), आज भी प्रयोग किया जा रहा है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण और बाज़ारीकरण के तहत बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने देश की आर्थिक व्यवस्था को अपने अनुकूल बना दिया है। विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन जैसी संस्थाएँ, आज भी तीसरी दुनिया के अविकसित और विकासोन्मुख देशों का शोषण कर रही हैं। पुराने धर्म और संस्कारों से रूढिग्रस्त भारतीय समाज को नए रूप में ढालने के लिए उन्नीसवीं-बीसवीं शति के समाज-सुधारकों जैसे राजाराम मोहनराय, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द आदि ने महान कार्य किए जिससे राष्ट्र में अभूतपूर्व जनजागृति हुई

और राष्ट्र प्रेम तथा मानवतावादी भावनाएँ सुदृढ हुईं। लेकिन नव-उपनिवेशकाल में आकर भूमंडलीकरण की कूटनीति से भारतीय जनता संवेदनहीन और अमानवीय बन गए। महात्मा गाँधीजी ने स्वाधीनता संग्राम के दौर में जिस देशप्रेम और मानवीयता का आह्वान किया था, वही समकालीन साहित्यकार अपने साहित्य के द्वारा जनता के मन में जगाना चाहते हैं।

आज संपूर्ण विश्व में, विशेषतः भारत में संक्रांति एवं मूल्यहीनता व्याप्त है। इस विकट स्थिति में महात्मा गाँधी के विचारों का टिमटिमाता दीपक अनवरत प्रकाश दे रहा है। आज समाज समृद्धि और गरीबी, आज़ादी और शोषण, सामाजिक संबंध एवं अलगाव, विज्ञान एवं आध्यात्म के विरोधाभास में फंसा है। इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए हिन्दी साहित्यकार हमेशा आस्था और विश्वास के साथ कटिबद्ध हैं।

अध्याय दो

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में समाज एवं संस्कृति

अध्याय दो
उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में समाज एवं संस्कृति

समाज - अर्थ, परिभाषा एवं अवधारणा

'समाज' शब्द संस्कृत के दो शब्दों 'सम्' एवं 'अज' से बना है। 'सम्' का अर्थ है 'इकट्ठा' व 'एक साथ' और 'अज' का अर्थ है साथ रहना। इसका अभिप्राय यह है कि समाज एक साथ रहनेवाला समूह है। मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है। उसके अनेक वर्षों के अनुभव से यह सीख लिया कि उसके व्यक्तित्व तथा सामूहिक कार्यों के सम्यक् विकास के लिए उसे संगठित होकर रहना आवश्यक है।

हिन्दी शब्दकोश में समाज का अर्थ समूह, संघ, गिरोह, दल आदि है। अंग्रेजी में समाज का पर्यायवाची शब्द है, 'सोसाइटी' (society)। सामान्य रूप में व्यक्तियों के समूह को समाज कहा जाता है। लेकिन इससे समाज का वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। इसे स्पष्ट रूप में समझने के लिए विद्वानों ने विविध परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। 'राइट' के अनुसार - "मनुष्यों के समूह को समाज नहीं कहा जाता, अपितु, समूह के अंतर्गत व्यक्तियों के संबंधों की व्यवस्था का नाम

समाज है।"[1] एफ.एच गिडिंग्स ने समाज की परिभाषा इस प्रकार की है - "समाज स्वयं एक संघ है जिसमें सहयोगी व्यक्ति परस्पर आबद्ध है।"[2]

मैकाइवर और पेज ने समाज की परिभाषा देते हुए लिखा है - "समाज रीतियों, कार्यविधियों, अधिकार तथा पारस्परिक सहायता, अनेक समूहों तथा उनके विभाजनों, मानव व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। यह सामाजिक संबंधों का जाल है और सदैव परिवर्तित रहता है।"[3]

महादेवी वर्मा ने अपने 'समाज और व्यक्ति' निबंध में समाज की परिभाषा इस प्रकार दी है - "समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थों की सार्वजनिक रक्षा के लिए, अपने विषम आचरणों में साम्य उत्पन्न करनेवाले कुछ सामान्य नियमों से शासित होने का समझौता कर लिया है।"[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो परस्पर आबद्ध है और सदैव परिवर्तित रहता है।

सामाजिक संबंधों - समस्याओं को वैज्ञानिक आधार पर क्रमबद्ध रूप में आलोचक की दृष्टि से अध्ययन करने का सर्वप्रथम श्रेय फ्रेंच दार्शनिक श्री आगस्त काम्ट को है जिन्होंने सन् 1838 में इसे समाजशास्त्र (sociology) की संज्ञा दी।

---

1. श्रीवास्तव के उपन्यासों का समाज शास्त्रीय अध्ययन, डॉ. उर्मिल गंभीर, पृ. 37
2. वही, पृ. 37
3. हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, डॉ. लालसाहब सिंह, पृ. 7
4. श्रृंखला की कडियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 111

अन्योन्याश्रय तथा सहयोग समाज के मुख्य तत्व हैं। इनके द्वारा ही एक सभ्य समाज का निर्माण संभव है।

संस्कृति अर्थ, परिभाषा एवं अवधारणा

संस्कृति शब्द 'सम्' उपसर्ग के साथ 'कृ' धातु एवं 'क्तिन' प्रत्यय जोड़कर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है - संशोधन करना, सुधारना, उत्तम बनाना सुंदर या पूर्ण बनाना, परिष्कार करना, शुद्ध करना, सुसंपन्न करना, सुनिर्मित करना आदि।

मैनेजर पांडेय के अनुसार 'संस्कृति' भारतीय परंपरा का शब्द नहीं है। यह संस्कृत के कोशों में नहीं मिलता। 'संस्कृति' शब्द अंग्रेज़ी के 'कल्चर' का अनुवाद है। वह उपनिवेशवाद के साथ यूरोप से भारत आया है।

एडवर्ड बी. टायलर ने संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार दी है - "संस्कृति समाज द्वारा संचित ज्ञान, विश्वास, काम, नैतिकता, रीति-रिवाज आदि का समन्वित रूप है।"[1]

पाश्चात्य आलोचक टी.एस. इलियट का कहना है कि "संस्कृति विभिन्न क्रियाओं का योग मात्र नहीं है, बल्कि वह जीवन की एक पद्धति है जो जीवन को जीने योग्य बनाती है।"[2]

---

1. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में संस्कृति और इतिहास, डॉ. अरुण कुलकर्णी, पृ. 39
2. वही, पृ. 39

'रैडक्लिफ ब्राउन' संस्कृति को एक पारम्परिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि "संस्कृति वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से किसी सामाजिक वर्ग या श्रेणी में विचार, अनुभूति या क्रिया के सुसंस्कृत ढंग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संक्रान्त किए जाते हैं।"[1]

'Encyclopaedia of Social Science' में 'मैलिनोव्स्की' ने संस्कृति की परिभाषा यों दी है - "उसमें पैतृक निपुणताएँ, श्रेष्ठताएँ, कलागत प्रक्रिया, विचार, आदतें और विशेषताएँ सम्मिलित रहती हैं। अतः संस्कृति का संबंध दर्शन और धर्म से लेकर सामाजिक संस्थाओं तथा रीति-रिवाजों तक मानव जीवन की समस्त महत्वपूर्ण विचार प्रणालियों से है।"[2]

रामधारीसिंह दिनकर के अनुसार - "संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं।"[3]

संस्कृति के महान विचारक एवं आख्याता आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का संस्कृति के संबंध में मत है कि - "सभ्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है और संस्कृति व्यक्ति के अंदर के विकास का।"[4]

---

1. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में संस्कृति और इतिहास, डॉ. अरुण कुलकर्णी, पृ. 39
2. वही, पृ. 39
3. हमारी सांस्कृतिक एकता, रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 2
4. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में संस्कृति और इतिहास, डॉ. अरुण कुलकर्णी, पृ. 40

महादेवी वर्मा ने संस्कृति के संबंध में कहा है कि - "संस्कृति की विविध परिभाषाएँ संभव हो सकी हैं क्योंकि वह विकास का एक रूप नहीं, विभिन्न रूपों की ऐसी समन्वयात्मक समष्टि है, जिसमें एक रूप स्वतः पूर्ण होकर भी अपनी सार्थकता के लिए दूसरे का सापेक्ष है।"[1]

भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के संस्कृति संबंधी विचारों से स्पष्ट होता है कि संस्कृति एक ऐसी जीवन तरीका है जो सुदीर्घ काल के प्रयत्न और अनुभव से मनुष्य द्वारा निर्मित और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संक्रान्त किए जाते हैं।

दिनकरजी के अनुसार संस्कृति को हम लक्षणों से तो जान सकते हैं, किंतु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते।

मैनेजर पांडेय ने भी कहा है कि, "कला और सौंदर्य की तरह संस्कृति एक ऐसी वस्तु है जिससे होने और न होने का इस अनुभव करते हैं, लेकिन उसे ठीक से जानते नहीं। उसकी परिभाषा और व्याख्या करना और भी मुश्किल है। संस्कृति मनुष्य की रचना है। वह मनुष्य की मनुष्यता और सामाजिकता की अभिव्यक्ति है।"[2]

संस्कृति और सभ्यता को पर्यायवाची मानना ठीक नहीं है क्योंकि दोनों में व्यक्त रूप में अंतर है। संस्कृति मनुष्य का जन्मजात गुण है। उसका निर्माण जल्दी

---

1. भारतीय संस्कृति के स्वर, महादेवी वर्मा, पृ. 19
2. भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा, मैनेजर पांडेय, पृ. 11

नहीं हो सकता। हमारे सारे क्रिया-कलाप हमारी संस्कृति की पहचान होती है। वास्तव में संस्कृति शरीर का नहीं, आत्मा का गुण है। सभ्यता तो बाहर से अर्जित गुण है। शिक्षा से या दूसरे लोगों के संपर्क से हमें सभ्यता (civilization) का गुण प्राप्त होता हैं। "अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि सभ्यता वह चीज़ है जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है।"[1] सभ्यता का संबंध शरीर से है तो, संस्कृति का संबंध आत्मा से है। दिनकरजी मानते हैं कि "संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज़ होती है। यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है जैसे दूध में मक्खन, या फूलों में सुगन्ध। और सभ्यता की अपेक्षा यह टिकाऊ भी अधिक है क्योंकि सभ्यता की सामग्रियाँ टूट फूटकर विनष्ट हो जा सकती है, लेकिन संस्कृति का विनाश उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता।"[2] सभ्यता संस्कृति का विकसित रूप है।

कृषि से भी संस्कृति का गहरा संबंध है। अंग्रेज़ी में संस्कृति के लिए 'कल्चर' शब्द प्रयोग किया जाता है जो लैटिन भाषा में 'कल्ट' या 'कल्टस' से लिया गया है जिसका अर्थ है जोतना, विकसित करना या परिष्कृत करना। 'संस्कृति से जुडे हुए शब्द है एग्रीकल्चर और कल्टिवेशन। कृषि से संस्कृति के अंतरंग संबंध को ध्यान में रखकर आचार्य नरेन्द्र देव ने कहा था - "संस्कृति चित्तभूमि की खेती है।" जब और जहाँ मानव समूह कृषि का विकास करता है, तब वहाँ समाज, भाषा और संस्कृति की निर्माण प्रक्रिया शुरू होती है।"[3]

---

1. हमारी सांस्कृतिक एकता, दिनकर, पृ. 1
2. वही, पृ. 2
3. भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा, मैनेजर पांडेय, पृ. 12

समाज और संस्कृति का संबंध

समाज और संस्कृति के बीच अभेद्य संबंध है क्योंकि समाज में रहकर ही संस्कृति विकसित और परिमार्जित होती है। समाज की व्यवस्था ही संस्कृति को जीवित रखती है। मनुष्य समाज से बाहर रहकर किसी प्रकार की संस्कृति की सृष्टि नहीं करता। "रेमण्ड विलियम्स मानते हैं कि संस्कृति से समाज का स्वरूप बनता है। सांस्कृतिक प्रक्रिया समाज की दूसरी प्रक्रियाओं (आर्थिक - राजनीतिक) से प्रभावित होती है और उन्हें प्रभावित भी करती है।"[1] परंपराएँ जो प्रायः संस्कृति के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होती हैं, समाज की होती है। किसी भी समाज के अतीत और वर्तमान उसकी भाषा में मौजूद है। अंतोनियो ग्राम्शी भाषा को संस्कृति का मुख्य रूप मानते थे। इस प्रकार भाषा के द्वारा भी समाज और संस्कृति परस्पर संबंधित है।

"जब आदमियों का एक दल या समाज एक ही रीति से कुछ करता है, एक ही विश्वास रखता है, एक ही प्रकार के आदर्श सामने रखता है, अपने पुरखों के कणों को समान रूप से अपने आदर, गर्व और गौरव की बात मानता है, तब संस्कृति का जन्म होता है। संस्कृति आदमी के सामाजिक जीवन का प्राण है।"[2]

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज परस्पर संबंधित है। एक ओर व्यक्ति समाज का निर्माता है तो दूसरी ओर वह समाज का अभिन्न अंग भी है। उसका हित, कल्याण

---

1. भारतीय समाज के प्रतिरोध की परंपरा, मैनेजर पांडेय, पृ. 13
2. भारत की संस्कृति की कहानी, डॉ. भगवतीशरण उपाध्याय, उद्धृत

एवं उन्नति समाज पर ही निर्भर रहती है। सामाजिक प्राणी होने के कारण व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता। वह दूसरों के साथ मिलकर जीना पसंद करता है। इस उद्देश्य से मनुष्य द्वारा निर्मित संस्था को समाज कहलाता है और समाज में वह अपना अस्तित्व बनाया रखता है।

"अरस्तू के अनुसार - "कोई भी व्यक्ति संपूर्ण संसार को भी अपना कहने से इनकार कर देगा यदि उसे यह मालूम हो जाए कि उसे संसार में अकेला ही रहना होगा। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जोकि स्वभाव से ही दूसरों के साथ रहना पसन्द करता है, इस कारण सुखी मनुष्य भी दूसरों के साथ रहता है।"[1]

महादेवी वर्मा ने अपने निबंध, 'समाजऔर व्यक्ति' में व्यक्त किया है कि "व्यक्ति तथा समाज का सम्बन्ध सापेक्ष कहा जा सकता है, क्योंकि एक के अभाव में दूसरे की उपस्थिति सम्भव नहीं। व्यक्ति के स्वत्वों की रक्षा के लिए समाज बना है और समाज के अस्तित्व के लिए व्यक्ति की आवश्यकता रहती है। एक सामाजिक प्राणी स्वतंत्र और परतंत्र दोनों ही है। जहाँ तक वैयक्तिक हितों की रक्षा के लिए निर्मित नियमों का संबंध है, व्यक्ति परतंत्र ही कहा जायेगा; क्योंकि वह ऐसा कोई कार्य करने के लिए स्वच्छंद नहीं जिससे अन्य सदस्यों को हानि पहुँचे। परन्तु अपने और समाज के व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक विकास के क्षेत्र में व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र रहता है।"[2]

---

1. श्रीवास्तवजी के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ. उर्मिल गंभीर, पृ. 36
2. श्रृंखला की कडियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 112-113

जब मनुष्य अपनी बर्बरता की स्थिति से निकलकर मानवीय गुणों तथा कला-कौशल की वृद्धि करते हुए सभ्य तथा सुसंस्कृत होता है, तब उसका विकास हो जाता है। इस विकास की ओर अग्रसर होकर व्यक्ति समाज को भी अग्रसर करता है।

उपनिवेशकालीन उपन्यासों से लेकर नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों तक इस मानव कल्याण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। 'भाग्यवती' उपन्यास में भाग्यवती अपनी आस-पड़ोस की स्त्रियों को घर बुलाकर उन्हें शिक्षा देती है। उसी प्रकार 'गबन' उपन्यास की जालपा, 'तितली' उपन्यास की तितली समाज सेवा में प्रवृत्त होती हुई दिखाई पड़ती है।

नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में भी 'माई' उपन्यास की माई, 'इदन्नमम' की मंदाकिनी, 'कठगुलाब' की स्मिता, असीमा और विपिन आदि समाज कल्याण में अग्रसर होते हुए दिखाई पड़ते हैं। माई विधवाश्रम में सेवा करती है तो मंदाकिनी ग्राम प्रधान बनकर ग्रामवासियों के कल्याण में जुट जाती है। स्मिता, असीमा और विपिन गोधड गाँव में सुधार लाने के लिए अपना जीवन समर्पित करते हैं।

परिवार

व्यक्ति को सांस्कृतिक और भावनात्मक विकास का प्रारंभिक अवसर परिवार में ही मिलता है। परिवार कुशल व्यक्तित्व और उन्नव सामाजिक जीवन का आधार स्तंभ है। व्यक्ति परिवार में ही सहयोग, सद्भावना आदि सद्गुणों को सीखता है। परिवार में ही उसे अपने अवगुणों को दूर करने का मंच मिल जाता है।

व्यक्ति का संपूर्ण विकास परिवार में होता है, इसलिए परिवार समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई है।

'शाब्दिक रूप में परिवार अथवा अंग्रेज़ी का शब्द 'family' लैटिन 'famulus' से बना है, जिसका अर्थ है 'सेवक'। इससे स्पष्ट होता है कि परिवार का तात्पर्य किसी भी ऐसे समूह से है जिसके सदस्य सेवा भाव से एक दूसरे के साथ रहते हैं।"[1] बाइबिल में भी सेवक नेतृत्व (servant leadership) की अवधारणा है जहाँ नेता या घर के स्वामी का दायित्व है कि वे अन्य सदस्यों की निःस्वार्थ सेवा करें। ईसा मसीह ने अपने शिष्यों के पैर धोकर सेवा भाव का सुन्दर मिसाल दिखाई थी।

संयुक्त परिवार

भारत में प्राचीन काल से ही संयुक्त परिवार की व्यवस्था दिखाई पड़ती है। संयुक्त परिवार में निकट संबंधवाले मिलजुलकर कमाते है और एक साथ रहते भी हैं। इससे परिवार में सम्मिलित सम्पत्ति, सम्मिलित अधिकारों तथा कर्तव्यों का समावेश होता है। लेकिन संयुक्त परिवार का संचालक प्रायः एक ही व्यक्ति होता है और अन्य सभी व्यक्तियों को उसके मत को मानना पड़ता है। एक ही घर में पति-पत्नी, माता-पिता, दादा-दादी, जेठ-जेठानी, देवर-देवरानी, ननद और उन सब के बच्चे एक साथ रहते हैं। ऐसी स्थिति में परस्पर ईर्ष्या और मन-मुटाव होना

---

1. हिन्दी कथा साहित्य में पारिवारिक विघटन, डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ. 2

स्वाभाविक ही है। उपनिवेशकालीन हिन्दी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में इस समस्या को उठाई है।

'देवरानी जेठानी की कहानी में जेठानी पडोसियों से देवरानी और सास के बारे में भला-बुरा कहती है। 'दौलतराम की बहु (जेठानी) रात को भी अपनी पति से सास और देवरानी की बुराई करती। बेपढ़ा होने के कारण और रोज़-रोज के बहकाने और सिखलाने से वह दौलतराम अपनी बहु की हिमायत करने लगा और माँ से लड़ने लगा।'[1]

'वामा शिक्षक' में जेठानी घर खर्च चलाती है किन्तु उससे चलवा नहीं। उसकी अक्षमता को देखकर घर-खर्च का भार छोटी बहू को दे दिया जाता है। किन्तु बडी बहू इसको अपना अपमान समझकर घर में अशान्ति का वातावरण उत्पन्न कर देती है और वह अलग रहने को सोचती है।

'भाग्यवती' उपन्यास में भी हम संयुक्त परिवार का दुष्परिणाम देखा जा सकता है। भाग्यवती ससुराल आते ही घर गृहस्थी का काम इतनी अच्छी तरह संभाल लेती है कि घर में उसका अत्यंत आदर सत्कार होता है। इससे दूसरी बहुओं के मन में ईर्ष्या होती है। दोनों जेठानियाँ और ननद भाग्यवती पर चोरी का झूठा इल्ज़ाम लगाकर, उसे घर से बाहर निकालने में सफल हो जाती है।

संयुक्त परिवार के विघटन के मूल में आर्थिक कारण अवश्य निहित रहता है। परम्परागत संयुक्त परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अधिकतर एक ही व्यवसाय करता

---

1. देवरानी जेठानी की कहानी, पंडित गौरीदत्त शर्मा, पृ. 20

था। अतः घर की आमदनी एकत्र रूप में आती थी और खर्च भी एकत्र रूप में होते थे। किन्तु औद्योगीकरण और नई सभ्यता के विकास के साथ-साथ परिवार के व्यक्तियों के धंधे भी बंट गए, जिनसे घर की आमदनी का पृथक्करण हो गया। अब घर में ज़्यादा कमानेवाला व्यक्ति और उसकी पत्नी को ज्यादा अधिकार और सम्मान मिलने लगा। कभी-कभी अधिक कमानेवाले पति की पत्नी घर में बढ़चढ़कर आधिपत्य जमाकर रहना चाहती थी, जिससे संयुक्त परिवार में दूसरों को उससे विरोध होना स्वाभाविक ही था।

'वामा शिक्षक' में जमुनादास की बहू आर्थिक लाभ की बात सोचकर देवरानी से अलग रहना चाहती है। वह सोचती है कि, "प्रथम तो मेरा मालिक पच्चीस रुपये का नौकर दूसरे आधा गाँव मेरे बाँटे में अधिक आया है जो मैं देवरानी से अलग रहूँगी तो उस्में मेरा बड़ा लाभ है इस्लिए अलग होने की बात खुला खुली तो न कहती पर सब बातों में तकरार करती और देवरानी के प्रबंध को बुरा बतलाया करती और उसे घड़ीभर भी न चैन लेने देती।"[1]

जेठानी की इस प्रवृत्ति के कारण बाद में परिवार का विघटन हो जाता है। लेकिन जेठानी के परिवार को प्रत्याशित लाभ नहीं मिलता है।

संयुक्त परिवार में देवरानी-जेठानी के अतिरिक्त सास-बहू के बीच भी झगड़े होते रहते हैं। सास बहू के झगड़ों के मूल में अशिक्षा और आर्थिक कारण प्रमुख रूप से निहित हैं। अगर सास-बहू दोनों अशिक्षित हैं वो घर में व्यर्थ ही

---

1. वामा शिक्षक, मुंशी ईश्वरीप्रसाद, कल्याण राय, पृ. 7

छोटी-मोटी बातों पर झगडे और अशान्ति का वातावरण दिखाई देने लगता है। इसके अतिरिक्त बहू के मायके से दहेज कम आता है, बहू गरीब घर की लड़की है या उसका पति कम अर्थोपार्जन करता है तो सास बहू को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगता है।

'वामा शिक्षक' में राधा और उसकी सास दोनों अनपढ़ है और उसकी वजह से दोनों के बीच हमेशा झगडा होता रहता है। राधा गंगा से कहती है - "मेरी सास दिन रात मेरे पीछे पड़ी रहती है - कभी कहती है कि तू चिल्लाकर बोलती है, कभी कहती है कि तेरी चाल बुरी है मेरे तो खाने, पीने बोलने चालने चलने फिरने सोने उठने सबके न्याय पडे रहते हैं - आप मालकिन की तरह पलंग पर बैठी हुक्म चलाया करती है कि यह काम करो वह काम करो - इसके सिवा तुम जानती हो कि तुम्हारे ही बहनोई की कमाई है औऱ मेरा कुछ आदर नहीं"[1]

संयुक्त परिवार व्यवस्था की एक बहुत बड़ी बुराई यह है कि वहाँ पति-पत्नी के बीच रागात्मक संबंध स्थापित करने का अवसर नहीं मिलता है। पति अपने माँ-बाप की बात ही सुनता है, पत्नी की बात बिल्कुल नहीं सुनता, जिससे पत्नी को बहुत उपेक्षित सा लगता है और पति-पत्नी संबंध में दरारें भी पडती हैं।

'वामा शिक्षक' में राधा गंगा से कहती है - "तुम्हारे बहनोई के भी कान भर भर कर उनको मुझसे नाराज़ करा दिया है - वह अपनी माँ के कहने में चलते हैं मेरी एक नहीं सुन्ते।"[2]

---

1. वामा शिक्षक, ईश्वरी प्रसाद, कल्याण राय, पृ. 74
2. वामा शिक्षक, मुंशी ईश्वरी प्रसाद, कल्याण राय, पृ. 74

'भग्यवती' उपन्यास में भाग्यवती को अपने ससुराल से निकाल दिए जाने पर उसके पति भी उसका साथ नहीं देता है। पत्नी से सही बात पूछे बगैर वह अपने पिताजी से कहता है - "जब आप लोग उसको बुरी समझते हैं तो मैं उसको अपने संग नहीं रख सकता। जहाँ इसकी इच्छा हो, अकेली रहा करें।"[1]

उपनिवेशकालीन उपन्यासों में संयुक्त परिवारों की स्त्रियों को यही सिखाया गया कि पढ-लिखकर पर्दे में रहना, अपनी निजी इच्छाओं को अभिव्यक्त नहीं करना, कम से कम धन में गृहस्थी की अच्छी व्यवस्था कर लेना, कभी बहस नहीं करना, विशेषकर पुरुषों से। इसी तरह 'स्त्री को शिक्षित और समझदार बनाकर उसे 'सुशिक्षित दासी' बनाने के उन्नीसवीं सदी के नीतिपरक साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[2]

नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में संयुक्त परिवारों में रहनेवाली स्त्रियाँ यद्यपि मौन, सिर झुकाये, आँखें ज़मीन पर गडाये, दूसरा की सुनने और उनकी मर्ज़ी पूरी करनेवाली थी, तो भी अपनी मौन से प्रतिशोध करनेवाली भी थीं।

गीतांजलिश्री की 'माई' उपन्यास में माई बदलने के लिए तैयार नहीं थी लेकिन अपने प्रेम, त्याग और सेवाभाव से निःशब्द प्रतिरोध करती है। माई की बेटी सुनैना बार-बार कहती है कि उसे माई नहीं बनना, फिर भी वह माई के सामने झुक जाती है - "आप ही झुक जाती हूँ, उस 'अथाह कमज़ोरी' के आगे जिसने मुझ

---

1. भाग्यवती, श्रद्धाराम किल्लौरी, पृ. 43
2. वामा शिक्षक प्रस्ताविका, पृ. 21

ताकतवर को आड़ दी। मेरी बेड़ियाँ खुलने दी, आग लहकने दी, गति आने दी। उसकी अथाह कमज़ोरी ने ही मुझे लडा दिया।"[1]

प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' में प्रिया जब छोटी थी, अपनी माँ को बिल्कुल पसंद नहीं करती थी। किंतु जब वह बड़ी हो गई तब उसे महसूस हुआ कि पिता की मृत्यु के बाद माँ ने पूरे परिवार का दायित्व सशक्त रूप से अपने ऊपर ले लिया था - "अम्मा मज़बूत नहीं रहती तो चाचा लोग हमें रास्ते पर बैठा देते। कुल मिलाकर एक ओर भोली संवेदना थी, कोई लाग-लपेट नहीं, कोई स्वार्थ नहीं, तो दूसरी ओर परिवार की इज्ज़त और आन-बान रखने में जी-जान से संघर्ष करती हुई अम्मा। अम्मा को ही क्या मिला? उन्होंने कब दुनिया देखी? एक-एक पैसा जोड़कर घर चलाती हुई चार-चार बेटियों की माँ!"[2]

कृष्णा सोबती के 'समय सरगम' उपन्यास में ईशान के अनुसार पारिवारिक संबंध गहरे होते हैं। छोटे-छोटे दावों के बावजूद उनके बहुत कुछ अच्छा और मूल्यवान होता है। वे संयुक्त परिवार के पक्ष में हैं। ईशान कहते हैं कि - "संयुक्त परिवार की गुणिता को तो हम फिर से खोज रहे हैं। हमारा देशगत संस्कार इसी की जड़ों में से पनपा है।"[3] लेकिन आरण्या मानती है कि संयुक्त परिवारों में भी परिवार का स्वामीत्व व्यक्ति की उत्पादक हैसियत से जुड़ा है। वह कहती है - "ईशान, मुझे संयुक्त परिवार का अनुभव नहीं। दूर-पास से जो इसकी आवाज़े

---

1. माई, गीतांजलिश्री, पृ. 61
2. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 91
3. समय सरगम, कृष्णा सोबती, पृ. 64

सुनी, वह सुखकर नहीं थीं। इतना जानती हूँ कि परिवार की सुव्यवस्थित अस्मिता और गरिमा का मूल्य भी उन्हें ही चुकाना होता है जिनका खाता दुबला हो। परिवार की साँझी श्री पैसे के व्यापारिक प्रबंधन में निहित हैं।"[1]

समाज सेवा के क्षेत्र में उतरनेवाली स्त्रियाँ संयुक्त परिवार की देन मानी जाती है। परिवार में बहुत सारे लोग होने के कारण कोई सदस्य आसानी से समाज सेवा में अपना समय दे सकता था। पंडिता रमाबाई जैसी प्रसिद्ध समाज सेविका इसी व्यवस्था की देन है - 'माई' उपन्यास की माई समाज सेवा में जुट जाती थी "कभी थोक में उन खरीदी गई और अनाथों के लिए स्वेटर बुने गए। कभी क्लब में मेला लगा, दुकाने सजी, माई ने गाजर का हलवा बेचा, लकी डिप, रैफल, ऐन शैन स्टॉल लगे जिनमें बीवियाँ दुकानदारिने बनी, बाजे बजे, बत्तियाँ, जगमगाई और जो पैसा आया वह चन्दे के डिब्बे में टनटना के गिरा और विधवाश्रम पहुँच दिया गया।"[2]

संयुक्त परिवार-प्रणाली वाले समाज में वृद्धों, रोगियों, अपाहिजों और अशक्तों को अलग सामाजिक सेवाओं की कोई आवश्यकता न थी। सभी को परिवार में समान संरक्षण मिलता था और परिवार की महिलाएं ऐसे अशक्त व्यक्तियों की सेवा करना अपना धर्म समझती थीं। ये अशक्त व्यक्ति परिवार पर बोझ नहीं माने जाते थे, इसलिए उपेक्षित नहीं, परिवार के सम्मानित अंग होकर रहते थे।

---

1. समय सरगम, कृष्णा सोबती, पृ. 64
2. माई, गीतांजलिश्री, पृ. 99

द्वितीय महायुद्ध के बाद औद्योगीकरण और शहरीकरण के फलस्वरूप लोग गाँवों को छोड़कर शहरों की ओर जाने लगे। लेकिन शहर जाकर भी वे खुश नहीं हुए। आवश्यक वस्तुओं का अभाव, महंगाई, बेकारी, बीमारी आदि से लोग पीड़ित रहते थे। उपनिवेशकाल में संयुक्त परिवार प्रणाली होने के कारण परिवार के सदस्यों का जीवन निर्वाह किसी-न-किसी प्रकार होता था। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संयुक्त परिवार की प्रणाली टूट गई और यूरोपीय ढंग की एकल परिवार रूपायित होने लगा।

एकल परिवार

परंपरागत संयुक्त परिवार में हुए परिवर्तनों ने परिवार के आकार को छोटा कर दिया है। इसे औद्योगीकरण की देन ही कहा जा सकता है क्योंकि उद्योग के विकास के बाद ही परंपरागत संयुक्त परिवार और ग्रामीण संरचना का गुणात्मक परिवर्तन हुआ है। कई पीढ़ियों के सदस्यों के एक साथ मिलकर बने विशाल संयुक्त परिवार, अब अधिकाधिक पति-पत्नी और अविवाहित बच्चों के परिवार की छोटी इकाई का रूप ले रहा है। इसे समाजशास्त्री नाभिक परिवार या एकल परिवार (nuclear family) कहते हैं। इन परिवारों को प्राथमिक (primary) या तात्कालिक (immediate) परिवार भी कहा जाता है क्योंकि इसके सदस्य केवल वही व्यक्ति हो सकते हैं जिन्होंने इसमें जन्म लिया हो अथवा दम्पति द्वारा गोद लिए गए हों। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एकल परिवारों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है और इसे सामाजिक रूप से मान्यता भी मिल गई है।

एकल परिवार में पति-पत्नी की स्थिति संयुक्त परिवार से बिल्कुल अलग है। कभी-कभी सिर्फ पति की आमदनी से घर का निर्वाह नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में जीवनयापन के लिए स्त्री को भी बाहर नौकरी के लिए जाना अनिवार्य हो जाता है। वह घर की पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेती है, साथ ही बाहर काम के लिए भी जाती है। पहले की अपेक्षा वह कम संतानों की इच्छा रखती है। स्त्री ज़्यादा से ज़्यादा शिक्षित होना चाहती है। स्त्री के इस बढ़ते दायित्व बोध ने उसे विद्रोही बना दिया है। सब कुछ न कर पाने की अतृप्ति उसे मानसिक कुंठा ग्रस्त कर देती है, जो पारिवारिक विघटन के लिए अनुकूल वातावरण बना देता है।

नासिरा शर्मा के 'शाल्मली' उपन्यास में शाल्मली को विवाह के कुछ दिनों बाद ही, उसके और नरेश के बीच कुछ टूटा सा लगने लगा। पति-पत्नी के बीच प्रेम के स्थान पर स्वामी और दासी का संबंध है - "स्वामी और दासी का यह संबंध एक काली छाया बन उसके और नरेश के बीच एक मज़बूत दीवार का रूप धरने लगी थी।"[1]

एकल परिवार की कामकाजी स्त्री को घर और दफ्तर की दोहरी ज़िम्मेदारी लेनी पड़ती है। उस समय वह पति की सहायता चाहती है। नरेश शाल्मली की सहायता करने के लिए तैयार नहीं है। ऊपर से वह पत्नी द्वारा बनाए गए खाने का बुरा कहता हुआ बाहर चला जाता है - "ऐसा पत्नी, जो अपने को पति से अधिक

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 10

चतुर, सुदृढ़ और व्यवहार कुशल समझती हो, उसके पति के भाग्य में ढाबे का खना ही लिखा है।" नरेश ने घृणा से कहा।[1]

आधुनिक कामकाजी औरत पुरुष के समान बाहर नौकरी करती है। लेकिन घर आने पर उसे घर का काम अकेला करना पड़ता है। भारतीय मर्द चाहे जितने ही पढ़े-लिखे हो, घरेलू काम में पत्नी के हाथ बँटाने में शर्माते हैं। शाल्मली के नरेश को भी पत्नी की सहायता करने में कोई दिलचस्पी नहीं। वह कहता है - "ओह नो! यह औरतों के कामों में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है।" "औरत-मर्द क्या होता है।" शाल्मली उसे पकड़ती। "घर औरत का होता है, वह जाने। कमाना मर्द का काम है, वह मैं करता हूँ। अपने ऑफिस के काम में तुम्हारी सहायता लेता हूँ क्या?....."[2]

वास्तव में बच्चा पैदा करने के सिवाय बाकी सारा काम स्त्री के समान पुरुष भी कर सकता है। संयुक्त परिवारों में, जहाँ स्त्रियाँ ज्यादातर घरेलू कामकाज ही करती थीं, वहाँ पुरुषों को घर के काम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इसके प्रभाव से शायद एकल परिवार में ज़रूरत पड़ने पर भी वे कुछ भी करने के लिए तैयार नहीं होते हैं। भारतीय समाज में पुरुषों की गलतफहमी है कि घर के कामों में पत्नी के हाथ बँटाने से उसका पौरुष गिर जाएगा - "घर के कामों में शाल्मली का हाथ बँटा कर वह अपना महत्व खत्म नहीं करना चाहता। वैसे भी

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 12
2. वही, पृ. 33

अक्सर पत्नी के साथ रहना लोगों की दृष्टि में एक निरीह स्थिति तो है और ऊपर से घर का काम करना, यानी अपने को निहत्या करना था और मर्द बने रहने का आखिरी हथियार वह किसी तरह डालना नहीं चाहता है।"[1]

एक साथ मिलकर काम करने से पति-पत्नी में परस्पर प्रेम बढ़ जायेगा और वैवाहिक जीवन में खुशियाँ खिल उठेंगी।

नवउपनिवेशकालीन पति पत्नी से बाहर नौकरी करवाना चाहता है, उसका पैसा भी चाहता है, लेकिन घर की जिम्मेदारियों में कोई कमी नहीं आनी है। छिन्नमस्ता उपन्यास का नरेन्द्र प्रिया से कहता है - ".....और देखो प्रिया! जिस दिन तुमने काम शुरू किया था, उसी दिन मैंने कह भी दिया था - काम करो पर यह मत भूलो कि तुम विवाहिता हो, एक बच्चे की माँ हो, अग्रवाल हाउस की बहू हो।"[2]

परिवार में रहते हुए नारी को अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है। यांत्रिक जीवन की अवकाशहीनता ने निरर्थकता, संत्रास, घुटन, कुंठा तथा अनेक विकृतियों को जन्म दिया है। जो स्त्रियाँ आजीविका के साधन स्वयं जुटाती हैं, उनके मन में पुरुष की दासी बनकर जीने की कोई इच्छा नहीं है। आजकल स्त्री और पुरुष दोनों स्वतंत्र व्यक्तित्व चाहते हैं, जिससे विवाह जैसे पवित्र बंधन ढ़ीले पड़ रहे हैं।

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 83
2. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 11

विवाह

विवाह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जहाँ पुरुष और स्त्री अपने माता-पिता को छोड़कर एक साथ मिलें रहेंगे और वे एक ही तन बने रहेंगे। विवाह पति-पत्नी का एक हो जाने का रिवाज है। विवाह धर्म-सम्मत, समाज-सम्मत और मान्य भी है। विवाह के भीतर स्त्री-पुरुष संसर्ग और संतानोत्पत्ति मान्य होती है। बाइबिल को माननेवाले पति-पत्नी संबंध को आजीवन का संबंध मानते हैं, जिसे मृत्यु के अलावा किसी भी मनुष्य को तोड़ने का अधिकार नहीं है। परस्त्री या परपुरुष संबंध हर काल में उचित नहीं स्वीकारा जाता है। सदैव ऐसे लोगों को हेय दृष्टि से देखा जाता है।

उपनिवेशकाल में घरवाले ही विवाह तय करने थे। विवाह करनेवाले पुरुष और स्त्री आपस में बातचीत नहीं करते थे। कभी-कभी उन्हें आपस में देखने का मौका भी नहीं मिलता था। इसलिए पूर्व प्रेमचंदकालीन उपन्यासों में पति-पत्नी का मानसिक मिलन परमेश्वर की दया से माना जाता था।

'देवरानी-जेठानी की कहानी' में छोटेलाल और उसकी पत्नी के संबंध में कहा गया है - "और यह बात परमेश्वर की दया से होती है कि दोनों स्त्री-पुरुष के चित्त इस तरह से मिल जायें। ....जब यह दोनों मिलते, एक दूसरे को देख बहुत प्रसन्न होते। इधर वह उसके मन की बात पूछती और अपनी कहती। इधर उसकू इस बात का बड़ा ही ध्यान रहता कि कोई बात ऐसी न हो जिससे इसका मन दुखे। उसकी बेसलाह कोई काम न करता।"[1]

---

1. देवरानी जेठानी की कहानी, पं. गौरीदत्त शर्मा, पृ. 14

उपनिवेशकाल में पत्नी को पति से निम्न माना जाता था। पत्नी का धर्म पति के अधीन रहकर उसकी सेवा करना था। उसे किसी भी बात में पति से हठ न करना था और पति का कहना मानकर चलना था। शास्त्रों के अनुसार ऐसी स्त्रियों को वैकुण्ठ प्राप्त होता है।

वामाशिक्षक में ज्ञानो गंगा को पत्नी का धर्म समझाती है - "बेटी तुमको सोचना चाहिए कि पुरुष और स्त्री में क्या संबंध है - पुरुषों का पद, भगवान ने स्त्रियों से बड़ा रक्खा है - शास्त्र में लिखा है कि जहाँ तक हो सके स्त्रियाँ अपने पुरुषों की टहल करें और उनके अधीन रहें उनकी सम्मति के विरुद्ध काम करना अपना जन्म भ्रष्ट करना है"[1]

ज्ञानो गंगा से पति के साथ मेल मिलाप रखने के लिए भी आह्वान करती है जिससे वह जीवन भर प्रसन्न रह सकती है - "मेल-मिलाप रखने के लिए कुछ बातें बहुत आवश्यक हैं - पहले अपने पुरुष का आदर सम्मान रखना दूसरे उसको सदा बड़ा समझना यह बड़ी अज्ञानता की बात है कि स्त्री अपने पुरुष को अपने समान जाने - तीसरे अपने पीहर की कोई ऐसी बात जिस्से अपना बड़प्पन जाना जाए पुरुष के सामने न कहे कि वह उसको सुनकर अप्रसन्न हो...."[2]

पति से कभी झूठ न बोलने और कोई काम छिपाकर न करने के लिए ज्ञानो उपदेश देती है - "कभी झूठ न बोलियो - कभी कोई काम अपने पति से

---

1. वामा शिक्षक, ईश्वरीप्रसाद, कल्याण राय, पृ. 50
2. वही, पृ. 50

छिपाकर न कीजियो - कोई भेद उस्से न छिपाना क्योंकि झूठ बोलने से और कोई काम छिपाकर करने से और भेद छिपाने से यह हानि है कि जब उनमें से कोई भेद खुल जाता है तो जी फट जाता है फिर जी मिलना डूबर पड़ जाता है"[1]

भाग्यवती में पंडिताजी उमादत्तजी विवाह में धन का अपव्यय न करने और वह धन बेटी को देने की सलाह देता है - "भला कहो तो विवाहों में जो लोग सहस्त्रों रुपये वृथा लुटा देते हैं यह बात किस शास्त्र में लिखी है क्या अच्छी बात हो कि जो द्रव्य डोम, भाट और नाचनेवाली वेश्याओं को जाता है, वह बेटी को दिया जाया करें।"[2] प्रेमचंद के उपन्यासों में हम देखते हैं कि स्त्री अपनी मर्जी से विवाह नहीं कर सकती थी। उसे माँ-बाप का कहना मानना पड़ता था। सेवासदन के सुमन विट्ठलदास से कहती है - "मैं एक ऊँचे कुल की लड़की हूँ। पिता की नादानी से मेरा विवाह एक दरिद्र मूर्ख मनुष्य से हुआ, लेकिन दरिद्र होने पर भी मुझसे अपना अपमान नहीं सहा जाता था।"[3] निर्मला अपने विवाह की बात सोचती है - "अपराधी जैसे दण्ड की प्रतीक्षा करता है, उसी भाँति वह विवाह की प्रतीक्षा करती थी उस विवाह की, जिसमें उसके जीवन की सारी अभिलाषाएँ विलीन हो जायेंगी। जब मण्डप के नीचे बने हुए एक हवन कुण्ड में उसकी आशाएँ जलकर भस्म हो जायेंगी।"[4]

---

1. वामा शिक्षक, ईश्वरीप्रसाद, कल्याण राय, पृ. 51
2. भाग्यवती, श्रद्धाराम फिल्लौरी, पृ. 10
3. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 68
4. निर्मला, प्रेमचंद, पृ. 6

निरालाजी के उपन्यासों में स्त्री जागृत होती हुई दिखाई पड़ती है। निरुपमा जो पहले अपने परिवारवालों की इच्छा के विरुद्ध कुछ करने के लिए तैयार नहीं थी, बाद में अपने मन पसंद वर चुन लेती है। कमल ने महिलाओं से कहा - "आज निरु का भी विवाह यहाँ हुआ है, ऊपर। वह पहले घरवालों की इच्छा से चल रही थी, पर बाद को सब हाल मालूम कर वह अपनी अनुवर्तिता की। खुद सोच-समझ कर योग्य वर चुना।"[1]

जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' में प्रमोद की बुआ मृणाल अपनी पति के घर छोड़कर किसी दूसरे पुरुष के साथ रहती है। प्रेमचंद काल में यह स्त्री का एक 'बोल्ड स्टेप' है। जब प्रमोद ने बुआ को घर ले चलने की बात की तब वह बोली - "ज़रूर ले चलेगा, तो सुन, मैं नहीं जाऊँगी, मैं नहीं जा सकती। तुम मुझको नहीं जानते हो, मैं पति के घर को छोड़कर आ गई हूँ, पति है पर दूसरे पुरुष के आसरे पर रह रही हूँ, उसके साथ रह रही हूँ।"[2]

यशपाल के बौद्धकालीन उपन्यास 'दिव्या' में दिव्या अपने पिता और संपूर्ण प्रासाद के सामने अपने मनपसंद विवाह की बात साहस के साथ कहती है - "तात और संपूर्ण प्रासाद जान ले, आर्य पृथुसेन के अतिरिक्त मैं किसी से विवाह नहीं करूँगी। आर्य पृथुसेन ने ही मेरे पाणि के लिए तात के सम्मुथ प्रार्थना नहीं की, मैं स्वयं यही चाहती हूँ। अन्य कुछ नहीं चाहती; यह सब जान ले। मेरे लिए किसी

---

1. निरुपमा, निराला, पृ. 132
2. त्यागपत्र, जैनेन्द्र, पृ. 52

अन्य वर की संभावना नहीं। यह जानने पर ही तात आर्य की प्रार्थना पर उचित ध्यान देंगे। विवाह भी विलंब ने नहीं.... आर्य के युद्ध पर जाने से पूर्व ही करना चाहती हूँ।"[1]

स्वतंत्रता परवर्ती समाज में पूँजीवाद और नागरिक सभ्यता के बढ़ने से व्यक्ति स्वार्थी और पहले से अधिक आत्मकेन्द्रित बनता जा रहा है। वैवाहिक मूल्यों में भी क्रांतिकारी परिवर्तन आए हैं। आज विवाह जन्म-जन्मांतर का संबंध न होकर एक समझौता बन गया है। आज प्रेम-विवाह, अंतर्जातीय विवाह, विज्ञापनों द्वारा विवाह, विवाह के पूर्व लडके-लडकी का रागात्मक संबंध, तलाक, पुनर्विवाह आदि बडे पैमाने पर चल रहा है। यौन संबंधी धारणाओं में भी शिथिलता आ गई है। अब विवाह पूर्व यौन-संबंध को युवा पीढ़ी ले स्वीकार किया है।

उषा प्रियंवदा के 'रुकोगी नहीं राधिका' की राधिका भारतीय पारंपरिक मान्यताओं को टुकराकर एक विदेशी पुरुष डैन के साथ विदेश चली जाती है और उसके साथ एक वर्ष तक बिना विवाह किए रहती है। इसके अलावा वह अक्षय तथा मनीश के साथ विवाहेतर संबंध भी रखती है। राधिका अपने विवाह के प्रति बड़ा स्पष्ट दृष्टिकोण रखती है। वह विवाह के संबंध में कहती है - "मेरे जीवन में प्ले-ब्वॉय के लिए स्थान नहीं है। मैं संगी चाहती हूँ, जिसमें स्थिरता हो, औदार्य हो, जो मुझे मेरे सारे अवगुणों सहित स्वीकार कर ले। मेरे अतीत को झेल ले।"[2]

---

1. दिव्या, यशपाल, पृ. 51
2. रुकोगी नहीं राधिका, उषा प्रियंवदा, पृ. 26

विवाह पूर्व गलत प्रवृत्तियों से वैवाहिक जीवन में दरारें पड़ सकती हैं। वैवाहिक ज़िंदगी पूरी स्वाभाविकता से नहीं जी पाता। जब लड़का और लड़की निष्कलंक रूप से विवाह में प्रवेश करता है, तब जीवन बेहद आस्वदनीय बन जाता है। चित्रा मुद्गल के 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में मेहता अपने असंतृप्त वैवाहिक जीवन के संबंध में अंकिता से कहता है - "यू नो अंकू.... युवावस्था में कुछ ऐसी गलत प्रवृत्तियों का शिकार हुआ कि कुछेक समय तक अपनी वैवाहिक जिंदगी को पूरी स्वाभाविकता से नहीं जी पाया.... वह पूरी स्वाभाविकता से उसे जीने को उत्कंठित रही.... शायद, मुझे विमुख होने का यही कारण रहा हो लेकिन.... कभी-कभी तो घर से भाग जाने की इच्छा होती है....."[1]

आधुनिक स्त्री शादी में आस्था नहीं रखती है। वह पत्नी नहीं, सहचरी बनना चाहती है क्योंकि उसे 'पत्नी' शब्द में दासीत्व की बू आती है।

सुधीर गुप्ता अपने बीवी बच्चों को छोड़कर नीता के नए फ्लैट में उसके साथ आकर रहने लगा। नीता को इसमें कोई बुराई नहीं लगती। वह कहती है - "जानती हूँ - सुधीर के मन-प्रांगण का वह कोना सर्वथा रिक्त है और मैं पत्नी नहीं, सहचरी बनना चाहती हूँ। उस कोने को ढेरों फूलों से भरती उसकी जीवन सहरचरी। पत्नी शब्द में मुझे दासीत्व की बू आती है.... हम शब्द ने हमारे समाज में अपनी गरिमा खो दी है।"[2] लेकिन अंकिता नीता से कहती है - "....मैं वैवाहिक

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 28
2. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 198

व्यवस्था को दो व्यक्तियों के साथ और आत्म सम्मानपूर्ण साझेदारी के रूप में देखती हूँ।"[1] नीता और सुधीर के बीच 'लिव इन रिलेशनशिप' (Live-in-relationship) है जो आधुनिक संस्कृति का ही एक हिस्सा है। शादी में समाज और कानून की मान्यता है, बल्कि 'लिव इन' में ऐसा कुछ नहीं है। इसलिए इसमें शादी जैसी प्रतिबद्धता भी नहीं है।

मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' में असीमा की माँ उसे लिव-इन-रिलेशनशिप के लिए प्रोत्साहित करती है - "शादी की बात मैंने कब कही?" माँ बोली। "क्या मतलब?"

"साथ रह लेने में क्या हर्ज है?"

"यह तुम कह रही हो, माँ।"

"तुझे तो चुनौतियों से लड़ने में मज़ा आता है। फिर इस चुनौती से क्यों भागी फिर रही है?"

हतप्रभ असीमा, माँ का चेहरा देखती रह गई।[2]

विपिन की माँ उसके बाप के गुज़र जाने के बाद तीस वर्ष चौबीसों घंटे रोती रही। इससे विपिन को शादी से चिढ़ हो गई। वह शादी के संबंध में कहता है - "वह ऐसी व्यवस्था है, जो एक इनसान को दूसरे पर इस कदर निर्भर बना देती है, कि खुद अपनी ज़िन्दगी पर उसका कोई अख्तियार नहीं रहता। उसके नाम से

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 192
2. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 200

ही उसके बदन में चींटियाँ काटने लगती है।"[1] इसलिए वह ऐसी स्त्री का सहचर्य प्राप्त करना चाहता है जो बौद्धिक, महत्वाकांक्षी व स्वार्थी है, विवाह के बंधने में उसी की तरह कवराती है और जिसको प्रेम में आस्था, किसी हरामी से तनिक अधिक नहीं है।

नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंधों में बहुत अधिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। स्त्री सती सावित्री तथा दासीवाली 'इमेज' से बाहर आ गई है। वह पति के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलना चाहती है। पति-पत्नी का पवित्र बंधन आज ढीला पड़ रहा है। छोटी-मोटी बातों के लिए तलाक एक आम बात बन गई है।

तलाक

तलाक या विवाह-विच्छेद का अर्थ सामाजिक और वैधानिक दृष्टि से पति-पत्नी संबंधों का अंत ही है। वैदिक काल में किन्हीं विशेष परिस्थिति में विवाह विच्छेद मान्य था। मनु ने 'मद्य पीनेवाली, बुरे चाल-चलन की, पति का विरोध करनेवाली, सदा बीमार रहनेवाली, मारनेवाली और सदा धन का नाश करनेवाली पत्नी को छोड़कर या उसके रहते हुए भी दूसरी स्त्री से विवाह तथा पागल, पतित, नपुंसक, बीजरहित तथा रोगी पति को त्यागने का विधान बताया है।"[2]

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 198
2. भारतीय समाज : संरचना और परिवर्तन, सत्यपाल रुहेल, पृ. 205-206

ईसा मसीह ने अपने चेलों को तलाक के संबंध में इस प्रकार शिक्षा दी थी - "जो कोई व्यभिचार को छोड़ और किसी कारण से अपनी पत्नी को त्यागकर दूसरी से विवाह करे, वह व्यभिचार करता है, और जो उस छोडी हुई से विवाह करें, वह भी व्यभिचार करता है। सृष्टि के आरंभ से परमेश्वर ने नर और नारी करके उनको बनाया है। इस कारण मनुष्य अपने माता-पिता से अलग होकर अपनी पत्नी के साथ रहेगा, और वे दोनों एक तन होंगे; इसलिए वे अब दो नहीं पर एक वान हैं। इसलिए जिसे परमेश्वर ने जोड़ा है, उसे मनुष्य अलग न करें।"[1]

वैवाहिक जीवन का सबसे बडा शत्रु है, स्वार्थता। जब पति-पत्नी एक दूसरे को अपने से श्रेष्ठ समझकर प्रेम और सम्मान देने के लिए तैयार होते तब विवाह-विच्छेद की कोई संभावना नहीं रहती। तलाक के मूल कारणों में सबसे प्रमुख है - प्रेम का अभाव। प्रमचंद पूर्व काल में तलाक की कोई गुंजाइश ही नहीं थी। इसका कारण यह था कि उस काल में नारी को पतिव्रता बनने और संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों के साथ 'एडजस्ट' करने की शिक्षा दी जाती थी। पति को परमेश्वर मानकर उसका आदर और अनुसरण करके जीनेवाली स्त्री का चित्रण तत्कालीन उपन्यासों में मिलता है।

प्रेमचंद कालीन उपन्यासों में भी पति-पत्नी के बीच मतभेद लक्षित होता है लेकिन कानूनी तौर पर तलाक नहीं होता है। सेवासदन की सुमन पति को छोड़कर वेश्या भोली के पास चली जाती है।

---

1. बाइबिल, मरकुस 10:2-12, मत्ती 19:9

त्यागपत्र की मृणाल पति को छोड़कर किसी दूसरे पुरुष के आश्रय में रहती है।

निर्मला की माँ कल्याणी, पति द्वारा अपमानित किए जाने पर बच्चों की खातिर सब कुछ सहने के लिए तैयार होती है। 'कल्याणी के मन में संकल्प-विकल्प होने लगे। पति की बातें याद आती तो मन होता, घर को तिलांजलि देकर चली जाऊँ। लेकिन बच्चों का मुँह देखती तो वात्सल्य से चित्त गद्‌गद् हो जाता। बच्चों को किसपर छोड़कर चली जाऊँ?..... तुम्हारे लिए सब कुछ सह लूँगी। निरादर अपमान, जली-कटी, खोटी खरी, धुड़की-झिड़की सब तुम्हारे लिए सहूँगी।"[1]

'आपका बंटी' की शकुन और उसका पति अजय दोनों शिक्षित व्यक्ति है। बंटी उनका बेटा है। लेकिन वह दोनों के बीच सेतु नहीं बन सका। ऊपर से बंटी को हथियार के रूप में प्रयोग किया जाता है। दोनों ने एक-दूसरे को कभी प्यार किया ही नहीं। सच्चाई यह है कि शकुन और अजय अपने-अपने अहं की तुष्टि में लगे रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों के दाम्पत्य जीवन में खाई बढ़ती गई और तलाक में परिणत हुआ। शकुन को वह रात याद आई जब वकील चाचा उसे समझा रहे थे - "दो जने साथ रहते हैं तो एडजस्ट तो करना ही पड़ता है शकुन, अपने को कुछ तो मारना ही पडता है। और जब उनके सारे हथियार चुक गए थे तो बड़े हताश स्वर में बोले थे, "यदि ऐसा ही है तो फिर अच्छा है कि तुम लोग

---

1. निर्मला, प्रेमचंद, पृ. 12

अलग हो जाओ। संबंध को निभाने की खातिर अपने को खत्म कर देने से अच्छा है कि संबंध को खत्म कर दो।"[1]

नासिरा शर्मा की शाल्मली अपने पति नरेश से ज्यादा कमाती है। वह आत्मनिर्भर है। उनका बच्चे भी नहीं। नरेश द्वारा सताए जाने पर भी वह संबंध को तोड़ना नहीं चाहती है क्योंकि वह मानती है कि - "स्वावलंबी होने का यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि वह परिवार को तोड़ डाले और इन सारी भावनाओं से मुकर जाए जो उसकी पहचान ही नहीं, ज़रूरत भी है।"[2] शाल्मली स्त्री की मुक्ति चाहती है, लेकिन परिवार को तोड़कर नहीं।

पति से अलग रहनेवाली औरत को हमेशा दुश्चरित्र माना जाता है। तलाक का सारा दोष स्त्री के ऊपर ही मढ़ दिया जाता है। वह जितनी ही पढी-लिखी और स्वावलंबी हो, तलाक के बाद उसका जीना मुश्किल हो जाता है। 'एक ज़मीन अपनी' की अंकिता कहती है - "स्वयं अपने विषय में उसे बड़ा कचोट भरा अनुभव है कि औरत की स्वतंत्रता उसकी सबसे बड़ी दुश्मन है, दुश्चरित्रता का प्रमाण-पत्र! सुधांशु से अलग हो जब वह घर लौटी थी, आस-पड़ोस ने ही नहीं, पूरे शहर ने छींटाकशी की थी - "नौकरी करनेवाली लड़की कहीं घर में बंद होकर टिक सकती है? अरे, इसके तो अपने फुफेरे भाई के साथ पुराना चक्कर था, दूल्हे ने रंगे हाथ पकड़ा तो...." सुन सुनकर कुछ रोज़ तो उसने घर से निकलना बंद कर दिया।"[3]

---

1. आपका बंटी, मन्नू भंडारी, पृ. 38
2. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 165
3. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 25

'कठगुलाब में स्मिता और उसका पति जिम जारविस के बीच वाद-विवाद हो जाता है। जिम उसपर बेल्ट लेकर वार करता है। स्मिता भी उसे नीचे पटककर उसपर वार करती है और शरण लेने के लिए 'रॉ' (रिलीफ़ फॉर अब्यूज़्ड विमेन) चली जाती है। वहाँ वह जिम से प्रतिकार लेने का निश्चय करती है। 'स्मिता जिम जारविस के खिलाफ मुकदमा चलाया लेकिन वह हार गई। पाँच सालों के बाद जिम ने उसको तलाक दी।'[1]

समकालीन उपन्यासों में तलाक एक साधारण प्रक्रिया बन गई है। लोगों को तलाक देने और दूसरी शादी करने में कोई हिचक या अपराधबोध नहीं है। परस्पर समझने के नाकामयाब होने से ही पति-पत्नी में कलह उत्पन्न होता है। पति-पत्नी संबंध में अगाध प्रेम और दृढ़ विश्वास होने से वैवाहिक जीन सुदृढ़ और सफल हो सकता है।

प्रेम

सृष्टि के आरंभ से ही स्त्री-पुरुष में स्वाभाविक रूप से प्रेम संबंध स्थापित हो गया था। आदम और हव्वा के प्रेम से लेकर आज तक के प्रेम-संबंध में जीवन का माधुर्य रहता है। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ प्रेम की प्रवृत्तियों में परिवर्तन आया। प्रेम में स्वार्थता के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रेम की सार्थकता देने में है, लेने में नहीं। प्रेम सचमुच एक भावना नहीं है, वह एक निर्णय है। प्रेम

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 115

करनेवाले अपनी संगी के हित के लिए निस्वार्थ रूप से निरंतर कर्म करने का निर्णय, प्रेम कहा जा सकता है।

प्रेम के संबंध में फ्रायड का कहना है - "प्रेम न तो यौन भावना का पर्याय है और न यौन भावना मात्र सम्पूर्ण जीवन का केन्द्र। बल्कि प्रेम में रत दो प्राणियों की अपने अहं (ईगो) के विसर्जन द्वारा प्राप्त पूर्ण एकात्मकता का पर्याय है।"[1] एडलर के अनुसार, "प्रेम एक लक्ष्य तक पहुँचने के लिए माध्यम मात्र है।"[2] वह लक्ष्य परिवार के साथ-साथ काम तुष्टि का भी होता है। सार्त्र के अनुसार "प्रेम में जिसे समर्पण कहते हैं वह आत्मपीड़न के सिवा कुछ नहीं है।"[3]

गाँधीजी कहते हैं कि - "स्त्री-पुरुष दोनों एक दूसरे के साथ सख्य की तुल्य भूमिका पर रह सकते हैं।"[4] उनके इस सख्य भाव का आधार प्रेम दिखलाई पड़ता है।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार - "प्रेम न तो कोई रहस्यपूर्ण उपासना है और न ही पशु तुल्य उपभोग। यह उच्चतम भावों की प्रेरणा के अधीन एक मानव प्राणी का दूसरे मानव प्राणी के प्रति आकर्षण है।"[5] यह आकर्षण विवाह के पहले तथा बाद में भी विकसित हो सकता है। लेकिन स्त्री-पुरुष के मध्य प्रेम परिवार में ही अधिक संभव है। "स्त्री-पुरुष का यही प्रेम पति-पत्नी के रूप में पारिवारिक जीवन

---

1. An outline of psychology, William McDougall, published in 1923
2. आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना, डॉ. विजयमोहन सिंह, पृ. 32
3. वही, पृ. 40
4. स्त्री पुरुष सहजीवन, दादा धर्माधिकारी, पृ. 26
5. धर्म और समाज, डॉ. राधाकृष्णन, पृ. 175

के विकास का सर्जक बना। पुनः क्रमशः विकसित होते हुए माता-पिता, दादा-दादी, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन, चाचा-चाची, मामा-मामी आदि के विभिन्न रिश्तों में गुंथता चला गया। दूसरी ओर यही 'प्रेम' का भाव श्रद्धा, विश्वास, सहयोग, स्नेह, सहिष्णुता, सुरक्षा जैसी भावनाओं में पल्लवित होता हुआ, परिवार के अस्तित्व का पोषक बना रहता है।"[1]

पूर्वप्रेमचंदकालीन उपन्यासों में सामन्तवाद का पतन, संयुक्त परिवारों का टूटना दाम्पत्य संबंधों के विघटन आदि की झलक मिलती है। पति को सांसारिक मोह में पड़कर पारिवारिक दायित्वों के प्रति विमुख दिखलाया गया है तथा स्त्री को पति परायण, पति की सेवा और आदर करनेवाली, दाम्पत्य संबंधों के प्रति आस्थावान गृहिणी के रूप में दिखलाई गई है। ठाकुर जगमोहन सिंह के 'श्यामा स्वप्न' मूलतः एक प्रेम कहानी है। इसमें पुनर्जागरणकालीन प्रवृत्तियों के साथ अन्तर्जातीय प्रेम संबंधों का जिक्र भी किया गया है।

देवकीनन्दन खत्री के 'कुसुमकुमारी' सामंती परिवेश में लिखी गई एक प्रेम कहानी है। इसमें रनबीर और कुसुम की शादी बचपन में हो चुकी थी और इस बात को जानने पर कुसुम एक आदर्श हिन्दू स्त्री की तरह अपने पति रनबीर के प्रति गहरी निष्ठा और भक्ति दिखाती है। उपन्यास के अंत में सारी विघ्न बाधाओं के बाद सच्चे प्रेम की विजय होती है।

---

1. परिवार के सौहार्द, क्षमा गोस्वामी, पृ. 17

प्रेमचंद का प्रेम संबंधी दृष्टिकोण आदर्शपरक है। वह प्रेम को जीवन की सहज और स्वाभाविक प्रवृत्ति मानते हुए भी मर्यादित और आदर्शवादी प्रेम में ही विश्वास करता है। प्रेमचंद का सेवासदन उपन्यास सुधारवादी परंपरा में लिखा गया था। इसमें सदन और सुमन का प्रेम विरोधपूर्ण प्रेम है। वेश्या जीवन बितानेवाली सुमन के प्रति उनके प्रेम में सदन को विश्वास नहीं, कपटता ही लगता है। "उसे सुमन से जो प्रेम था, उसमें तृष्णा ही का आधिक्य था। सुमन उसके हृदय में रहकर भी उसके जीवन का आधार न बन सकती थी।"[1] सदन उस कपट प्रेम के मायाजाल से मुक्त होना चाहता था। 'निर्मला' उपन्यास में भी प्रेम को दहेज प्रथा और अनमेल विवाह की समस्या के संदर्भ में देखा गया है। निर्मला अपने पिता के हम उम्रवाले एक आदमी से प्रेम नहीं, सम्मान ही कर सकती थी। अंत तक बिना प्रेम किए वह अपना पातिव्रत्य धर्म का पालन करती है और इस निर्वाह में ही अपने को होम कर देती है।

'गबन' उपन्यास के रमेश में हमें सच्चा प्रेम दिखाई पड़ता है। रमेश ने रमानाथ से कहा - "....इस विधुर जीवन में मैंने किसी स्त्री की ओर आँख तक नहीं उठाई। कितनी ही सुन्दरियाँ देखी, कई बार लोगों ने विवाह के लिए घेरा भी; लेकिन कभी इच्छा ही न हुई। उस प्रेम की मधुर स्मृतियों में मेरे लिए प्रेम का सजीव आनंद भरा हुआ है।"[2]

---

1. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 105
2. गबन, प्रेमचंद, पृ. 27

प्रसाद प्रेमचंद की भांति प्रेम को आदर्शपरक और मर्यादित न मानकर प्रेम की उन्मुक्तता और स्वच्छन्दता में विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि में प्रेमी-प्रमिका का मानसिक सामंजस्य और हृदयों का मधुर मिलन ही वास्तविक प्रेम है। 'तितली' उपन्यास में तितली और मधुबन के प्रेम में पूर्ण समर्पण है लेकिन पश्चिमी संस्कार वाली शैला के मन में ज़मींदार इन्द्रदेव के प्रति प्रेम आर्थिक स्वतंत्रता पर अधिष्ठित है। शैला इन्द्रदेव से कहती है - "हम लोगों के पश्चिमी जीवन का यह संस्कार है कि व्यक्ति को स्वावलंब पर खड़े होना चाहिए। तुम्हारे भारतीय हृदय में, जो कौटुम्बिक कोमलता में पला है, परस्पर सहानुभूति की - सहायता की बड़ी आशाएँ, परंपरागत संस्कृति के कारण, बलवती रहती है।"[1]

प्रेमचंद प्रेम की सार्थकता विवाह में देखते हैं, तो प्रसाद विवाह से परे प्रेम की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं। 'कंकाल' उपन्यास में विजय कहता है - "जो कहते हैं अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृंखल है, वे भ्रान्त हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो ब्याह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूँ और तुम मुझे, इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों - मन्त्रों का महत्व कितना?.... मैं स्वतंत्र प्रेम की सत्ता स्वीकार करता हूँ, समाज न करें तो क्या।"[2]

निरालाजी के उपन्यासों में तत्कालीन शिक्षा और सुधारवाद के प्रभाव से प्रेम का आधार सौंदर्य से ऊपर उठकर बौद्धिक हो गया था। शिक्षित वेश्या पुत्री

---

1. तितली, जयशंकर प्रसाद, पृ. 62
2. कंकाल, जयशंकर प्रसाद, पृ. 126

कनक (अप्सरा) और साहित्यकार राजकुमार के बीच का समर्पित प्रेम संबंध इसका ज्वलंत उदाहरण है।

निरुपमा का अपनी वर्ग सीमा से बाहर प्रबुद्ध कृष्णकुमार से प्रेम करना उस काल में एक साहसी कदम लगता है। वह सोचती है - "कुमार अविवाहित है, मैं कुमार को चाहती हूँ; भले वह बंगाली नहीं; पर मनुष्य है; कुछ हो या न हो; मैं चाहती हूँ, पहली बात यह है।"[1]

भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' में शुद्ध निस्वार्थ प्रेम को दर्शाया गया है। चित्रलेखा को बीजगुप्त के प्रति गहरा प्रेम था। कुमारगिरि के पागलपन और मूर्खता के एक छोटे से क्षण में आत्मसमर्पण करके वह भ्रष्ट हो चुकी थी। वह बीजगुप्त से इतना प्रेम करती थी कि उसे धोखा देना नहीं चाहती थी। अपराधबोध से चित्रलेखा जब बीजगुप्त से क्षमा माँगती है तब बीजगुप्त कहता है, "चित्रलेखा! तुमने बहुत बड़ी भूल की। तुमने मुझे समझने में भ्रम किया। तुम मुझसे क्षमा माँगती हो? चित्रलेखा! प्रेम स्वयं एक त्याग है, विस्मृति है, तन्मयता है। प्रेम के प्रांगण में कोई अपराध ही नहीं होता, फिर क्षमा कैसी।"[2]

फ्रॉयड के मनोविश्लेषण एवं यौनवाद से प्रभावित होकर हिन्दी उपन्यासों की रचना करनेवाले प्रथम साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमार थे। उन्होंने अपने औपन्यासिक पात्रों का चरित्र-चित्रण समाज के नैतिक मूल्यों और आदर्शों के आधार पर न

---

1. निरुपमा, सूर्यकांत त्रिपाठी निरारा, पृ. 87
2. चित्रलेखा, भगवतीचरण वर्मा, पृ. 138

करके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर किया। 'सुनीता' उपन्यास में सुनीता वैवाहिक जीवन से ऊबी अपने पति के प्रिय मित्र हरिप्रसन्न के प्रेमपाश में बँध जाती है। एक भारतीय नारी होने के नाते वह पतिपरायण है। लेकिन वह प्रेम के आदर्श को पत्नीत्व से ऊँचा मानती है। वह प्रेम को ऐसा जीवन मूल्य मानती है जो नीति, धर्म और समाज के बंधनों से ऊपर है। अपने प्रेमी को मन समर्पित करने के बाद, वह तन भी समर्पित करने में संकोच नहीं करती - "तुम्हारे सामने हूँ। ले क्यों नहीं लेते हो?".... तुम्हें काहे की झिझक है, बोलो। मैंने कभी मना किया है? तुम मारो क्यों? मैं तो तुम्हारे सामने हूँ। इनकार कब करती हूँ? लेकिन अपने को मारो मत। हरी बाबू, मरो मत, कर्म करो। मुझे चाहते हो, तो मुझे ले लो।"[1]

जैनेन्द्रकुमार 'त्यागपत्र' के मृणाल के माध्यम से परंपरागत नैतिक मूल्यों को चुनौती देते हुए प्रेम की पवित्रता को वन की वस्तु न मानकर मन की वस्तु मानती है। मृणाल तन से गरती है, मन से नहीं। वह विवाह से पूर्व प्रेम करती है, विषम परिस्थितियों में पति को छोड़कर एक उपकारी कोयलेवाले की शरण में जाती है, उसको तन देती है और विभिन्न पुरुषों से शारीरिक संबंध स्थापित करती है। लेकिन मन की एकनिष्ठता और पवित्रता के कारण वह सती नारी कही जाती है।

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों की दृष्टि में विवाहित स्त्री पर-पुरुष के साथ प्रेम करने या शारीरिक संबंध रखने पर भी वह कलंकित नहीं होती है, क्योंकि स्त्री की पवित्रता मन से संबंधित है, तन से नहीं। मनोविज्ञान, अस्तित्ववाद और युग की

---

1. सुनीता, जैनेन्द्र कुमार, पृ. 182

अतिशय बौद्धिकता के फलस्वरूप आदमी एक ओर तार्किक और यथार्थोन्मुख हो गए, दूसरी ओर वह आत्मकेन्द्रित भी हो गया।

'आपका बंटी' की शकुन अपने पति और बेटे से प्रेम नहीं करती है। वह इतना स्वाभिमानी और अहंवादी है कि वह निरंतर इस कोशिश में रहती है कि किसी न किसी प्रकार अपने पति अजय को नीचा दिखाए, उसके अहं को आहत करे और उसे पीडा पहुँचाए। यहाँ तक कि वह बंटी को भी अत्यधिक प्यार इसलिए करती है कि उसे पापा की याद बिल्कुल न आए।

'रुकोगी नहीं राधिका' की राधिका एक कुंठाग्रस्त असामान्य चरित्रवाली युवती है। वह तीन पुरुषों के साथ जुड़ जाती है, डैन, अक्षय और मनीश, लेकिन तीनों से प्रेम नहीं कर पाती। डैन में वह अपने पिता को देखती है। अक्षय उसे अपने लिए उपयुक्त वर नहीं लगता है। मनीश उसके लिए एक प्लेब्वाय से ज़्यादा कुछ नहीं है।

'छिन्नमस्ता' की प्रिया को बचपन से लेकर अनेक पुरुषों की कामासक्तियों की शिकार बनकर पुरुष जाति से ही नफ़रत हो जाती है। उसे अपने पति के साथ शारीरिक संबंध में भी प्यार नहीं लगता है।

'एक ज़मीन अपनी' की नीता विवाह में आस्था नहीं रखती। उसके लिए प्रम परिपक्व मानसिक जुडाव है। वह अंकिता से कहती है - "हम प्रेम करते हैं। हमारा प्रेम मात्र आवेगा नहीं है। न क्षणिक उन्माद! यह परस्पर संवाद है।

परिपक्व! परिपक्व मानसिक जुडाव! हम वर्जनाहीन होकर जीयेंगे।.... बंधनहीन होकर बँधेगे।... रूढ़िमुक्त हो मानसिक वरण!"[1] पति-पत्नी के बीच प्रेम को बढ़ने के लिए बातचीत करना बहुत आवश्यक है। बातचीत किए बिना परस्पर समझने में मुश्किल पड़ जाती है। नासिरा शर्मा के 'शाल्मली' में पति-पत्नी के बीच प्रेम नहीं है - "शाल्मली के पति उससे ज़्यादा बातचीत नहीं करता। शाल्मली के अंदर एक खालीपन है जो कभी भर नहीं पाया था। शाल्मली अभिव्यक्ति को जीवन मानती थी और नरेश भावों को छिपाने में निपुण। शाल्मली स्वयं सोचती है कि अगर खामोशी ही अभिव्यक्ति है तो शब्द और भाषा मनुष्य को क्यों मिलते?"[2]

शाल्मली और नरेश के जीवन में प्रेम ठंडा हो जाने का एक कारण स्वतंत्र रूप से खुलकर बातचीत न करना है। स्त्रियों को पुरुषों से भी ज़्यादा बात करना बहुत ज़रूरी है, नहीं तो उन्हें अन्दर-ही-अन्दर घुटन का अनुभव होता है।

'मुझे चाँद चाहिए' में वर्षा और हर्ष के बीच सच्चा प्रेम है। दोनों के बीच स्वार्थता बिल्कुल नहीं है। वर्षा अपने से भी ज़्यादा हर्ष के बारे में सोचती है। उसका ख्याल रखने की कोशिश करती है। "हर्ष पुरुष और व्यक्ति-दोनों रूपों में मेरा सरोकार है, वर्षा ने सोचा। हमारे बीच कुछ भी निजी और व्यक्तिगत नहीं स्त्री-पुरुष के संबंध का यह नया आयाम उसे किसी चमत्कार से कम नहीं लगा"[3]

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 199
2. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 42
3. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 347

हर्ष के प्रति प्रेम के कारण ही वर्षा शादी के बगैर भी हर्ष के बच्चे को अपनाने के लिए तैयार हो जाती है।

हर्ष की मृत्यु के बाद वर्षा ने प्रेम की अंतिम परिभाषा इस प्रकार दी थी - "किसी को प्रेम करने का अभिप्राय यह है कि उस व्यक्ति के बगल में तुम वृद्ध होने के लिए तैयार हो।"[1]

बाइबिल में प्रेम के संबंध में लिखा हुआ वचन बहुत ही विख्यात है - "प्रेम धीरजवन्त है, और कृपालु है; प्रेम डाह नहीं करता; प्रेम अपनी बड़ाई नहीं करता और फूलता नहीं, वह अनरीति नहीं चलता, वह अपनी भलाई नहीं चाहता, झुंझलाता नहीं, बुरा नहीं मानता। कुकर्म में आनन्दित नहीं होता, परन्तु सत्य से आनन्दित होता है। वह सब बातें सह लेता है, सब बातों की प्रतीति करता है, सब बातों की आशा रखता है, सब बातों में धीरज धरता है। प्रेम कभी टलता नहीं।"[2]

नैतिकता

नीति ही नैतिकता की जननी है। नीति विचार-दर्शन से संबंधित है और नैतिकता उसका व्यावहारिक पक्ष है। नीति शब्द मानव के उचित आचारण का बोधक है। मानव द्वारा किया गया मानवीय और उचित आचरण ही नैतिकता है। नैतिकता के मूल में समष्टि हित की भावना निहित है। समाज के प्रत्येक समूह एवं सदस्य के स्वस्थ विकास एवं उन्नयन के लिए नैतिकता बहुत आवश्यक है।

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 511
2. बाइबिल-1 कुरिंत्तियों 13:4-8

उपनिवेशकालीन भारत अनेक प्रकार की कुप्रथाओं, रूढ़ियों, कुरीतियों और अंधविश्वासों से ग्रस्त था। अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के उपरान्त पश्चिम की बौद्धिक विचारधारा और भारतीय पारंपरिक विचारधारा के समन्वय से एक नई संस्कृति का उदय हुआ जिसके मूल में बुद्धि और तर्क के साथ-साथ भारतीय सुधारवादी दृष्टि भी सक्रिय थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में जब हिन्दी उपन्यास का आविर्भाव हुआ तब उपन्यासकारों का प्रमुख लक्ष्य नैतिक मूल्यों और भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों को अपने उपन्यासों द्वारा प्रस्तुत करना था।

श्रद्धाराम फिल्लौरी के 'भाग्यवती' उपन्यास की रचना का मूल उद्देश्य नारी शिक्षा का प्रसार तथा भारतीय नारी को गृहस्थ धर्म और नैतिकता के प्रति सजग करता है। इसकी भूमिका में लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि स्त्रियों से संबंधित विभिन्न समस्याओं एवं रोज़मर्रा के जीवन और व्यवहार में आनेवाली बातों से सावधान कराने के उद्देश्य से इसका लेखन हुआ है। लेखक के शब्दों में - "बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखूँ कि जिसके पढ़ने से भारतखंड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो क्योंकि यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी-लिखी तो होती है परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देश-विदेश की बोलचाल और अन्य लोगों से बरत-व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती।"[1] उपन्यास की नायिका भाग्यवती को पतिव्रता और अच्छी गृहिणी के रूप में दिखाया गया है। इसके साथ ही शिक्षित होने के कारण उसे ससुराल में बहुत प्रशंसा मिलती है।

---

1. भाग्यवती, श्रद्धाराम फिल्लौरी, भूमिका से, पृ. 9

'देवरानी जेठानी की कहानी' में पण्डित गौरीदत्त शर्मा ने स्त्री शिक्षा का महत्व बताकर प्रथम संस्करण की भूमिका में लिखा "पढी और बेपढ़ी स्त्रियों में क्या क्या अंतर है, बालकों का पालन-पोषण किस प्रकार होता है और किस प्रकार होना चाहिए, स्त्रियों का समय किस-किस काम में व्यतीत होता है। बेपढ़ी स्त्री जब एक काम करती है तो उसमें क्या-क्या हानियाँ होती हैं। पढ़ी हुई स्त्री जब उसी काम को करती है, उससे क्या-क्या लाभ होता है।"[1]

'वामा शिक्षक की भूमिका में भी लिखा गया है कि उपन्यास की रचना का उद्देश्य आर्यों की लड़कियों को नैतिक शिक्षा देना है - "निश्चय है कि इस पुस्तक से हिन्दुओं की लड़कियों को हिंदुओं की रीति-भाँति के अनुसार लाभ पहुँचे और वे सुशील हो और जितनी (बुरी) चालें और पाखंड जिनका आजकल मूर्खता के कारण प्रचार हो रहा है उनके जी से दूर हो जायेंगे और वे बुरी प्रवृत्तियों को छोड़कर अच्छी प्रवृत्तियाँ सीखेगी और उनमें लिखने पढ़ने और गुण सीखने की रुचि होगी, क्योंकि प्रत्येक बुराई का दृष्टांत ऐसी रीति से लिखा गया है कि उसके पढ़ने और सुनने से उनके स्वभावों और उनकी मूर्खताओं के स्वभावों में साहस उत्पन्न होगा और जब साहस उत्पन्न हुआ तो छोड देना और छुड़ा देना उस बुराई का कुछ बात नहीं है और यों ही प्रत्येक भलाई के बहुत से दृष्टांत लिखे गए हैं कि वह भलाई की ओर रुचि दिलाते हैं....।"[2]

---

1. देवरानी जेठानी की कहानी, गौरीदत्त शर्मा, भूमिका से
2. वामा शिक्षक, भूमिका से

देवकीनन्दन खत्री जी के तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास 'कुसुमकुमारी' में प्रेम की एकनिष्ठता पर बल देते हुए भारतीय परंपरागत नैतिक मूल्यों का महत्व दर्शाया गया है।

प्रेमचंद युग मूलतः सुधारवादी युग था। प्रेमचंद ने उपन्यास में कल्पना और रीतिकालीन रोमांस को हटाकर उसे यथार्थ की ठोस धरती पर प्रतिष्ठित कर, युगानुरूप मानव-जीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत किया। पूर्व प्रेमचंदीय नैतिक मूल्यों के मूल में धर्मांधता, रूढ़िवादिता और संस्कारजन्य जड़ता थी तो प्रेमचंद के नैतिक मूल्यों के मूल में बौद्धिकता के साथ-साथ भावुकता भी निहित है। प्रेमचंद युग में धर्माधारित मूल्य टूट रहे थे और उसके स्थान पर अर्थाधारित मूल्य उभर रहे थे। लेकिन प्रेमचंद के उपन्यासों में भारतीय जीवनादर्श, गाँधीवादी दर्शन और रूसी समाजवादी विचारधारा दृष्टिगत होते हैं। प्रेमचंद ने समाज द्वारा तिरस्कृत और प्रताड़ित पतितों औऱ वेश्याओं से घृणा न करके, उनके प्रति दया और सहानुभूति दिखाई हैं। सेवासदन में उन्होंने अपनी इस मानवतावादी दृष्टि को व्यक्त किया है - "हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है, यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्या का रूप धारण किया। यह दाल-मण्डी हमारे ही जीवन का कलुषित प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षत्कार स्वरूप है। हम किस मुँह से उन्हें घृणा करें।"[1]

अनमेल विवाह के शिकार निर्मला अपने पति से बिल्कुल प्रेम नहीं कर पाती है। डॉ. सिन्हा अपनी पत्नी सुधा से कहता है कि निर्मला वकील साहब की

---

1. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 201

खूब शिकायत करती होगी। उस समय सुधा कहती है - "वह शिकायत क्यों करेगी? क्या वह उसके पति नहीं है? संसार में अब उसके लिए जो कुछ है, वकील साहब है। वह बुड्ढे हो या रोगी, पर है तो उसके स्वामी ही। कुलवती स्त्रियाँ पति की निन्दा नहीं करती।"[1]

मन से न चाहते हुए भी पति का आदर करना, उसकी शिकायत न करना, प्रेमचंद युग में कुलवती स्त्रियों का लक्षण माना गया था।

प्रसाद के प्रेम और विवाह संबंधी विचार प्रेमचंद से भिन्न है। प्रेमचंद आदर्शपरक प्रेम के हिमायती है तो प्रसाद स्वच्छंद प्रेम में विश्वास करते हैं। 'कंकाल' उपन्यास में गाला मंगल से कहती है - "स्त्री जिससे प्रेम करती है, उसी पर सरबस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है, यदि वह भी उसका प्रेमी हो तो!"[2]

भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' उपन्यास प्रेमचंदयुगीन कृति है। इसमें परंपरागत नैतिक मान्यताओं को तोड़कर वर्माजी कहते हैं - "संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।"[3]

निरालाजी ने निरुपमा और कुमार के बीच अंतर्वर्गीय विवाह करवाकर तथा अप्सरा में वेश्या पुत्री कनक को राजकुमार से विवाह करवाकर भारतीय परंपरागत नैतिक मान्यताओं का खंडन किया है।

---

1. निर्मला, प्रेमचंद, पृ. 80
2. कंकाल, प्रसाद, पृ. 174
3. चित्रलेखा, भगवतीचरण वर्मा, पृ. 139

जैनेन्द्रकुमार का नैतिकता संबंधी दृष्टिकोण परंपरा से हटकर सर्वथा नवीन है। उनके अनुसार सच्ची नैतिकता परस्पर विश्वास में ही प्रतिकालीन होती है। वह तन से नहीं, मन से जुड़ी हुई है।

सुनीता भारतीय स्त्री के परंपरागत संस्कार को मानने के कारण वह अपने पति के प्रति समर्पित है। वह यह नहीं मानती कि कसी अन्य पुरुष को तन देकर उसका पातिव्रत्य नष्ट हो जाएगा। सुनीता हरिप्रसन्न के सामने पूर्ण रूप से वस्त्रहीन होकर यह साबित कर देती है कि स्त्री सिर्फ देह नहीं है। उस देह को पाकर हरिप्रसन्न का आग्रह समाप्त नहीं होगा। हरिप्रसन्न की उस ग्रन्थि को दूर करने में सुनीता उपलक्ष्य बनती है। सुनीता के पातिव्रत्य के सामने हरिप्रसन्न लज्जित और पराजित हो जाता है।

मृणाल तन और मन के समर्पण में अपने स्त्रीत्व और सतीत्व की सार्थकता मानती है। अपनी स्त्रीत्व की प्राप्ति के लिए वह परंपरागत मान-मर्यादाओं और सामाजिक नियमों की अवमानना करती है। सती नारी होने के नाते वह अपने उपकारी पुरुष को तन देती है। पैसा लेकर तन देना उसकी दृष्टि में वेश्यावृत्ति है लेकिन बिना कुछ पाए तन देना स्त्रीत्व और सतीत्व की पूर्णता है। वह दृढ़ता के साथ कहती है - "....पर एक बात जानती हूँ.... वेश्यावृत्ति नहीं करने लगूँगी, इसका विश्वास रखो। .....जिसको तन दिया, उससे पैसे कैसे लिया जा सकता है? यह मेरी समझ में नहीं आता। तन देने की ज़रूरत मैं समझ सकती हूँ। तन दे सकूँगी। शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसे? दान स्त्री का धर्म है। नहीं तो

उसका और क्या धर्म है? उससे मन माँगा जाएगा, तन भी माँगा जाएगा। सती का आदर्श और क्या है? पर उसकी बिक्री - न, न, यह न होगा....."[1]

यशपाल की नैतिकता संबंधी विचारधारा पर मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनकी मान्यता है कि - "समाज की भौतिक और आर्थिक परिस्थितियों में द्वन्द्व से ही नए विधान अथवा नई नैतिकता, सत्य और न्याय का भी विकास होता है; यही तो मार्क्सवाद का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।"[2] यशपाल ऐसी नैतिक व्यवस्था को नहीं मानता है, जो समाज और मनुष्य के विकास में बाधक है। स्त्री-पुरुष संबंध में वे उच्छृंखलता को नहीं मानते। मात्र भोग-विलास के लिए शरीर का उपयोग करना उनकी राय में अपराध है।

'दिव्या' उपन्यास में दिव्या कुलवधू की दासीत्व से भी वेश्या की स्वतंत्रता चाहती है। आचार्य रुद्रधीर दिव्या को कुलवधू के आसन पर स्थान देने का प्रलोभन देता है। भिक्षु बने पृथुसेन उसे बुद्ध की शरण में शान्ति पाने के लिए आमंत्रित करता है। मारिश दिव्या से कहता है कि वह संसार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति दे सकता है। संतति की परंपरा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है। दिव्या मारिश को स्वीकार करने के लिए तैयार होती है क्योंकि वह जीवन में स्वतंत्रता चाहती है।

---

1. त्यागपत्र, जैनेन्द्र, पृ. 57
2. प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास, नए नैतिक मूल्य, शशि गुप्ता, पृ. 172

'आपका बंटी' की शकुन परंपरागत भारतीय नैतिक मान्यताओं को टुकराकर अपने पति से प्रेम, आदर और समर्पण का भाव नहीं दिखाती है। वह इतना अहंवादी और स्वाभिमानी है कि हमेशा अपने पति को नीचे दिखाने और उसे पराजित करने की कोशिश करती है। फलतः पति-पत्नी के बीच इतनी अधिक दूरी हो जाती है कि अजय तलाक लेने का निश्चय करता है और दूसरी शादी भी करती है। महानगरों में जीनेवाली शिक्षित नारी आधुनिकता के रंग में रंगकर पुराने मूल्यों से मुक्त होना चाहती है लेकिन नए मूल्यों को अपनाने से हिचकती भी है। पुराने और नए मूल्यों के द्वन्द्व में उसका जीवन कुंठा और घुटन से ग्रस्त होता है।

'रुकोगी नही राधिका' की राधिका भारतीय संस्कार एवं नैतिक मान्यताओं की कोई परवाह नहीं करती है। आधुनिक शिक्षा और अस्तित्ववादी विचारधारा के प्रभाव से उसके पारिवारिक मान्यताओं में बहुत कुछ परिवर्तन आया है। राधिका अपने अस्तित्व और स्वतंत्रता की खोज में भटकती है। यह खोज डैनियल पीटरसन और अक्षय से होती हुई मनीश पर आकार रुकती है। राधिका स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है। वह अपने ऊपर किसी का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। इसलिए अंत तक वह अपना भविष्य तय नहीं कर पाती है।

कृष्णा सोबती के 'समय सरगम' में दो बुजुर्ग व्यक्ति ईशान और आरण्या सामाजिक नैतिक मान्यताओं की परवाह किए बिना एक साथ एक छत के नीचे रहने का निश्चय करते हैं। विधुर ईशान और अविवाहित आरण्या को लगता है कि अकेला जीवन व्यतीत करने से बेहतरीन सुख-दुख बाँटकर मिलकर जीना है।

आधुनिक स्त्री पारंपरिक नैतिक मान्यताओं को निभाना अर्थशून्य मानती है। उसे लगता है कि ज़िंदगी में कुछ हासिल करने के लिए परंपरागत सामाजिक वर्जनाओं को तोड़ सकती है। 'एक ज़मीन अपनी' की नीता अंकिता से कहती है - "मैंने मैथ्यू से कहा था, डोंट वरी, मुझे रख लीजिए। मेरे साथ वो वर्जनाएँ नहीं है जो अंकिता के साथ है। सच तो यह है अंकू। मैं ज़िंदगी में जो कुछ हासिल करना चाहती हूँ उसे तुम्हारी तर्ज पर चलकर कोई लड़की हासिल नहीं कर सकती...."[1]

नीता की श्लील-अश्लील संबंधी धारणा भी आधुनिक लगती है - ".....आखिर लड़कियाँ इतनी छुई मुई क्यों है....? क्यों वे सेक्स से आक्रांत है? इस देश में हालत यह है अंकू कि किसी लड़के का किसी लड़की को गहरी नज़र से देख भर लेते मात्र से उसकी पवित्रता नष्ट होने लगती है। क्यों? पुरुष उसे क्या दे रहा है, वह किन चीज़ों की हकदार है - यह कटोरा लेकर भिक्षाटन से नहीं प्राप्त होगा - उसे सबसे पहले अपने भीतर की कुंठाओं से मुक्त होना है - दृष्टि परिमार्जित करनी है - यानी सेक्स से पवित्र-अपवित्र होने की भावना से स्वयं मुक्त होना है, तभी, केवल तभी वह समाज में मनुष्य की तरह जीवित रह सकती है - बराबरी पर।"[2]

'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रिया का अपने सगे भाई द्वारा लैंगिक शोषण उसके व्यक्तित्व विकास में प्रतिकूल पड़ता है। वह अपने वैवाहिक जीवन में पराजित होती है, संपूर्ण पुरुष जाति से नफ़रत भी करने लगती है।

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 75
2. वही, पृ. 116

इदन्नमम की कुसुमा दाऊ जू के साथ विवाहेतर संबंध रखने में कोई बुरा नहीं मानती। वह मंदा से कहती है - "अकेले थे हम मंदा! निपट अकेले! झुलस झुलसकर मर रहे थे। प्यासे तड़प रहे थे। दाऊ जू आ गए हमारे बीहड़ में। सीतल झरना होके बहने लगे। उजाड़ ज़िन्दगानी के टूटे-फूटे मंदिर में ज्यों पिरभू देवता का रूप धरकर खड़े हो गए हो। बस.... सोई हम उनकी सरन में जा गिरे जोगिन-तपसिन की तरह।"[1]

"कुसुमा जैसे चरित्रों के मार्फत मैत्रेयी भारतीय स्त्री की जिस स्वाधीनता का सपना देख रही है, वह समकालीन भारतीय समाज में बहस का मुद्दा हो सकता है। परिवार और रक्त-संबंधों के बीच जो मर्यादा-रेखाएँ खिंची हुई हैं, उन पर बहस करने से तो मुँह नहीं मोड़ा जा सकता, पर बगैर किसी बुनियादी-विमर्श के सिर्फ 'देह की भूख और प्यास' का तर्क समूची सामाजिक और पारिवारिक व्यवस्था को तहस-नहस कर डालेगा।"[2]

नैतिकता संबंधी आधुनिक दृष्टिकोण हमें 'चाक' उपन्यास में भी दिखाई पडता है। सारंग को श्रीधर मास्टर के साथ अवैध संबंध रखकर कोई पाप-बोध नहीं होता है - "पोखर कहे कोई या गंदी नाली! मुझे तो पाप नहीं लगा अपना किया। कतई नहीं हुआ पाप-बोध। जो किया, सोच-समझकर किया। मैं अबोध थी न विधवा रांड औऱ न कुँआई आल्हड़ जवानी की मारी।"[3]

---

1. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 81
2. मैत्रेयी पुष्पा, तथ्य और सत्य, सं. दया दीक्षित, पृ. 116
3. चाक, मैद्रेयी पुष्पा, पृ. 328

पति-पत्नी संबंध में परस्पर विश्वास और एकनिष्ठ प्रेम बहुत ज़रूरी है। जब वह नष्ट हो जाता है तब दाम्पत्य जीवन की सारी खुशियाँ दूर हो जाती है।

विवाह संबंधी नैतिक मान्यताएँ दिन-ब-दिन बदल रही हैं। 'मुझे चाँद चाहिए' की वर्षा वाशिष्ठ हर्ष से प्यार करती है और उससे शादी करना भी चाहती है, फिर भी वह मिट्ठू और सिद्धार्थ के साथ भावनात्मक संबंध रखने से हिचकती नहीं है। हर्ष को जब वर्षा और सिद्धार्थ के मीठे संबंधों की जानकारी होती है तो वह नाराज़ होता है और हर्ष से कहता है कि मुझे तुमसे यह उम्मीद नहीं थी, उस समय वर्षा कहती है - "मैं इस दुनिया में तुम्हारी अपेक्षाएँ पूरी करने केलिए नहीं हूँ।"[1] वर्षा को यहाँ एक आधुनिक स्त्री की तरह चित्रित किया गया है।

'कठगुलाब' के विपिन और नीरजा विवाह में आस्था नहीं रखते हैं। विवाह किए बिना एक साथ रहना उन्हें सुविधाजनक लगता है। विपिन कहता है - "विवाह से मेरी भी विशेष आस्था नहीं है और नीरजा उससे इतना खौफ खाती है कि ज़ोर देने से मानेगी नहीं। आप जानती होंगी, उसके माँ-बाप के संबन्धों की कटुता ने उसके मन में विवाह के लिए नफरत पैदा कर दी है।"[2]

"स्मिता को विवाह में आस्था ऐसा कुछ नहीं है, फिर भी वह समझती है कि विवाह एक कसौटी ज़रूर है। इस बात की कि आप जिससे स्नेह करते हैं, उसकी ज़िम्मेदारी उठाने को तैयार हैं।"[3]

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 404
2. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 233
3. वही, पृ. 233

उपनिवेशकालीन उपन्यासकारों ने कहीं भी नैतिकता का उल्लंघन नहीं किया। फ्रायडी मनोविज्ञान ने इस नैतिकता के स्वरूप को बदलकर एक नई नैतिकता को जन्म दिया। पाश्चात्य संस्कृति और अस्तित्ववादी विचारधारा के प्रभाव से विवाहेतर यौन-संबंध को प्रश्रय मिलने लगा। स्त्री-पुरुष के सारे पवित्र संबंध भाई-बहिन, जीजा-साली, देवर-भाभी, इस नई नैतिकता के कारण छिन्न-भिन्न हो गए। नवउपनिवेशकालीन भूमंडलीकृत संस्कृति के कारण भी आज नारी के शुद्ध प्रेम के स्थान पर उसकी यौन विकृतियों का खुला वर्णन साहित्य में मिलता है। नैतिकता का उद्देश्य व्यक्ति और समाज का कल्याण होने के कारण वह धर्म से गहन रूप में जुडी हुई है। आज कानूनी ढंग से विविध प्रकार के यौन संबंधों को वैधता मिली है।

धर्म

'भारतीय नीतिशास्त्र में 'धर्म' शब्द का व्यवहार विभिन्न युगों में विभिन्न अर्थों मे किया जा रहा है। सामान्यतः धर्म से तात्पर्य उस विशिष्ट पद्धति से है जो व्यक्ति के लोक-परलोक को संवारती है तथा समाज में सुव्यवस्था स्थापित करती है। भारतीय जीवन परंपरा में कर्तव्य, गुण, नियम, न्याय, शील, कर्म आदि के अनुकूल किया जानेवाला कार्य ही धर्म कहलाता है।"[1] 'समाजशास्त्रियों के अनुसार भी धर्म मनुष्य के दैनिक जीवन को नियंत्रित करनेवाली एक विराट शक्ति है। वस्तुतः यह समाज के सदस्यों के आचार-विचार तथा कर्तव्य-अकर्तव्य का नियमन

---

1. प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास नए नैतिक मूल्य, शशि गुप्ता, पृ. 9

करनेवाली जीवन-पद्धति है।'[1] 'धर्म आध्यात्मिक संस्कृति का महत्वपूर्ण मूल्य है, जो मानव के आचार-विचार को नियंत्रित करने का महत्वपूर्ण साधन है।"[2]

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार जिन सिद्धान्तों को हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक संबंधों में पालन करना होता है, उसे धर्म कहा जाता है। धर्म का विरोधी मार्क्स धर्म को जनता के लिए अफीम कहा है। जिस प्रकार अफीम मनुष्य के मस्तिष्क को पूर्ण रूप से नियंत्रित क लेती है, उसी प्रकार धर्म मनुष्य के मस्तिष्क पर आच्छादित हो जाता है। आज के प्रबुद्ध वर्ग के लिए धर्म वैयक्तिक आस्था का विषय है, सामाजिक कर्म का प्रेरणा स्रोत नहीं।

हिन्दी उपन्यासों के आरंभिक काल में समाज सुधारक दो वर्गों में विभक्त थे - एक प्रगतिशील और दूसरे कट्टर सनातनी हिन्दू। प्रगतिशील वर्ग ने सामाजिक जीवन के लिए नए बौद्धिक जीवन मूल्यों को आवश्यक माना और कट्टर सनातनी हिन्दू वर्ग पुरातनता और परंपरा की सुरक्षा के लिए धर्माधारित जीवन मूल्यों को मान्यता दे रहा था। इन दोनों विचारधाराओं में से प्रेमचंद पूर्वी उपन्यासकारों को सनातनी हिन्दू पन्थी विचारधारा ने विशेष रूप से प्रभावित किया। उन्हें नवीन बौद्धिक जीवन मूल्य व्यक्ति और समाज के लिए घातक दिखाई दिए। उनकी दृष्टि में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीय जनता स्वच्छंदता और विलासिता की ओर जा रही थी और भारतीय संस्कृति और धर्म के मार्ग से पथ-भ्रष्ट हो रही थी।

---

1. प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास नए नैतिक मूल्य, शशि गुप्ता, पृ. 9
2. मूल्य और हिन्दी उपन्यास, हेमराज कौशिक, पृ. 28

इसलिए उस समय के प्रायः सभी प्रमुख लेखकों ने अपनी रचनाओं में हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता और उसके आदर्शों का आकलन किया है।

'देवरानी जेठानी की कहानी' में "छोटेलाल यह कहा करता था कि लालाजी अब तुम बैठ के भगवान का भजन करो और इस जगत के माया मोह को छोड़ो। छोटी बहू सुसरे की बड़ी टहल करे थी। बिछौना बिछाना, धोती धोना, रात को गर्म दूध करके पिलाना यह सब काम यही करे थी और अपने भनेलियों से कहती कि जी वह हमारे तीर्थ है। हमारे कहाँ भाग जो अपने बडों की टहल करें। धर्म-शास्त्र में लिखा है कि जो अपने बड़ों की टहल करते हैं उनके कुल की वृद्धि होती है, और स्वर्ग प्राप्त होता है।"[1] ईश्वर में आस्था रखनेवाली छोटी बहू को बड़ों की सेवा करने के लिए धर्मशास्त्र से प्रेरणा मिलती है।

वामा शिक्षक में ज्ञानो शास्त्र के आधार पर गंगा को स्त्री का धर्म सिखाती है - "शास्त्र में लिखा है कि जहाँ तक हो सके स्त्रियाँ अपने पुरुषों की टहल करें और उनके अधीन रहें उनकी सम्मति के विरुद्ध काम करना अपना जन्म भ्रष्ट करना है, देखो धर्मशास्त्र के 185 वें श्लोक का यह तात्पर्य है कि मदिरा पान करना-खोटों की संगति-पति से वियोग - इधर-उधर फिरना कुसमय सोना - दूसरे के घर रहना यह छै बातें स्त्रियों के लिए बुरी हैं स्त्रियों का बड़ा धर्म वहीं है कि अपने पुरुष के कहने में चले किसी बात में उनसे हठ न करें - यह भी लिखा है

---

1. देवरानी जेठानी की कहानी, गौरीदत्त शर्मा, पृ. 41

जहाँ तक हो सके अपने पुरुष की टहल करें यही स्त्रियों का पूजन और पाठ नित्य नियम है और धर्म्म है इससे स्त्रियों को वैकुण्ठ प्राप्त होता है।"[1]

प्रेमचंद का धर्म के संबंध में रूढिवादी दृष्टिकोण न होकर प्रगतिशील दृष्टिकोण है। उनके उपन्यासों में धर्म के बदलते स्वरूप की अभिव्यक्ति है। 'सेवासदन' की सुमन अपने पति गजाधर से कहती है कि धर्मात्मा लोग भी भोलीबाई का आदर करते हैं। उस समय गजाधर सुमन से कहता है - "तो तुमने उन लोगों के बड़े-बड़े तिलक छापे देखकर ही उन्हें धर्मात्मा समझ लिया? आजकल धर्म तो धूर्तों का अड्डा बना हुआ है। इस निर्मल सागर में एक-से-एक मगरमच्छ पड़े हुए है। भोले-भाले भक्तों को निगल जाना उनका काम है। लम्बी-लम्बी जटाएँ, लम्बे-लम्बे तिलक छापे और लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ देखकर लोग धोखे में आ जाते हैं, पर वह सब के सब महापाखण्डी, धर्म के उज्ज्वल नाम को कलंकित करनेवाले, धर्म के नाम पर टका कमानेवाले, भोग-विलास करनेवाले पापी हैं। भोली का आदर-सम्मान, उनके यहाँ न होगा, तो किसके यहाँ होगा?"[2] 'गबन' उपन्यास में प्रेमचंद सच्चे धर्म की परिभाषा देते हैं। देवीदीन सेठ करोडीमल के बारे में कहता है - "पत्थर पूजते-पूजते इसके दिल भी पत्थर हो जाते हैं। इसके तीन तो बड़े-बड़े धर्मशाले हैं, मुदा है पाखण्डी। आदमी चाहे और कुछ न करें, मन में दया बनाये रक्खे। यही सौ धरम का एक धरम है।"[3]

---

1. वामा शिक्षक, ईश्वरी प्रसाद, कल्याण राय, पृ. 50
2. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 25
3. गबन, प्रेमचंद, पृ. 124

भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास में महाराज चंद्रगुप्त ने चाणक्य से पूछा, "आपका नीतिशास्त्र अनेक स्थानों पर धार्मिक सिद्धान्तों की अवहेलना करता है। इस विरोध का क्या कारण है? चाणक्य ने उत्तर दिया, "धर्म का आधार विश्वास है और विश्वास के बंधन से प्रत्येक मनुष्य को बाँधकर उससे अपने नियमों का पालन कराना ही समाज के लिए हितकर है। इसीलिए ऐसी भी परिस्थितियाँ आ सकती हैं, जब धर्म के विरुद्ध चलना समाज के लिए कल्याणकारक हो जाता है और धीरे-धीरे धर्म का रूप बदल जाता है।"[1]

प्रसाद 'कंकाल' उपन्यास में धर्म के नाम पर स्त्री पर अत्याचार करनेवाला पुरुष समाज के अधार्मिक नीति का पर्दाफाश करता है। घण्टी लतिका से कहती है - "बहन, स्त्रियों को स्वयं घर पर जाकर अपनी दुखिया बहनों की सेवा करनी चाहिए। पुरुष उन्हें उतनी ही शिक्षा और ज्ञान देना चाहते हैं, जितना उनके स्वार्थ में बाधक न हो। घरों के भीतर अन्धकार है, धर्म के नाम पर ढोंग की पूजा है, और शील तथा आचार के नाम पर रूढ़ियों की। बहनें अत्याचार के परदे में छिपाई गई हैं, उनकी सेवा करूँगी।"[2]

धर्म का परिवर्तित दृष्टिकोण यशपाल के 'अमिता' उपन्यास में देखा जा सकता है। आचार्य महारानी से कहता है - "भगवती, बहुजन का हित और संतोष ही पुण्य है और बहुजन का अहित और कष्ट ही पाप है। जनगण की इच्छा के विरुद्ध उन्हें निर्माण के लिए विवश करना भी उनकी हिंसा है।"[3]

---

1. चित्रलेखा, भगवतीचरण वर्मा, पृ. 31
2. कंकाल, जयशंकर प्रसाद, पृ. 201
3. अमिता, यशपाल, पृ. 93

'दिव्या' उपन्यास में परंपरागत धार्मिक विचारों से भिन्न भाग्य और कर्मफल का अर्थ मारिश अंशुमाला को समझाता है - "भाग्य का अर्थ है, मनुष्य की विवशता और कर्मफल का अर्थ है कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान। भद्रे इसके अतिरिक्त भाग्य और कर्मफल कुछ नहीं।"[1]

गीतांजलिश्री की 'माई' उपन्यास में माई एक धर्मनिष्ठ औरत है। वह पति की लम्बी आयु एवं संपन्नता-समृद्धि के लिए करवाचौथ का व्रत रखती है। पति के लिए वह तीज भी मनाती है। दिन-भर निर्जल व्रत रखती हुई उसे कोई शिकायत ही नहीं। माई की बेटी सुनैना, माई नहीं बनता चाहती। माई उसका आदर्श नहीं है और वह अपने अन्दर से माई को झटक देना चाहती है।

प्राचीन भारत धर्मपरायण था। धर्मसम्मान सामाजिक और नैतिक मूल्यों में लोग आस्थावान थे। वैज्ञानिक प्रगति के साथ धर्म को अवैध सिद्ध किया गया, जिससे अनुष्ठानों और नैतिक मूल्यों के प्रति लोगों को विश्वास नहीं है।

'माई' के सुबोध अपने बाबूजी से कहता है - "हम अंधविश्वासी नहीं, हम धार्मिक नहीं, हम मध्यवर्गीय जकड़नों में नहीं, वर्ना क्या हम भी, हमारी प्रयोगशाला में न होते, 'क्लिनिकल टेबल' पर चीरफ़ाड के लिए 'साम्पल फॉर स्टजी'?"[2]

जैनेन्द्र कुमार के मतानुसार सच्चा धर्म वही है जो मानव जीवन में आत्म-सन्तोष और आनन्द की उपलब्धि कराये। आनंद की प्राप्ति के लिए स्व का

---

1. दिव्या, यशपाल, पृ. 107
2. माई, गीतांजलिश्री, पृ. 111

विसर्जन अनिवार्य है। वह 'स्व' 'पर' की ओर जितना उन्मुख होगा उतना ही आनन्दानुभूति करेगा क्योंकि स्वार्थ धर्म का शत्रु है।"[1] आधुनिक युवा पीढ़ी इसमें बिल्कुल विश्वास नहीं करते। 'माई' के सुनैना कहती है - ".....मुझे त्याग बुरा लगता है क्योंकि वही माई का बोझिल इतिहास है, मुझे उसकी तरह दे-देके देने को ही लेना नहीं बनाना है, मुझे उसकी तरह शहादत में मकसद नहीं पाना है, मुझे उसकी तरह नम्रता और उदारता को अपराध नहीं बना देना है, उसके इतिहास से लड़ना है, उसे नकारना है, और इसीलिए लेना है, लेके पाना है, उसके बाद दूँगी, लेने के साथ दूँगी, पर तब तक लडूँगी, उसी से लडूँगी, माई जो शाश्वत है, जो मुझमें है, जो आग में, राख में, हमेशा रहेगी, जिसके आगे में शीष नवाती हूँ, उससे लडूँगी।"[2]

आधुनिक प्रबुद्ध वर्ग धर्म से भी ज़्यादा विज्ञान को अधिक महत्व देता है क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु अथवा मान्यता को तर्क के आधार पर परखकर ही स्वीकार करता है। इसी कारण प्रत्येक वस्तु को उपयोगिता के आधार पर देखता है। धर्म और ईश्वर संबंधी परंपरागत धारणाएँ विज्ञान के प्रभाव से बदल गई हैं। धर्म को प्राणिमात्र की सेवा करना, गरीब तथा दलित जन के प्रति सहानुभूति दिखाना आदि के रूप में व्याख्यायित किया जाने लगा है। विज्ञान आदर्श पर आधारित न होकर यथार्थ पर आधारित होने के कारण आध्यात्मिक मूल्यों के स्थान पर भौतिकतावादी मूल्यों को महत्व दिया जाता है।

---

1. प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास : नए नैतिक मूल्य, शशि गुप्ता, पृ. 69
2. माई, गीतांजलिश्री, पृ. 152

'समय सरगम' की आरण्या ईशान से कहती है - "मात्र धार्मिक नहीं, वैज्ञानिक परिकल्पनाओं की आधार सामग्री को भी हमें स्वीकारना होगा।"[1] 'चाक' उपन्यास में श्रीधर मास्टर कहता है - "मेरी तो भगवान में भी इसीलिए आस्था नहीं कि वह प्रसाद चढानेवालों पर अपनी दया लुटाता है। जब ईश्वर ही नहीं तो इन संसारी भगवानों के चंगुल में मैं क्यों फँसू?"[2]

वैज्ञानिक विचारधारा के विकास से लोगों में बौद्धिकता का आग्रह बढ़ गया। मार्क्सवादियों और अस्तित्ववादियों ने ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाया। ईश्वर मनुष्य के लिए एक आश्रय है और यह उनके जीवन की धुरी है। नीत्शे के ईश्वर की मृत्यु की घोषणा से मनुष्य सारे धार्मिक बन्धनों से मुक्त हो गया। सारे नियमों और बन्धनों को तोड़कर उसने स्वतंत्र जीवन जीना आरंभ किया। लेकिन परंपरागत मूल्यों से मुक्त होकर भी वह नवीनता को पूर्ण रूप से आत्मसात नहीं कर सका। इसलिए नवऔपनिवेशिक उपन्यासों में सही विश्वासों का वापस आना दृष्टिगत होता है।

वर्ण एवं जाति व्यवस्था

हिन्दू समाज में वर्ण एवं जाति व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। संपूर्ण समाज चार वर्णों में विभाजित है - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को समाज में अधिकार, आदर और प्रतिष्ठा प्राप्त थी। शूद्र को अस्पृश्य

---

1. समय सरगम, कृष्णा सोबती, पृ. 134
2. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 168

घोषित कर दिया गया था। स्वतंत्रता से पूर्व शूद्रों की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। आज भी जाति व्यवस्था में ज़्यादा परिवर्तन नहीं आया है। जाति व्यवस्था ने विवाह की समस्या को ज़्यादा जटिल बना दिया है।

औपनिवेशिक भारतीय समाज में नवजागरण का काल था। तत्कालीन समाज में वर्ण व्यवस्था का प्राधान्य था। हर व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके जन्म पर आधारित थी। व्यक्ति का अस्तित्व योग्यता एवं संपत्ति के आधार पर नहीं था। व्यक्ति को अपने व्यवसाय के चयन की भी स्वतंत्रता नहीं थी। वह अपनी इच्छा से विवाह करने के लिए भी स्वतंत्र नहीं था। जाति व्यवस्था के कारण समाज में ऊँच-नीच की भावना प्रबल थी। जाति व्यवस्था ने इतना भीषण रूप धारण कर लिया कि निम्न स्तर के लोगों को अस्पृश्य और निकृष्ट माना जाता था। उन्हें मंदिर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। हिन्दू समाज की कठोरता से क्षुब्ध होकर निम्न वर्ग के लोग मानव प्रेम पर बल देनेवाले ईसा मसीह के प्रवचनों की ओर आकर्षित हो गए और ईसाई धर्म को स्वीकार करने लगे। समाज में परिवर्तन लाने के लिए तत्पर समाज सुधारक लोग, विद्रोही समझे जाते थे।

ठाकुर जगमोहन सिंह के 'श्यामास्वप्न' उपन्यास में वर्णव्यवस्था का उदाहरण देख जा सकता है। एक युवक बंदीगृह में बंधा हुआ है। उसे वहाँ से मुक्ति मिलने की कोई गुंजाइश नहीं है। उस युवक का अपराध यह था कि उसने एक उत्तम कुल की स्त्री से प्रेम किया था।

"यदि शूद्र किसी द्विजा (ब्राह्मण) की स्त्री से गमन करेगा चाहै वह गृह में रक्षित हो वा अरक्षित इस प्रकार दंड्य होगा - यदि अरक्षित हो तो उसका वह अंग काट डाला जाएगा और धन भी सब ले लिया जाएगा - यदि रक्षित हो तो वह सबसे हीन कर दिया जाएगा। यदि वे दोनों (वैश्य और शूद्र) ब्राह्मणी-गमन करै जो रक्षिता है तो शूद्रवत् दंड होगा वा सूखे भूखे की आग में जला दिया जाएगा।"[1]

इससे समझा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों का कितना मान था और वर्ण व्यवस्था कितनी प्रबल थी।

भाग्यवती किसी प्रकार की छुआछूत में विश्वास नहीं रखती। जब भाग्यवती के ससुर ब्राह्मण के सिवा किसी दूसरे के हाथ से दवा खाने के लिए तैयार नहीं होते तब भाग्यवती उन्हें समझाती है कि यदि शरीर रह जाएगा तो आचार-विचार फिर भी हो सकता है। आपत्ति के काल और रोग दशा में आचार को त्याग देना गलत बात नहीं है।

प्रेमचंद और प्रेमचंदकालीन उपन्यासकारों ने तत्कालीन समाज में व्याप्त जाति व्यवस्था का कट्टर विरोध अपने उपन्यासों में किया है। 'सेवासदन' में विट्ठलदास ने जब सुमन से कहा कि सभावाले उसे लेने पर राजी न होंगे तब सुमन ने ताने से कहा - "तो जब आपकी हिन्दू जाति इतनी हृदयशून्य है, तो मैं उसकी मर्यादा पालने के लिए क्यों कष्ट भोगूँ, क्यों जान दूँ? जब आप मुझे

---

1. श्यामा स्वप्न, ठाकुर जगमोहन सिंह, पृ. 22

अपनाने के लिए जाति को प्रेरित नहीं कर सकते, जब जाति आप ही लज्जाहीन है, तो मेरा क्या दोष है?"[1] धर्म और जाति के नाम पर लोग मनुष्यत्व भी खो बैठते हैं। जाति व्यवस्था के विरुद्ध सशक्त रूप से आवाज़ उठाते हुए, 'कंकाल' का विजय कहता है - "क्यों, क्या हिन्दू होना परम सौभाग्य की बात है? जब उस समाज का अधिकांश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरापृष्ठ पर नहीं बची - उसकी संस्कृति विडम्बना उसकी संस्था सारहीन, और राष्ट्र-बौद्धों के शून्य के सदृश बन गया है; जब संसार की अन्य जातियाँ सार्वजनिक भ्रातृभाव और साम्यवाद को लेकर खडी है, तब आपके इन खिलौनों (देवविग्रह) से भला उसकी सन्तुष्टि होगी?"[2]

'निराला के 'निरुपमा' उपन्यास में कुमार ब्राह्मण होते हुए भी चमार का काम करने से उसे परिवार सहित समाज से बहिष्कृत किया जाता है। उसकी माँ को कुएँ से पानी तक नहीं लेने देती। इससे निरुपमा के मन में समाज के विरोध में क्षोभ जाग उठता है। वह सोचती है - "....प्राणों की मैत्री के लिए समाज की आवश्यकता है, वैषम्य की सृष्टि करें - इसके लिए नहीं; जो समाज शान्ति नहीं दे सकता, उसका त्याग करना ही उचित है, और विवाह जो जीवन की ऋतु कुंचित गति को सहज साध्य और रसमय करने के लिए है, अगर रत्ती भर अनुकूल न हुआ - सारी वृत्तियाँ विरोध पर रही तो किसी नीति या लोक रुचि के विचार से करना आत्महत्या तुल्य होगा।"[3]

---

1. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 69
2. कंकाल, जयशंकर प्रसाद, पृ. 55
3. निरुपमा, निराला, पृ. 96

'माई' उपन्यास में सुबोध के मित्र रीतिका ड्योढी आई तो बाबू मौका पाते ही उसकी जाति, माँ-बाप, खानदान, पेशा, ऐसी बातें पूछने लगे। सुबोध को यह अच्छा नहीं लगा। उसने कहा "हम तो जात-पाँत से ऊपर उठ चुके थे न। परम्परा से, जाति से, देश से ही उठ चुके थे....।"[1] आधुनिक पीढ़ी जाति-पाँति को नहीं मानती। वे पढ़-लिखकर जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि समाज की रूढ़ व्यवस्थाओं से ऊपर उठ चुके हैं।

मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' उपन्यास में रंजीत नेंकसे मास्साब के धरती पर बैठ जाने पर उन्हें बाहों में भरकर खाट पर बिठा देता है और कहता है - "मास्टरजी, मैं दकियानूसी, ऊँच-नीच माननेवाला नहीं, जैसे और लोग है। मैं किसी कुबड्ड ब्राह्मण को ब्राह्मण नहीं मानता। आप बालकों को जान देते हैं, सही माने में ब्राह्मण आप हैं। चाय पियो बेझिझक। जूठा प्याला सारंग धोएगी। हम उनमें से नहीं, जो आपका जूठा बासन आपसे ही धुलबाएँ। हमारी पढ़ाई-लिखाई का फायदा क्या हुआ फिर?"[2]

भँवर कहता है कि जाति व्यवस्था गाँवों में ही है, शहर में इसे कोई नहीं पूछता - "हाँ, 'छोटी कौम बडी कौम' का नारा गाँवों में ही लगाते रहो, शहरों में तो सब धान सत्ताईस सेर के। कौन पूछता है कि तू पंडित है या भंगी? होटलों में एक मेज़ पर, एक से बर्तनों में कंधे से कंधा भिड़ाकर खाते हैं। चरणसिंह बौहरे

---

1. माई, गीतांजलिश्री, पृ. 111
2. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 12

अलीगढ़ के 'जै भगवान' होटल में उसी तौलिया से हाथ मुँह पोंछ आए थे, जिससे मिस्सी भंगी आध घंटा पहले पोंछ गया था। मनोहर उतनी देर न बैठा रहता तो बौहरे को गंगाजल से नहाने की कौन याद दिलाता?"[1]

'इदन्नमम' के भृगुदेव को अनुसूचित जाति के होने के कारण डॉक्टरी का कोर्स सधूरा छोडना पड़ा। उसके साथी उसे हेच दृष्टि से देखते थे। बातें करते समय अभद्र संबोधनों का प्रयोग करते थे। आश्चर्य की बात यह है कि शहर में जहाँ शिक्षा का प्रसार-प्रचार है, जहाँ प्रबुद्ध लोग रहते हैं इतना भेदभाव दिखाई पड़ता है। मैत्रेयी पुष्पाजी कहती है - "यह तो निश्चित है कि जब तक आरक्षण रहेगा, हमारी जातियों को उपेक्षा सहनी पड़ेगी और कुंठाएँ झेलनी होगी। काश वह दिन आए कि अनुसूचित जाति में आनेवाले छात्र आगे बढ़े और अस्वीकार कर दें आरक्षण की बैसाखी को।"[2]

उपनिवेशकाल में भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थिति अत्यंत शोचनीय थी। धर्म के आंतरिक सत्य को त्यागकर लोग बाह्य रूप को महत्व देने लगे। इससे धार्मिक अंधविश्वासों और रूढ़ियों की संख्या में वृद्धि होने लगी। ब्राह्मणों तथा पण्डितों ने धर्म को केवल मूर्ति पूजा तथा रूढ़िवादी मूल्यों का प्रतिरूप बना दिया था। इन्हें किसी भी सामाजिक बुराई को शास्त्रोचित बताकर उसे धार्मिक कार्य का रूप देने का अधिकार था। इस प्रकार उपनिवेशकालीन भारतीय समाज

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 168
2. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 343

में बाल-विवाह, सती-प्रथा, दहेज-प्रथा, विधवा विवाह निषेध, अस्पृश्यता, जाति-व्यवस्था, पर्दा-प्रथा, स्त्री-अशिक्षा आदि कुरीतियों का बोलबाला था।

बाल-विवाह

बाल-विवाह सचमुच एक सामाजिक अभिशाप है, जिससे अशिक्षा, अनमेल विवाह, विधवा समस्या, वेश्यावृत्ति जैसे अनेक समस्याएँ पनपती हैं। आठ-दस वर्ष में लड़कियों का विवाह किया जाता है, जब उन्हें विवाह का अर्थ बी अनभिज्ञ है। इस कुप्रथा से स्त्री की स्थिति अत्यंत शोचनीय बन गई। छोटी आयु में विवाह, गर्भधारण और प्रसव से उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता हैं। अनेक स्त्रियाँ प्रसव के साथ मर गई हैं। छोटी उम्र में विधवा बन जानेवाली स्त्रियों की स्थिति भी कम दयनीय नहीं है। इन दुष्परिणामों को देखकर महात्मा गाँधी ने कहा था - "बाल विवाह से मुझे घृणा है और बाल-विधवा बालिका को देखकर मैं काँपने लगता हूँ तथा स्त्री के देहांत के पश्चात् तुरंत विवाह करनेवाले पुरष को देखकर मैं पागल हो जाता हूँ।"[1]

समाज सुधारक श्री ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने सन् 1860 में स्त्री के लिए विवाह की उम्र दस साल से अधिक बढ़ाकर कानून पास कराया। सन् 1929 में बाल-विवाह नियंत्रण अधिनियम द्वारा यह उम्र कन्या के लिए 14 वर्ष और पुरुष के लिए 18 वर्ष हो गई। स्वतंत्रता के बाद विवाह की उम्र स्त्री के लिए 18 वर्ष और पुरुष के लिए 21 वर्ष है।

---

1. महिलाओं से - एम.के. गान्धी, पृ. 29

बाल विवाह के दोषों को समझकर उपनिवेशकालीन उपन्यासकार अपने उपन्यासों में इस कुप्रथा के विरुद्ध लिखने लगे। 'भाग्यवती' उपन्यास में पंडित उमादत्त बाल विवाह का विरोध करते हुए अपनी पत्नी को समझाते हैं - "तुम स्त्रियों को इस बात की बुद्धि नहीं कि छोटी अवस्था में पुत्र का विवाह करना श्रेष्ठ नहीं होता। सुनो, विवाह उस समय करना चाहिए कि जब बालक आप ही स्त्री का भूखा हो। जिसका छोटी अवस्था में विवाह हो जाए, उसका स्त्री में अत्यंत प्रेम कभी नहीं हो सकता।"[1] 'देवरानी-जेठानी की कहानी' में छोटेलाल के बेटे को सगाई कई जगह से आई, लेकिन छोटेलाल और उसकी बहु ने कहा कि - "जब पंद्रह-सोलह वर्ष का होगा तब विवाह-सगाई करेंगे।"[2]

'वामा शिक्षक' में ज्ञानो कहती है - "शास्त्र में लिखा है कि जब लड़का-लड़की समझदार हो जाते तो ब्याह किया जावे - देखो फेरो के समय लड़के और लड़की में आपस में नियम और प्रतिज्ञा होती है जिन को सप्तपदी कहा जाता है - लड़का लड़की से कुछ प्रतिज्ञा करता है लड़की लड़के से प्रतिज्ञा करती है और इन प्रतिज्ञाओं के पीछे विवाह समझा जाता है और यह प्रतिज्ञा बचपन में ब्राह्मण के मुँह से भुगतते है और यथार्थ में लड़का लड़की के मुँह से होनी चाहिये और यह तब हो सकता है जब दोनों को सुध हो और शास्त्र में यह भी लिखा है कि वर लड़की से सवाया ड्योढ़ा हो-जो लड़की बारह-तेरह साल की हो तो उसका विवाह सत्रह वर्ष के लड़के से करना चाहिये और सतयुग में लड़की जिस लड़के को पसंद

---

1. भाग्यवती, श्रद्धाराम फिल्लौरी, पृ. 8
2. देवरानी जेठानी की कहानी, गौरीदत्त शर्मा, पृ. 32

करती थी उसी के साथ उसका विवाह होता था।"[1] देवकीनन्दन खत्री के 'कुसुमकुमारी' में रनवीरसिंह और कुसुम का विवाह बचपन में ही हुआ है। लेकिन इसके बारे में कुछ विश्वस्त लोगों के अलावा किसी को मालूम नहीं है, यहाँ तक कि रनबीरसिंह को भी मालूम नहीं है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में भी बाल-विवाह का घोर विरोध करते हुए दिखाई देते हैं। सेवासदन में दारोगाजी अपनी पत्नी गंगाजली को समझाती है - "यह (सुमन) अभी विवाह योग्य नहीं है। शास्त्रों में लिखा है कि कन्या का विवाह सोलह वर्ष की आयु से पहले करना पाप है।"[2]

निर्मला के विवाह पक्का कर दिए जाने पर वह खुश नज़र नहीं आती। वह तन से और मन से तैयार नहीं लगती। प्रेमचंद कहता है - "उसके मन में वे उमंगे नहीं है, जो युवतियों की आँखों में तिरछी चितवन बनकर, होंठों पर मधुर हास्य बनकर और अंगों में आलस्य बनकर प्रकट होती है। नहीं, वहाँ अभिलाषाएँ नहीं है। वहाँ केवल शंकाएँ, चिंताएँ और भीरु कल्पनाएँ है। यौवन का अभी तक पूर्ण प्रकाश नहीं हुआ है।"[3]

सुरेन्द्र वर्मा के 'मुझे चाँद चाहिए' में बाल विवाह करने से पति-पत्नी के बीच भावात्मक संबंध न होने की बात कही गयी है - "सोलह की उम्र में मेरी शादी

---

1. वामा शिक्षक, ईश्वरीप्रसाद, कल्याण राय, पृ. 27
2. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ.
3. निर्मला, प्रेमचंद, पृ. 6

हो गई थी।" स्नेह के कमरे में चतुर्भुजा बोले, "सुशीला मुझे दो साल छोटी है। दिल्ली आने के बाद मेरी विचारधारा, मेरा व्यक्तित्व सब बदल गया है। सुशीला मैरी भावात्मक ज़रूरत पूरी नहीं कर सकती। मुझे उसके लिए अफसोस है, लेकिन मैं विवश हूँ।"[1]

नवउपनिवेशकाल में भी बाल-विवाह की समस्या हम देख सकते हैं, जिसके कारण विवाह-विच्छेद भी बहुत होते हैं।

विधवा जीवन

भारतीय समाज में विधवाओं की स्थिति अत्यंत दयनीय है। पति की मृत्यु के दुख सहने के साथ-साथ उसे परिवार के अन्य सदस्यों का शोषण भी सहना पड़ता है। हिन्दू धर्म में ऐसा विश्वास था कि पति की मृत्यु पत्नी के पूर्व जन्म के पापों के कारण होती है। किसी शुभ कर्म में उसकी उपस्थिति अमंगलसूचक मानी जाती थी। विधवा को घर का सारा काम करना पड़ता है, सबकी सेवा करनी पड़ती है, फिर भी वह आदर और सहानुभूति का पात्र नहीं, घृणा का पात्र समझी जाती थी। उसे पापिनी पति-घातिनी और न जाने क्या-क्या समझी जाती थी। वह बाल-विधवा हो, निस्संतान हो, निराश्रित हो या किसी भी प्रतिकूल स्थिति में हो, उसके प्रति समाज कोई दया नहीं दिखाती थी। उसका पुनर्विवाह किसी भी स्थिति में वांछनीय नहीं था। यदि वह किसी प्रलोभन में फँस जाती तो उसके लिए आत्महत्या, वेश्यावृत्ति या धर्म-परिवर्तन के सिवा और कोई मार्ग नहीं रहता था।

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 198

बाइबिल में विधवा समस्या का समाधान, विधवा पुनर्विवाह और उनके क्लेशों में उनकी सहायता करना लिखा गया है। ईसा मसीह के शिष्य पौलुस ने बताया है कि विधवाओं के लिए अविवाहित रहना अच्छा है, लेकिन यदि वे संयम न कर सकें तो विवाह करें क्योंकि विवाह करना कामातुर रहने से भला है। और एक शिष्य याकूब ने लिखा है कि हमारे परमेश्वर और पिता के निकट शुद्ध और निर्मल भक्ति यह है कि अनाथों और विधवाओं के क्लेश में उसकी सुधि ले, और अपने आप को संसार से निष्कलंक रखे।

हिन्दी उपन्यासों में विशेषकर उपनिवेशकालीन उपन्यासों में विधवा स्त्रियों की करुण स्थितियों को हमारे सामने रखते हुए विधवा विवाह का समर्थन किया गया है। 'भाग्यवती' में पंडितजी ने कहा कि सेठ रामरत्न ने अपनी कन्या का विवाह सात वर्ष में किया और जब उसका पति मर गया तो वह कन्या माता-पिता और ससुरालवालों की प्रतिष्ठा धूल में मिलाके किसी कहार के साथ चली गई। ये सब अनिष्ट इसी कारण हुए कि उनके माँ-बाप ने छोटी अवस्था में विवाह कर दिए थे, जब स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री की रुचि नहीं होती।

'देवरानी जेठानी की कहानी' में छोटेलाल की बहू की मामा की बेटी दिल्लीवाली दस वर्ष की अवस्था में विधवा हो गई थी। उसकी मौसी उसे देखकर बड़ी दुखी हो जाती है और अपनी बहन से कहती है - "देखो इस लौंडिया ने देखा ही क्या है? यह क्या जानेगी कि मैं भी जगत के आई थी। किसी के जी के कोई क्या जाने है। इसके जी में क्या-क्या आती होगी। इसके साथ की लौंडिये अच्छे

खाते है, पहिने है। हँसे है, बोले है, गाने हैं, बजावे हैं, क्या इसका जी नहीं चाहता होगा? सात फेरों की गुनहगार है। पत्थर तो हमारी जाति में पड़े हैं। मुसलमानों और साहब लोगों में दूसरा विवाह हो जाय है। और अब तो बंगालियों में भी होने लगा। जाट, गूजर, नाई, धोबी, कहार, अहीर आदियों में तो दूसरे विवाह की कुछ रोक-टोक नहीं। आगे धर्मशास्त्र में भी लिखा है कि जिस स्त्री का उसके पति से संभाषण नहीं हुआ हो और विवाह के पीछे पति का देहांत हो जाय, तो वहाँ पुनर्विवाह योग्य है।"[1]

'निर्मला' उपन्यास की विधवा रुक्मणी अपने भाई तोताराम के यहाँ आश्रय लेती है। लेकिन भाई उसको प्यार और सम्मान देने के बजाय उसे नौकरानी से ज़्यादा महत्व नहीं देता है।

'तितली' उपन्यास में राजकुमारी को विधवाओं के प्रति भारतीय समाज की क्रूर नीति के कारण अपनी सहज चंचल मनोवृत्ति को दबाना पड़ता है। प्राचीन रूढ़ियों में बँधकर चलते हुए उसे अपनी समस्त आकांक्षाओं को समाज की बलिवेदी पर समर्पित कर देना पड़ता है। राजकुमारी को पंडित दीनानाथ की लड़की के ब्याह में एक छोटी सी बिन्दी लगाकर जाने की इच्छा होती है। लेकिन समाज ने उससे बिन्दी लगाने का अधिकार भी छीन लिया था।

नवउपनिवेशकाल में आकर भी विधवा समस्या के लिए हमने पूर्ण रूप से समाधान नहीं पाया है। इस युग तक आते-आते विधवा स्त्री को पुनर्विवाह की

---

1. देवरानी जेठानी की कहानी, पंडित गौरीदत्त, पृ. 38

अनुमति तो मिल गई लेकिन आज भी पुनर्विवाह करनेवाली स्त्री को समाज हेय दृष्टि से देखती है। अगर उसके बच्चे हैं तो उसका विवाह ज़्यादा मुश्किल हो जाता है।

मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' उपन्यास में मंदा की माँ प्रेम विधवा हो जाने पर वह अपने जीजा रतनयादव के साथ चली जाती है। लेकिन रतन प्रेम का दैहिक शोषण ही नहीं, बल्कि उसकी सारी संपत्ति भी हड़प लेता है और प्रेम को किसी अन्य पुरुष को सौंप देता है। इससे बऊ, उसकी सास बहुत क्रुद्ध हो जाती है। मंदा सोचती है - "क्या पता बऊ को यही दुख हो कि वे विधवापन के लिए बनाए गए निषेधों को सहती-झेलती रही, अम्मा ने जिन्हें नकार दिया। जिन दैहिक सुखों को बऊ ने इच्छा या अनिच्छा से कुचला, उन्हीं को अम्मा ने अनिवार्य समझ लिया। उनका गम यह भी हो सकता है कि विधवापन के चलते सामाजिक विधान की भागीदार वे ही अकेली क्यों हुई? यह दंड उनकी बहू ने क्यों नहीं भोगा?"[1]

'चाक' उपन्यास में बाल विधवा पांचन्ना बीबी के साथ हुआ अत्याचार हृदयभेदक है। इससे सारंग के बाबा भी प्रभावित हुए थे। 'पांचन्ना बीबी विधवा और कच्ची उमर की थी। वह एक दिन अवसर पाकर मेहताबसिंह के साथ गई। सन्नू फकीर ने उन्हें देख लिया। बीवी के बाप से बोला। बाप ने नथिया भंगिन को बुलवाया। उसने चिमटा आग में दहकाया और उन लाल जलती हुई लोहे की पत्तियों को बड़े सहारे से नयिया भंगिन ने पाँचन्ना बीबी की छातियों की काली जगह

---

1. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 268

घर रख दिया - चूचियाँ दाग दी गई। सब निश्चिंत हुए, अब न फूटेगी जवानी की गुद्दियाँ, बहुत फडकती थी।"[1]

बालविधवा के पुनर्विवाह कराने के बजाय उनकी कामवासनाओं को दबाने की अति क्रूर कोशिशें कितना अमानुषिक है।

दहेज प्रथा

विवाह में दहेज की प्रथा सदियों से प्रचलन में है। परंतु आज उसने बहुत ही विकराल रूप धारण कर लिया है। दहेज वह संपत्ति है जो एक पुरुष विवाह के समय अपनी पत्नी या उसके परिवार से प्राप्त करता है। प्राचीन काल में लड़की को ससुराल भेजते समय पिता उसको कुछ वस्त्र, आभूषण आदि उपहार में देता था। लेकिन आगे चलकर यह समाज का एक अवश्यंभावी प्रथा बन गया। आजकल लड़की के घरवालों से लड़का या उसके घरवाले ज़बरदस्ती से दहेज माँगने की रीति है। दहेज देना और लेना सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया है - "भारत सरकार ने दहेज प्रथा को रोकने के लिए 1959ई. में दहेज विरोधी अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार दहेज देना और लेना दोनों दंडनीय अपराध है।"[2] दहेज के विरुद्ध सरकार द्वारा कानून बनाने के बाद लोग 'पॉकट मणी' (Pocket Money) के नाम से दहेज देने की रीति को अपनाया है।

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 70
2. हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक विघटन, डॉ. धर्मेन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ. 44

'सेवासदन' में सुमन की माँ दहेज की कमी से अपने सुंदर और सुशिक्षित बेटी का विवाह अधेड़, असंस्कारी और सिर्फ पंद्रह रुपये मासिक वेतन पानेवाले गजाधर के साथ कराती है। परिणामस्वरूप वह दुखी असंतृप्त जीवन बिताते हुए, अंत में वेश्या बनने के लिए विवश हो जाती है।

'निर्मला' उपन्यास में निर्मला के जीवन की त्रासदी दहेज के अभिशाप का परिणाम है। निर्मला के पिताजी की अचानक मृत्यु हो जाने पर उसके मंगेतर और पिता निश्चय किए हुए विवाह से पीछे हटते हैं। परिणामस्वरूप सोलह साल की निर्मला को चालीस साल के तीन बच्चों के बाप तोतोराम के साथ विवाह करना पड़ता है।

'कठगुलाब' में स्मिता के जीजाजी उसे किसी अयोग्य आदमी के साथ शादी करवाने की कोशिश करता है क्योंकि वह बिना दहेज दिए अपना बोझ उतारना चाहता है। स्मिता जैसी एक अनाथ, मासूम लड़की के भविष्य की उसे बिल्कुल चिन्ता नहीं है।

'मुझे चाँद चाहिए' में वर्षा के पिताजी उसे दो बच्चोंवाले एक विधुर आदमी के साथ शादी कराने की कोशिश करता है। यहाँ भी दहेज की समस्या ही उसे ऐसा करने के लिए विवश करती है।

दहेज एक ऐसी समस्या है जिससे आज तक हमारा समाज मुक्त नहीं हो पाया है।

अनमेल विवाह

पुरुष सत्तात्मक भारतीय समाज शताब्दियों से रूढ़ियों और पारंपरिक श्रृंखलाओं में आबद्ध स्त्री को अनमेल विवाह की भट्‌टी में झोंकता आ रहा है। अनमेल विवाह में सिर्फ आयु के अंतर ही नहीं, भावात्मक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक अंतर भी आता है।

इन विवाहों के संदर्भ में विनोबा भावे का कथन है - "केवल माँ-बाप के सन्तोष के लिए ऐसी बात, जिसे हृदय स्वीकार न करें, कभी मान्य नहीं करनी चाहिए। कारण कि जो बात हृदय को जँचे नहीं, उसे करना अपने हृदय को धोखा देना है और धोखा देना अधर्म है।"[1] हमारे समाज में अनमेल विवाह का मूल कारण निर्धनता या दहेज प्रथा मानी जा सकती है क्योंकि भारतीय परंपरा में पुरुष के अस्तित्व पर ही स्त्री का अस्तित्व अवलंबित है। अनमेल विवाह से परिवार में तनाव, कलह, अनाचार आदि प्रवृत्तियाँ पनपती हैं।

उपनिवेशकालीन उपन्यासों में बाल-विवाह के फलस्वरूप लडका और लड़की के बीच वैचारिक तथा भावात्मक अनमेल दिखाई पड़ता है। 'भाग्यवती' उपन्यास में उमादत्तजी अपनी पत्नी से कहता है कि वैवाहिक समस्याओं का कारण बहुत कुछ माँ-बाप के छोटी अवस्था में बच्चों का विवाह करा देना है, जब स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री में रुचि नहीं होती।

---

1. भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में नारी, डॉ. नीता रत्नेश, पृ. 211

सेवासदन में सुमन की माँ को दहेज की समस्या के कारण अपनी रूपवती, शिक्षित और योग्य बेटी की शादी किसी अधेड़ और असंस्कारी गजाधर बाबू के साथ कर देना पड़ता है। परिणाम स्वरूप सुमन दुखी और असंतुष्ट रहती है। पति जब उसपर शंका करके उसे घर से निकालती है तब वह तुरंत घर से निकल जाती है और वेश्या भोली-बाई के पास शरण लेती है।

वेश्या भोलीबाई भी अनमेल विवाह की शिकार थी। वह स्वयं सुमन से बताती है - "मेरे माँ-बाप ने मुझे एक बूढे मियाँ के गले बाँध दिया था। उसके यहाँ दौलत थी और सब तरह का आराम था लेकिन उसकी सूरत से मुझे नफ़रत थी। मैंने किसी तरह छह महीने तो काटे फिर निकल पड़ी।"[1]

निर्मला उपन्यास में आयुगत बेमेल विवाह का भीषणतम रूप देखने को मिलता है। निर्मला के पिता की अचानक हत्या हो जाने पर दहेज न मिलने की संभावना को देखते हुए उसके मंगेतर डॉ. भुवन मोहन के घरवाले विवाह से इनकार कर देते हैं और निर्मला की माँ उसे तीन बच्चों के बाप अधेड़ तोताराम के साथ विवाह कर देती है। "लेकिन निर्मला को न जाने क्यों तोताराम के पास बैठने और हँसने-बोलने में संकोच होता था। इसका कदाचित यह कारण था कि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था जिसके सामने वह सिर झुकाकर निकलती थी। अब उसी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु

---

1. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 42-43

नहीं, सम्मान की वस्तु समझती थी। उनसे भागती-फिरती, उनको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी।"[1]

अनमेल विवाह से एक स्त्री की सारी चंचलता और संजीवता लुप्त हो जाती है। 'गबन' उपन्यास में अनमेल विवाह का शिकार रतन के प्रति उसके पति वकील साहब को दया और अपराध-बोध होता है। वकील साहब और रतन के बीच कोई प्रेम संबंध नहीं था। फिर भी रतन एक पतिपरायण औरत थी। वकील साहब कहता है - "क्या जानता था इतनी जल्द यह समय आ जायेगा। मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है प्रिये। ओह कितना बडा अन्याय! मन की सारी लालसा मन में रह गई। मैंने तुम्हारे जीवन का सर्वनाश कर दिया - क्षमा करना।"[2]

नवउपनिवेशकाल में भी अनमेल विवाह की समस्याएँ दृष्टिगोचर होती हैं। आधुनिक स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सजग है। वह पतिपरायण, सब कुछ सहनेवाली, लज्जाशील और संयमशील औरत नहीं है। 'रुकोगी नहीं राधिका' में राधिका के पिता और विद्या का विवाह अनमेल विवाह है। विद्या राधिका के पिता से लगभग बीस-इक्कीस बरस छोटी थी। शायद दोनों के बीच अवस्था का अंतर ही नहीं, विचारों का अंतर भी था, जिसने विद्या नींद की गोलियाँ खाकर आत्महत्या करने के लिए विवश हो गई।

---

1. निर्मला, प्रेमचंद, पृ. 31
2. गबन, प्रेमचंद, पृ. 144

'शाल्मली' उपन्यास में शाल्मली और नरेश के बीच विचारों और संस्कारों में मेल नहीं दिखाई पड़ता। शाल्मली पढ़ी-लिखी होने के नाते वह बाहर काम पर जाना चाहती है, लेकिन नरेश औरतों के बाहर काम पर जाने के पक्ष में नहीं है। पिताजी के बहुत बात करने पर भी जब नरेश ने नहीं माना तो पिताजी ने केवल इतना कहा - "मैं जानता तो यहाँ न ब्याहता तुझे, शालू, बडों ने ठीक ही कहा है कि घर-परिवार को ठोक-बजाने के बाद लड़के का कुल भी महत्वपूर्ण होता है। नरेश के पास जो संस्कार है, वह तेरे संस्कार से पूर्णतः भिन्न। न उसकी गलती है न तेरी, दुख तो मुझे है, जो ऊपर से पढा लिखा लड़का देखकर बाकी चीज़ों की तरफ से आँखें बंद कर ली।"[1]

प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रिया के बड़े भाई की शादी पिताजी की दोस्ती के नाम पर पंद्रह साल की बच्ची से करवाती है। लड़का ग्रेजुएट और लड़की अनपढ़। शायद इसीलिए दोनों के बीच रागात्मक संबंध नहीं हुआ है।

वेश्यावृत्ति

वेश्यावृत्ति एक सामाजिक बुराई के रूप में अति प्राचीन काल से प्रचलित रही है। वेश्या का अर्थ है - किसी एक पुरुष के साथ अपने शरीर संबंध न रखकर अधिक पुरुषों के साथ शारीरिक संबंध रखनेवाली स्त्री। समाज में इसके लिए मान्यता नहीं होती। कोई स्त्री पैसे कमाने के लिए जब अपने शरीर का विक्रय

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 46

करती है तब उसे वेश्यावृत्ति कहते हैं। परंपरागत भारतीय समाज में प्रचलित रूढ़ियों, अंधविश्वासों और कुप्रथाओं से स्त्री इतना त्रस्त हो गयी कि उसे जीवनयापन असंभव हो गया और वेश्यावृत्ति के सिवा और कोई रास्ता नहीं रहा। वेश्या समस्या के प्रमुख कारण आर्थिक अभाव, सामाजिक संरक्षण का अभाव, असंगत वैवाहिक पद्धति आदि है। भारतीय समाज में धर्म, नैतिकता और सामाजिक मूल्यों की आड़ में सबसे अधिक शोषित वर्ग वेश्याओं का हैं।

प्रेमचंद पूर्व काल में वेश्याओं की आवश्यकता तो उपन्यासकारों ने अनुभव की परंतु उनके उद्धार का कोई मार्ग नहीं सोचा है। उनको मानवीयता की दृष्टि से न देखकर, उनके प्रति घृणा ही प्रदर्शित की है। उन्हें विलास और सुख-सुविधा का साधन ही माना है। 'भाग्यवती' उपन्यास में उमादत्तजी विवाह में नाचनेवाली वेश्याओं पर पैसा वृथा लुटा देने के विरोध में बात करता है।

प्रेमचंदयुगीन उपन्यासकार वेश्यावृत्ति के विरोधी थे किंतु वेश्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण था। ईसा मसीह की भाँति वे पाप से घृणा करके पापी को प्रेम करने के पक्ष में थे। प्रेमचंद तो समाज की कुप्रथाओं और कुवासनाओं को वेश्यावृत्ति का मूल कारण मानते थे। उनका यह विचार सेवासदन में व्यक्त किया गया है - "हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है, यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुप्रथाएँ है जिन्होंने वेश्या का रूप धारण किया। यह दाल-मण्डी हमारे ही जीवन का कलुषित प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात्कार स्वरूप है। हम किस मुँह से उन्हें घृणा करें।"[1]

---

1. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 201

निराला ने 'अप्सरा' उपन्यास में वेश्यापुत्री कनक और राजकुमार का विवाह दिखाकर एक रूढ़िवादी मान्यता को ही तोड़ दिया गया है। वेश्या का चित्रण करते हुए उपन्यासकारों का यही दृष्टिकोण है कि वेश्या घृणित नहीं, सिर्फ उसका कर्म घृणित है। उसे परिस्थितिवश ही वेश्यावृत्ति करनी पड़ती है।

'त्यागपत्र' में मृणाल एक परपुरुष के साथ एक बुरी कोठरी ने रहती है और उससे शारीरिक संबंध भी रखती है, लेकिन वह उसे वेश्यावृत्ति मानने के लिए तैयार नहीं क्योंकि वह उससे पैसा नहीं लेता - "....पर एक बात जानती हूँ... 'वेश्यावृत्ति नहीं करने लगूँगी, इसका विश्वास रखो'... जिसको तन दिया, उसने पैसे कैसे लिया जा सकता, यह मेरी समझ में नहीं आता।"[1]

यशपाल की दिव्या कुलवधू की परतंत्रता से भी वेश्या का स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है। उसे जीवन की विफलता में भी वेश्या की आत्मनिर्भरता स्वीकार्य है।

नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में भी वेश्यावृत्ति की समस्या को उजागर किया गया है। 'आवां' उपन्यास में चित्रा मुद्गलजी ने वेश्या समस्या का सांकेतिक रूप का चित्रण अनीसा के माध्यम से किया है। वेश्या के धंधे से त्रस्त अनीसा इस धंधे को छोड़कर आयल मिल में नौकरी करने लगती है, लेकिन यही समाज उसको परेशान करके फिर से वेश्यावृत्ति करने के लिए मज़बूर करते हैं। वेश्या स्त्री की दयनीय स्थिति यहाँ चित्रित है।

---

1. त्यागपत्र, जैनेन्द्रकुमार, पृ. 57

अनामिका के 'दास द्वारे का पिंजरा' उपन्यास में वेश्या जीवन को निस्सहाय होकर अपनानेवाली स्त्रियां है। कुछ स्त्रियां परंपरा से वेश्यावृत्ति को अपनाती है। उपन्यास के आरंभ में उपन्यासकार अपनी सहपाठिनी को वेश्या बनते देख दुख अनुभव करती है। कई प्रकार के कई प्रांतों की स्त्रियाँ सेक्स वर्कर्स के रूप में काम करती है। बिहार, बंगाल और नेपाल में दारिद्र्य और लावण्य ज़्यादा है, इसलिए यहाँ की स्त्रियाँ ज्यादात्तर इस धंधे में है। वेश्याओं द्वारा की जानेवाली समाजसेवा का समर्थन उपन्यासकार उपन्यास में करती है। इसके साथ-साथ वेश्याओं की मुक्ति के लिए उन्हें मुक्ति-मिशन से जोड़ती भी हैं।

स्त्री शिक्षा

एक चीनी कहावत है कि पुरुष को शिक्षित करो तो एक जन शिक्षित होता है, पर स्त्री को शिक्षित करो तो पूरा वंश शिक्षित होता है। नारी के सर्वांगीण विकास के लिए नारी शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है। शिक्षा मानवीय गुणों को विकसित कर व्यक्तित्व को पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। अंग्रेजों के भारत आगमन से स्त्री शिक्षा को विशेष महत्व दिया जाने लगा। नवजागरणकालीन समाज-सुधारकों और उपन्यासकार स्त्री-शिक्षा के महत्व को समझकार उसपर ज़ोर देने लगे। भाग्यवती, देवरानी-जेठानी की कहानी और वामा शिक्षक उपन्यासों को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि ये स्त्री शिक्षा का महत्व बताने के लिए ही लिखे गए हैं।

भाग्यवती का संपूर्ण व्यवहार, उसके क्रिया-कलाप, अकेले रहने पर भी स्वावलंबन के साथ अपने काम करते हुए धन कमाना, यात्रा में समुचित व्यवहार

करना, परिवार के सदस्यों से अलग हो जाने पर पोस्टर लगाकर उनको ढूँढ़ने की तरकीब आदि उसके जीवन की अनोखी बातें शिक्षा के द्वारा ही संभव हो सकी। भाग्यवती अपने गली-मुहल्ले की लड़कियों में शिक्षा प्रसार करती है, उन्हें पढ़ना-लिखना, सीना-पिरोना तथा रसोई बनाना सिखाती है। वह अपने सभी लोक-व्यवहारों में बुद्धि से परिचालित करती है। उन दिनों शीतला निकलने से बहुत सारे बच्चे मर जाते थे। भाग्यवती पुराने विचारों वाली स्त्रियों को अपने बच्चों को टीका लगवाने के लिए प्रेरित करती है। भाग्यवती की माँ भी शिक्षा पर ज़ोर देनेवाली औरत है। वह कहती है - "मेरी समझ में वे लोग मूर्ख है जो अपने लड़के-लड़की को विद्या से हीन रखते हैं। विद्या एक ऐसा अभ्यास है उससे मन को कभी अवसर नहीं मिलता कि और किसी विकार में प्रवृत्त हो सके। विद्यावान को यदि आपदा भी आ जाती तो शीघ्र व्याकुल नहीं होता और न कभी उसकी निवृत्ति के साधन में आलस्य करता है।"[1]

'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास में लेखक ने पढ़ी और बेपढ़ी स्त्रियों के बीच क्या-क्या अंतर है, इसे व्यक्त करने का प्रयास किया है। अनपढ़ स्त्री जब एक काम करती है तो उसमें क्या-क्या हानि होती है और पढ़ी हुई स्त्री जब उसी काम को करती है, उससे क्या-क्या लाभ होता है।

'सेवासदन' में गार्हस्थ जीवन की शिक्षा की ज़रूरत के संबंध में बताया गया है - "हम अपने गार्हस्थ जीवन की ओर से कितने वेसुध है, उसके लिए किसी

---

1. भाग्यवती, श्रद्धाराम फिल्लौरी, पृ. 12

तैयारी, किसी शिक्षा की ज़रूरत नहीं समझते। गुडिया खेलनेवाली बालिका, सहेलियों के साथ विहार करनेवाली युवती, गृहिणी बनने के योग्य समझी जाती है। अल्हड बछड़े के कन्धे पर भारी जुआ रख दिया जाता है। ऐसी दशा में यदि हमारा गार्हस्थ जीवन आनन्दमय न हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।"[1]

गबन उपन्यास में वकील साहब रमानाथ से कहता है - "जब तक स्त्रियों की शिक्षा का प्रचार न होगा, हमारा कभी उद्धार न होगा।"[2]

'कंकाल' की गाला शादी न करके पढने और पढाने का निश्चय करती है। उसने रोकर अपने पिता से कहा - "आप मुझे अपमानित कर रहे हैं, मैं अपने यहाँ पले हुए मनुष्य से कभी ब्याह न करूँगी। यह तो क्या, मैंने अभी ब्याह करने का विचार भी नहीं किया है। मेरा उद्देश्य है - पढना और पढाना। मैं निश्चय कर चुकी हूँ कि मैं किसी बालिका विद्यालय में पढाऊँगी।"[3]

उपनिवेशकालीन समाज में स्त्री शिक्षा पाप समझी जाती थी। निराला के 'अप्सरा' उपन्यास में कनक तारा से उसके घर की स्त्रियों के संबंध में पूछती है - "दीदी! ये लोग कोई पढ़ी-लिखी नहीं थी शायद?"

"न, यहाँ तो बड़ा पाप समझा जाता है।"

"आप तो पढ़ी लिखी जान पडती है?"

---

1. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 19
2. गबन, प्रेमचंद, पृ. 78
3. कंकाल, जयशंकर प्रसाद, पृ. 163

"मेरा पढ़ना-लिखना वहीं हुआ है। घर में कोई काम था ही नहीं। छोटे साहब के भाई साहब (उसके पति) की इच्छा भी कि कुछ पढ़ लूँ। उन्हीं से तीन-चार साल में हिन्दी और कुछ अंग्रेज़ी पढ़ ली।"[1]

तारा के पति द्वारा उसको शिक्षा मिलना तत्कालीन समाज में एक कारगर कदम है।

पढ़ी-लिखी स्त्री का मन दृढ़ होता है। वह विपत्ति के समय में भी विवेकपूर्ण निर्णय लेती है। वह आभूषण प्रिय भी नहीं होती। वह उसे अच्छे काम के लिए बेचने को तैयार होती है। प्रसाद की तितली राजकुमारी से कहती है कि वह मर नहीं सकती क्योंकि उसको अपने पति के लौटने तक जीना पड़ेगा और उसने जो कुछ छोड़े है, उसे सम्हाल कर उनके सामने रखना होगा। तितली की प्रशान्त दृढ़ता देखकर राजकुमारी सोचती है कि पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ क्या ऐसी ही होती हैं। इतनी विपत्ति में भी जैसे इसको कुछ दुख नहीं। तितली अपना जेवर बेचकर उस रुपये से लगाम देने और कन्या पाठशाला चलाने के लिए एक दालान बनवाने के लिए तैयार होती है।

'चाक' उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा ने आशिक्षित नारी की समस्याओं को व्यक्त किया है। "गाँव (अतरपुर) की ज्यादातर औरतें अनपढ़ है। जो पढ़ी-लिखी भी है, वे गोबर-पानी के काम में खपकर अपनी विद्या भूल चुकी है। सारंग को

---

1. अप्सरा, निराला, पृ. 134

कन्या गुरुकुल से ग्यारह कक्षा पढ़ी बताया जाता है, मगर कोई उससे चिट्ठी लिखने के लिए कहे तो उसकी उँगलियाँ और दिल की भीतरी तहें साथ-साथ काँपने लगती है।"[1]

स्त्री पढ़ी-लिखी होती और नौकरी भी मिलती तो वह अपने पैरों पर खड़ी हो सकती है और अपनी मनपसंद शादी भी कर सकती है।

कठगुलाब की स्मिता नमिता को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करती हुई कहती है - "माँ मेरी पढ़ाई चौपट न करती तो मैं इन पर इतनी आश्रित न होती। थोडा बहुत कुछ कमा सकती थी। अब तो इतने पैसे भी हाथ में नहीं होते कि तेरी फीस जमा करता दूँ।... जैसे भी होगा, मैं तेरी फीस के पैसे दिलवा दूँगी। तू आगे पढ। अपने पैरों पर खड़ी हो। हमारे भरोसे मत रह। काम-धाम करेगी तो एक नहीं, अनेक दोस्त मिलेंगे। अपनी मनपसंद शादी करना। मेरी तरह भिखारिन मत बनना...."[2]

स्त्री को शिक्षा मिलने से उसका आत्मविश्वास प्राप्त होता है, जिससे वह अपना निर्णय खुद ले सकती। कठगुलाब की असीमा कहती है - "औरत के जीवन का निर्धारण बचपन में ही हो जाता है। शिक्षा मिलने पर उसमें वह आत्मविश्वास पैदा हो सकता है, जिससे वह अपने निर्णय खुद ले सके। असीमा कहती है, अगर नर्मदा छोटी उम्र में उनके घर रहकर पढ़ाई-लिखाई और सिलाई न सीखी होती तो

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 27-28
2. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 20

इतनी काबिलियत के साथ, उसकी माँ का बिज़नेस न सँभाल पाती। मैं सोचती हूँ और कुछ नहीं तो शिक्षा मिलने पर औरत, केरल की औरतों की तरह, राजनीतिक संगठन बनाने लायक तो ही हो सकती है।"[1]

संस्कृति

संस्कृति मनुष्य तथा समाज के बाहरी व्यक्तित्व से इतर एक अंतश्चेतना होती है। इसे साहित्य के परिप्रेक्ष्य में समझना बहुत ही आवश्यक है। संस्कृति में परिष्कार औऱ परिमार्जन ही वे मूल तत्व है जो इसे सभ्यता से अलग करके मौलिक स्वरूप में स्थापित करते हैं।

कृषि संस्कृति

भारत एक कृषि प्रधान देश है और भारतीय संस्कृति बुनियादी तौर पर कृषि संस्कृति है। भारत की आबादी के लगभग सत्तर प्रतिशत लोग किसान है और कृषि उनके आजीविका का आधार है। महात्मा गाँधी का भी मानना था कि भारत की आत्मा भारत में गाँवों में बसती है। आज भी हम कह सकते हैं कि गाँव हमारी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की पृष्ठभूमि है।

प्रेमचंद का गोदान ग्राम्य जीवन और कृषि संस्कृति का महाकाव्य है। गोदान के नायक और नायिका होरी और धनिया के परिवार के रूप में हम भारत की एक विशेष संस्कृति को सजीव और साकार पाते हैं, जो अब समाप्त हो रही

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 234

है। किसान भारत की कृषि संस्कृति का मूलाधार है। किसान के बिना भारतीय संस्कृति का कोई भी विश्लेषण अधूरा होता है। प्रेमचंद ही ऐसा एक रचनाकार हैं जिन्हें इतने विस्तार से किसान के जीवन को आधार बनाकर साहित्य सृजन किया। किसान के जीवन को भरपूर निगाह से देखने तथा लिखने के कारण 'प्रेमाश्रम' उपन्यास को किसान जीवन का महाकाव्य कहा जाता है। 'तितली' प्रसाद की कृषि संस्कृति की गहरी पहचान का उपन्यास है। लेखक कृषि संबंधी अनेक समस्याओं और घटनाओं को उपन्यास में उभारता हुआ चलता है। इन उपन्यासों के अलावा शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया', निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' श्रीलाल शुक्ल के 'बिश्रामपुर का संत' रेणु का 'मैला आंचल' आदि उपन्यासों में कृषि संस्कृति एवं भारतीय गरीब किसानों की दयनीय स्थिति का वर्णन मिलता है। नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में 'इदन्नमम', 'चाक' आदि में कृषि संस्कृति का उल्लेख मिलता है।

'चाक' उपन्यास में सात कुँआरी कन्याओं से किसानों को बीज देने का रीति-रिवाज़ देखा जा सकता है - "मास्साब खेत पर आना। मैं बीज भरी डलिया लेकर खडी दूँगी।" गुड्डी लौटकर आई है श्रीधर से कहने। "कोकिला भी होगी-सात कुंवारी कन्या जाएगी खेत पर, किसानों को बीज देने।"[1] गाँवों में किसानों की और एक रीति थी कि वे अपने खेत नहीं बेचना चाहते थे लेकिन नई पीढ़ि को गाँव मैं और खेती बारी में कोई दिलचस्पी नहीं थी। 'चाक' उपन्यास में नम्बरदार की

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 389

यह ज़िद थी कि जब तक जिन्दा रहेगा, श्वेत नहीं बचेगा, लेकिन उनके बेटों ने कहा कि हम भी भूले हुए है तुम्हें और खेत को, मौत तक। किसान के बेटे को खेती और ज़मीन से कोई आत्मीयता नहीं, जिसका कारण शायद पूँजीवाद और औद्योगीकरण का प्रभाव है।

औद्योगिक संस्कृति

स्वतंत्र भारत में औद्योगीकरण की वजह से देश की स्थिति में बहुत परिवर्तन हुए। गाँवों में खेती करके जीवन-यापन करनेवाले असंख्य लोग कल-कारखानों में नौकरी मिलने की आज्ञा से गाँव छोड़कर शहरों में पलायन करने लगे। औद्योगिक संस्कृति की आर्थिक प्रगति तथा सुख सुविधा के साधनों के विकास से मिल कारखानों के श्रमिकों तथा खेत मज़दूरों की स्थिति बेहतर हो गई। औद्योगिक संस्कृति इतना यांत्रिक है कि इसके परिणाम स्वरूप समाज में कई विसंगतियाँ उत्पन्न हुई थीं। पारिवारिक संबंध, नैतिक मूल्य, धार्मिक आस्थाएं तथा सांस्कृतिक धारणाएँ शिथिल पड़ने लगे। प्रेमचंद जैसे उपन्यासकारों ने समाज की इस स्थिति को अच्छी तरह समझकर अपने उपन्यासों के माध्यम से इसका विरोध किया है। 'रंगभूमि' उपन्यास में मुख्य समस्या औद्योगीकरण की है। उपन्यास के केन्द्र में पांडेपुर गाँव है और गाँव का केन्द्रवर्ती पात्र सूरदास है। जनसेवक अपने कारखाने के सिलसिले में उस गाँव को खाली कराकर हथियाना चाहते हैं और सूरदास इसका विरोध करता है। विद्रोह के प्रतीक सूरदास को गोली मारकर समाप्त कर दिया जाता है। औद्योगिक संस्कृति में जो अमानवीयता है, इसका भयानक परिणाम यह होता है कि पारिवारिक संबंधों में दरार पैदा हो जाता है।

इसकी वजह यह है कि औद्योगीकरण अपने साथ ऐसे लुभावने चारे लेकर आता है जो भोगोन्मुख नई पीढ़ी को आकर्षित करते है। गाँव में जो नैतिक मर्यादा होती है, वह औद्योगिक संस्कृति में नहीं है। औद्योगीकरण के जो स्वरूप और प्रभाव 'रंगभूमि' में है वह अन्यत्र विरल है।

भूमंडलीय संस्कृति और समाज

बीसवीं शताब्दी के इतिहास में भूमंडलीकरण एक महत्वपूर्ण घटना है जो भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों में ज़बरदस्त बदलाव लाया है। भूमंडलीकरण में सब बाज़ार की चीज़ हो गयी है। बाज़ारवाद का आधार उपयोगिता है, जिससे चेतना भी बाज़ार की हो गई है। 'उपभोक्तावादी बाज़ारीकरण के प्रभाव से संस्कृति के मायने बदल रहे हैं। अनेकानेक संकटों से जूझते समाज की संरचना जटिल होती जा रही है। धर्म अपनी मूलभूत अवधारणाओं को खो रहा है। मानव की संवेदना से जुडी संस्कृति पर इलक्ट्रोनिक मीडिया द्वारा आश्चर्यजनक रूप से बाज़ार और विज्ञापन की संस्कृति का वर्चस्व स्थापित हो गया है।"[1] पूरे देश में पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव है। हिन्दी उपन्यासकार भी भूमंडलीकरण के प्रभाव से अलग नहीं हो पाया है।

'रुकोगी नहीं राधिका' में राधिका आधुनिक युवा पीढ़ी की दुविधा, अनिश्चितता आदि विकृत भावनाओं से ग्रस्त दिखाई पड़ती है। वह पाश्चात्य संस्कृति से

---

1. वैश्वीकरण और महिला लेखन का बदलता स्वरूप, डॉ. रेणु शाह, मधुमति मई, 2013, पृ. 35

आकर्षित होकर अमेरिका चली जाती है, लेकिन भारतीय संस्कृति को पूर्ण रूप से छोड़ भी नहीं सकती। इसी दुविधा में जीकर वह अनिश्चितता और रिक्तता बोध का शिकार बन जाती है।

'आपका बंटी' का शकुन शिक्षित स्वाभिमानी उच्चमध्यवर्गीय युवती है। पति-पत्नी के बीच इतनी दूरी हो जाती है कि उनका दाम्पत्य जीवन तलाक में पर्यवसित हो जाता है। शकुन अपने पति और बेटा खो देती है।

भूमंडलीकरण ने दो व्यक्तियों के आय पर आधारित परिवार को आदर्श के रूप में रख दिया है और स्त्री के मन में उपलब्धि का एक नया एहसास ला दिया है कि उसके पास परिवार और काम दोनों है। घर-गृहस्थी के काम में उतनी प्रतिष्ठा नहीं है जितने बाहर के काम में है। इससे एक ऐसी परिस्थिति बनती है जो गृहस्थी और सामूहिक जीवन दोनों का अवमूल्यन करती हुई नज़र आती है। 'एक ज़मीन अपनी' में अंकिता अपनी नौकरी के लिए सुधांशु से अलग होती है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया अपने व्यवसाय को अपनी 'आइडेंटिटी' मानती है और इसके लिए खुद अपने बेटे संजु को छोडने के लिए तैयार होती है। भूमंडलीय दौर में उपभोक्तावादी संस्कृति का बहिष्कार संभव नहीं है। इसे रोकने में सभी असमर्थ हैं। भूमंडलीकृत दुनिया में संघर्षरत दो स्त्रियों की कहानी है - 'एक ज़मीन अपनी'।

नीता विज्ञापन दुनिया की चकाचौंध में पड़कर विज्ञापन के लिए अपने शरीर का उपयोग करने के लिए तैयार होती है। वह अपने काम में तो कामयाब होती है लेकिन जीवन में नाकामयाब होती हुई नज़र आती है। वह विज्ञापन जगत

की शिकार बनकर आत्महत्या करती है। अंकिता अपने शरीर के बदले अपनी बुद्धि और कार्यकुशलता से विजय प्राप्त करती है। उसकी विजय सचमुच भूमंडलीय दुनिया में स्त्री की विजय है। नीता की बच्ची भी इस भूमंडलीय संस्कृति का शिकार बन जाती है। वह दोनों माँ-बाप को खोकर अंकिता के साथ रहने के लिए विवश हो जाती है।

उपभोक्तावादी संस्कृति पारिवारिक विघटन का कारण बन जाता है। यौन मुक्ति की माँग स्त्री को भी पुरुष के समान इतना भोगवादी बना देती है कि स्त्री-पुरुष दोनों प्रेम करने के बजाय एक दूसरे का उपयोग करने लगते हैं। भोग एक दूसरे को मिटा देने का कार्य करता है जबकि प्रेम निर्माणकर्ता है। प्रेम के नष्ट होने से तलाक के सिवा और कोई चारा नहीं है।

आज भूमंडलीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव से हमारे समाज की नींव हिल रही है। किसी भी समाज के सुचारू रूप से चलने के लिए कुछ नैतिक मान्यताओं का पालन करना अत्यंत आवश्यक है। लेकिन उपभोक्तावादी संस्कृति में नैतिक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है। सारे रिश्तों को उपयोगिता की दृष्टि से ही मनुष्य देखता है। जो व्यक्ति अनुपयोगी है, उसकी उपेक्षा करना ही ज्यादा अच्छा लगता है। इसी कारण से माँ-बाप बच्चे का 'एबॉर्शन' करता है। बच्चों का लैंगिक शोषण अपने निकट के रिश्तेदारों से भी होता है। कामकाजी बेटी के पैसे की लालच में उसकी शादी नहीं करवायी जाती हैं। बूढ़े माँ-बाप को वृद्धाश्रम में भेज दिया जाता है।

'कठगुलाब' के 'इर्विंग शुरू से ही बच्चा पैदा करने के खिलाफ था। उसका कहना था, एक महान साहित्यिक रचना के सामने बच्चा क्या चीज़ है, एकदम तुच्छ, नगण्य, डिसपेंसेबल।'[1] बहुत सी कामकाजी औरतें अपने 'प्रोफशन' के लिए गर्भधारण में देरी करती है या गर्भपात करती है और इसके बाद शायद दुबारा गर्भवती नहीं होती। मारियान एबॉर्शन कराने के बाद पाँच साल तक दुबारा गर्भवती नहीं हुई। नीरजा गर्भधारण करने की चिकित्सा में फँसकर यंत्रवत् बन जाती है।

'छिन्नमस्ता' की प्रिया अपने सगे भाई द्वारा लैंगिक शोषण का शिकार बनती है।

समय सरगम में दमयंती, कामिनी और प्रभुदयाल जैसे बुजुर्ग लोग पैसे के लिए या परिवारवालों के लिए बोझ बन जाने के कारण हत्या की जाती है। स्वयं कृष्णा सोबती तो लगती है कि 'ओल्ड एज होम' ही इसके लिए एक इलाज है।

'मुझे चाँद चाहिए' की नायिका वर्षा शाहजहाँपुर जैसे छोटे कस्बेनुमा शहर से आई है। वह नाटक, मॉडलिंग तथा फिल्मों में काम कर अपनी कस्बाई संस्कृति को छोड़ देती है और महानगरीय जीवन शैली को अपनाती है। महानगरीय संस्कृति का प्रभाव उसके जीवन में बराबर बना रहताहै। उसकी भाषा, खानपान, वेशभूषा, रहन-सहन सबकुछ महानगरीय संस्कृति के अनुरूप बदल जाती है। वह जीवन में सामाजिक और आर्थिक हैसियत प्राप्त करने के बावजूद खुद को अकेला पाती है।

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 78

जन संस्कृति

जन संस्कृति या पॉपुलर कल्चर उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के आसपास उभरी एक नई अवधारणा है। जन संस्कृति ने विभिन्न संचार माध्यमों को जनता के बीच सुलभ बनाया। फिल्में, टी.वी सीरियल, विज्ञापन, इंटरनेट, मोबाइल फोन आदि साधारण जनता के लिए लोकप्रिय बन गया है। पॉपुलर कल्चर के माध्यम से विभिन्न देशों को एक दूसरे के सांस्कृतिक प्रतिरूपों को जानने समझने का अवसर मिला है। इस संस्कृति के प्रचार के पीछे बाज़ार तंत्र की आर्थिक दृष्टि के कारण यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह व्यावसायिक मूल्यों से जुडी संस्कृति है। आज के युवा पीढ़ी इसे सकारात्मक दृष्टि से देखते है और इसे आनंद का कारण समझते हैं।

'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास और आवां उपन्यास में चित्राजी ने विज्ञापन जगत के खुरदरे यथार्थ को अंकित किया है। नीता और नमिता जैसी स्त्रियाँ पॉपुलर कल्चर के आकर्षण में पड़कर अपने जीवन खो देती है।

'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास के वर्षा वशिष्ठ फिल्मी दुनिया में प्रवेश करके आसमान तक छू लेती है। पूरे उपन्यास में पॉपुलर कल्चर के विभिन्न पक्षों को देखा जा सकता है।

धंधा

औपनिवेशिक भारत में निजी व्यवसाय और व्यापार में बनिया और कायस्थ जाति बड़े पैमाने पर संलग्न थी। सदियों से कायस्थ जाति पढने-लिखने

और हिसाब-किताब करने में कुशल मानी जाती थी और इससे वे राज्य कर्मचारियों की नौकरी करते थे।

'देवरानी जेठानी की कहानी' का आरंभ सर्वसुख के धंधा के विवरण से होता है - "मेरठ में सर्वसुख नाम एक अग्रवाला बनिया था। मंडी में आड़त की दुकान थी। आसपास को गाँवों से लोग सौदा लाते। इसकी दुकान पर बेच जाते।...."[1]

उपनिवेशकालीन उपन्यासों में स्त्रियों द्वारा धंधा चलाने की बात ज़्यादातर नहीं दिखाई पड़ता है। 'भाग्यवती' उपन्यास में भाग्यवती ससुराल से निकाल दिए जाने पर वह अपनी बुद्धि से धंधा करके बहुत पैसे कमाती है। जैनेन्द्र के 'कल्याणी' उपन्यास में कल्याणी डॉक्टरी करके अपनी आजीविका चलाती है।

नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में स्त्री शिक्षित और काम करनेवाली है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया विदेश में व्यापार करती है। 'एक ज़मीन अपनी' की अंकिता विज्ञापन क्षेत्र में काम करती है। 'मुझे चाँद चाहिए' के वर्षा फ़िल्म में अभिनेत्री है। 'शाल्मली' उपन्यास के शाल्मली सरकारी ऑफिस में काम करती है।

रीति-रिवाज़ और रहन-सहन

उपनिवेशकालीन उपन्यासों में तत्कालीन समाज के रीति-रिवाज़ और रहन-सहन की झलक दिखाई पड़ता है। 'भाग्यवती' उपन्यास में उपनिवेशकालीन

---

1. देवरानी जेठानी की कहानी, पं. गौरीदत्त शर्मा, पृ. 9

समाज में विवाह के समय वेश्याओं का नाच, गालियों का गाना, बरातियों द्वारा पैसा बिखेरने जैसे रीति-रिवाज़ दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार जब कोई वृद्ध मर जाता है तो उसके संबन्धी लोग आके उसके विमान के सामने नाचते कूदते ठट्ठे करते हुए देखे जाते हैं।

'तितली' उपन्यास में बाल विधवा राजकुमारी एक छोटी सी बिन्दी लगाना चाहती थी, लेकिन रोली, कुंकुम, सिंदूर वह नहीं लगा सकती थी। तत्कालीन समाज की रीति-रिवाज़ के अनुसार विधवा अपनी इच्छानुसार श्रृंगार नहीं कर सकती थी।

नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में भी हम देखते हैं कि पुराने रीति-रिवाज़ों का निर्वाह किया जाता हैं। 'चाक' उपन्यास में बीमार पड़ने पर भी व्रत न तोड़नेवाली स्त्रियों को देखा जा सकता है। "धुंधी के बेटा की बहू को पीलिया हो गया। दवा खाती है। आज दवा नहीं खाएगी। दवा के साथ पान भी तो जाएगा। बरत खंडित हो जाता है ऐसे। एक दिन में मर तो नहीं जाएगी।"[1] 'माई' उपन्यास में "दशहरे के नौ दिन बाद पति की लंबी आयु एवं संपन्नता समृद्धि के लिए माई करनाचौथ का व्रत रखती। दिन भर निर्जल। शाम को बुआ या दादी के साथ कई बार करवो (मिट्टी की टोंटीवाली हाँडी) बदलती। उसमें दो-चार सिरकी डालकर उसे पूजा में रखती। शादी का जोड़ा पहनकर पूजा करती, करवा बदलती, ब्राह्मण को दक्षिण और खाना भेजती।"[2]

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 188
2. माई, गीतांजलिश्री, पृ. 50

भारतीय परिवारों में परंपरा से कुछ रीति-रिवाज़ों का निर्वाह किया जाता हैं। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में मम्मी अपने पुत्र नरेन्द्र को समझाती है कि जब तक देवी-देवताओं का पूजन न हो जाए, वर-वधू को सुहाग रात में अलग ही सोना चाहिए। उसी प्रकार और एक रीति-रिवाज़ यह था कि पीरियड्स के समय में छुआछूत का पालन करना। प्रिया और सरोज ने मिलकर इसके विरुद्ध हल्ला मचाया कि छुआछूत नहीं मानेंगे।

उपनिवेशकाल में लोग अतिथिसत्कार प्रिय और मेहमानों के लिए घर में ही खाना बनाने में खुशी मेहसूस करनेवाले थे। आजकल 'फास्टफुड कल्चर' में मेहमानों के लिए बाहर से खाना मंगवाने की रीति हैं। 'माई' उपन्यास में घर में अतिथि आने पर माई बिना किसी तकलीफ दिखाये खाना बनाने के लिए जुट जाती। वह होटल से कुछ मँगवाना नहीं चाहती थी। "....जब घर में खाना है तो होटल का हम किसी को क्यों खिलाये? अब दस मिनट मुझे अकेला छोड़ दो।"[1]

वेश-भूषा

उपनिवेशकाल में लड़कियों को सीना-सिलाना सिखाकर घर में ही आवश्यक वस्त्र बनाने की रीति थी। 'भाग्यवती' उपन्यास में भाग्यवती आस-पड़ोस की लड़कियों को भी सीना-पिरोना सिखाती थी। उसी प्रकार उपनिवेशकालीन स्त्रियाँ आभूषण प्रिय थीं। प्रेमचंद के 'गबन' उपन्यास का प्रमुख विषय स्त्रियों का यह आभूषण प्रेम हैं।

---

1. माई, गीतांजलिश्री, पृ. 126

'गबन' उपन्यास में रमेश रमानाथ से कहता है - "वह जान जो भोजन में खर्च, होना चाहिए, बाल-बच्चों का पेट काटकर गहनों की भेंट कर दिया जाता है।"[1] उपनिवेशकालीन पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को अपने गहनों के अतिरिक्त किसी पैसे पर अधिकार नहीं था। शायद इसीलिए उन्हें आभूषणों के प्रति इतनी आसक्ति थीं।

उपनिवेशकालीन स्त्रियाँ साड़ी पहननेवाली और पर्दा करनेवाली स्त्रियाँ थीं। 'छिन्नमस्ता' के प्रिया की बड़ी भाभी पुराने संस्कारों की स्त्री थी। वह सलवार-कुर्ता नहीं पहनती, लिपिस्टिक नहीं लगाती।

'माई' उपन्यास में माई पर्दा करती और उस पर्दे से बच्चे नफरत करने आये। लेकिन माई समझती ही नहीं थी। वह निकलने को, बदलने को तैयार ही नहीं होती थी।

नवउपनिवेशकालीन स्त्री अपनी इच्छा के अनुसार वस्त्र पहनती है। वह ज़्यादा आभूषण-प्रिय भी नहीं है। 'एक ज़मीन अपनी' की नीता बिकिनी पहनने से हिचकती नहीं है। उसी प्रकार 'मुझे चाँद चाहिए' की वर्षा भी वेशभूषा में वर्जनाएँ नहीं रखती है।

---

1. गबन, प्रेमचंद, पृ. 40

संगीत एवं नृत्य

भारतीय संस्कृति और कला में गहरा संबंध है। भारतीय कला का अत्यंत प्राचीन इतिहास है। उपनिवेश और नवउपनिवेशकाल में संगीत एवं नृत्य का महत्वपूर्ण स्थान है।

उपनिवेशकालीन उपन्यासों में विवाह के समय में वेश्याओं के नाच और गाने के विरुद्ध आवाज़ उठाया गया है। 'भाग्यवती' उपन्यास में यह देखा जा सकता है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' में चित्रलेखा पाटलिपुत्र की सुंदर नर्तकी थी, लेकिन वह वेश्या न थी।

यशपाल के 'दिव्या' उपन्यास में दिव्या राजनर्तकी देवी रत्नप्रभा के पास जाकर नृत्य कला सीख लेती है और नर्तकी अंशुमाला बन जाती है।

नवउपनिवेशकालीन में पॉप संगीत और पाश्चात्य नृत्य का अधिक महत्व है। गीत जीवन की अभिव्यक्ति के सच्चे प्रतीक होते हैं। यह विभिन्न अवसरों पर गाये जाते हैं। विवाह के अवसर पर त्योहार के अवसर पर या कोई कार्यक्रम चलाने के अवसर पर गीत गाया जाता है। नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में संगीत और नृत्य को ज़्यादा महत्व नहीं दिया गया है।

त्योहार, पर्व एवं मेला

भारतीय संस्कृति धर्म केन्द्रित है। पर्व एवं त्योहार भारतीय धार्मिक अनुष्ठानों के अभिन्न अंग होते हैं। भारतीय धर्म में समष्टिगत ऐक्य एवं सांस्कृतिक आदर्शों

की स्थापना करने के उद्देश्य से त्योहारों, पर्वों एवं मेले की योजना की गई हैं। उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में हमें त्योहारों और मेले का दृष्टांत देखने को मिलता है।

'भाग्यवती' उपन्यास में भाग्यवती हरिद्वार की यात्रा में मेले में अपने बच्चे के साथ परिवारवालों से बिछुड जाती है।

प्रेमचंद के 'सेवासदन' उपन्यास में सुमन रामनवमी के त्योहार पर पद्मसिंह के घर में भोलीबाई की मुजरा देखने जाती है।

'चाक' उपन्यास में होली के त्योहार का सुन्दर चित्र देखने को मिलता है। सारंग गुलकंदी से - "यह लड़का तो होली में पगला रहा है। कल से होश नहीं। रंग, पिचकारी, पानी से काम है बसष टेसू के फूल डाल दिए थे, तो आधी वामड़ी इस अकेले ने ही खाली कर दी।"[1]

उपर्युक्त स्त्री केन्द्रित उपन्यासों के विवेचन विश्लेषण से यह बात ज़ाहिर होती है कि स्त्री चाहे उपनिवेशकाल की हो या नवउपनिवेशकाल की, बिल्कुल स्वतंत्र नहीं है। समाज में वह अनेक बंधनों में जकड़ी हुई है। यद्यपि वह घर के चार दीवारों के भीतर से बाहर आई है, अपने पैरों पर खड़ी हो गई है, पारंपरिक रूढ़ मान्यताओं को तोड़कर नई जीवन शैली को उसने अपनाई है, तो भी अन्दर ही अन्दर वह अकेलापन, अजनबीपन और रिक्तता बोध से ग्रस्त है। नवजागरण काल

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 353

के समाज सुधारवादी आंदोलनों और बाद के नारीवादी आंदोलनों ने भारतीय स्त्री के जीवन में थोड़ा बहुत हलचल तो मचा दिया है, लेकिन आज भी वह इस पितृसत्तात्मक समाज में भूमंडलीय अपसंस्कृति की विकृतियों से दुखी और पीड़ित है।

अध्याय तीन

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में अर्थ एवं राजनीति

अध्याय तीन
उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में अर्थ एवं राजनीति

अर्थ - एक सामान्य अवधारणा

'अर्थ' का साधारण अभिप्राय भौतिक जगत की सुख सुविधाओं तथा आवश्यकता की पूर्ति करनेवाले साधन से है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार जिसमें उपयोगिता और विनिमय योग्यता है, वही अर्थ है। सभी धार्मिक ग्रंथों में अर्थ के महत्व को प्रतिपादित किया गया है। महाभारत में अर्थ के संबंध में कहा गया धर्म धन पर आधारित है। "जो किसी का धन छीनता है, वह धन के साथ उसका धर्म भी छीन लेता है। निर्धनता पाप है। सभी प्रकार के सत तथा धार्मिक-कृत्यों का मूल धन ही है।"[1] बाइबिल में सबसे ज़्यादा प्रतिपादित विषय धन से संबंधित है। इसमें लिखा गया है कि, "धनलोलुपता सभी दोषों का मूल है।"[2] पंचतंत्र में कहा गया है कि, "धन से आज विश्वास तथा सत्ता प्राप्त होती है, धन मानव का समीपस्थ संबंधी है। निम्न वंशी धनवान को प्रतिष्ठा मिलती है जबकि उच्चवंशी धनहीन को निरादर

---

1. मूल्य और हिन्दी उपन्यास, डॉ. हेमराज कौशिक, पृ. 32
2. बाइबिल

की दृष्टि से देख जाता है। निर्धनता अभिशाप है तथा मृत्यु से भी बुरी है और धन के अभाव में सद्‌गुण भी व्यर्थ हो जाते हैं। धनहीनता सभी बुराइयों का मूल है।"[1]

अर्थ संबंधी प्राचीन दृष्टिकोण आज से बहुत भिन्न था। प्राचीन काल में अर्थ को जीवन के लिए उपयोगी साधन माने जाते थे किन्तु उसे जीवन का लक्ष्य कभी नहीं मानते थे। आज के युग में धन बटोरने की लालसा बढ़ती जा रही है। धन-संपत्ति ही जीवन का ध्येय बन गया है। धन कमाने की दौड़ में मनुष्य को अनेक सगे-संबंधी नष्ट हो जाते हैं और अक्सर ऐसे कमाए हुए धन का पूर्ण उपयोग भी नहीं होता है। अत्यधिक धन संग्रह ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, संघर्ष और युद्ध तक का कारण बन जाता है। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार अर्थ का उद्देश्य वैयक्तिक लाभ न होकर लोकमंगल होना चाहिए। हिन्दू आचार शास्त्र में भी अर्थ के संबंध में ऐसा आग्रह किया गया है।

राजनीति - अर्थ एवं परिभाषा

प्राचीन भारत की शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार राजनीति शब्द का निर्माण संस्कृत के 'राज' और 'नीति' - इन दो शब्दों के योग से हुआ है। इसका अर्थ राजा अथवा राज्य संबंधी नीति है। राजनीति का अर्थ 'राज्य के सम्यक् संचालन' के रूप में समझा जाता था। लेकिन राजनीति शब्द सचमुच अंग्रेज़ी के 'पोलिटिक्स' (politics) शब्द का पर्याय है। पोलिटिक्स शब्द की व्युत्पति यूनानी के 'पोलिस'

---

1. मूल्य और हिन्दी उपन्यास, डॉ. हेमराज कौशिक, पृ. 33

शब्द से हुआ है, जिसका अर्थ है नगर राज्य। जोसेफ ड्यूनर के अनुसार 'पोलिस' वास्तव में आत्मरक्षा के लिए बनाया गया एक किला है, जिसके ऊपर से पूरे नगर को काफ़ी ऊँचाई से देखा जा सकता है। लगभग 2600 साल पहले एथेन्सवासियों ने ऐसा ही एक पहाडी किला 'अक्रो पोलिस' का निर्माण किया था जहाँ वे एकत्र होकर सार्वजनिक मामलों पर विचार विमर्श करते थे और बाद में यह पोलिस शब्द एक ऐसे संगठित समाज या शक्ति के लिए प्रयुक्त होने लगा जो दूसरी शक्तियों या समुदायों से संबंध स्थापित करने में लगे रहे। यूनानी नगर-राज्य से लेकर आज की राजनीति तक क्रांतिकारी परिवर्तन होता रहा है।

राजनीति शब्द को परिभाषित करना बहुत मुश्किल है। विद्वानों की विविध परिभाषाओं में हम मतभेद देख सकते हैं।

पाश्चात्य विद्वान डेविड ईस्टन राजनीति को नीति निर्माण से जोड़कर इस प्रकार परिभाषित करते हैं - "वे समस्त प्रकार की गतिविधियाँ राजनीति है, जो सामाजिक नीति के निर्माण और क्रियान्वयन में अंतर्गत होती है।"[1] अंग्रेज़ी विद्वान 'वरनॉन वान डायक' के अनुसार "राजनीति एक क्रिया है, वह सार्वजनिक समस्याओं के मध्य द्वन्द्वात्मक इच्छाओं की पूर्ति के लिए किया गया संघर्ष है।"[2]

डॉ. जितेन्द्र वत्स राजनीति को इस प्रकार परिभाषित करते हैं - "राजनीति से तात्पर्य उस शास्त्र से है जो राज्य संचालन संबंधी नीतियों का अध्ययन प्रस्तुत

---

1. A frame work for political analysis, David Eesten, P. 133
2. Political Science - A philosophical analysis, Veron Van Dyke, P. 133

करता है। यह विशेषतः संविधान से सम्बद्ध होता है जिसे किसी भी देश का संचालन कर्ता उसे जीवन में व्यवहार रूप में परिणत करने का भरसक प्रयत्न करता है।"[1]

भारतीय राजनीति के अन्यतम व्याख्याकार और सिद्धान्तवेता रजनी कोठारी के मतानुसार - "एक आदर्श राजनीति वह होती है जिसके ज़रिए परिवर्तन लाया जाता है, जिसके ज़रिए विचारों का सृजन होता है, जिसके ज़रिए क्रांतियों का आयोजन, किया जाता है, जिसपर नैतिक और मूल्यगत आयामों का वर्चस्व होगा, न कि अल्पकालीन लक्ष्यों और सत्ता - संबंधी लाभों का।"[2] (राजनीति की किताब से साभार)

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजनीति नीतिपूर्ण शासन है जिसका लक्ष्य स्वार्थलाभ न होकर राष्ट्रसेवा होती है। राजनीति हमारे जीवन के हर पहलू से जुड़ी हुई है। मनुष्य के वैयक्तिक और सामूहिक जीवन पर इसका प्रभाव व्यक्त रूप से द्रष्टव्य है।

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन भारत की आर्थिक व्यवस्था

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ के ज़्यादात्तर लोग गाँवों में ही बसते हैं। हमारे देश के लगभग सत्तर प्रतिशत लोग कृषि पर आश्रित होकर अपने जीवन निर्वाह करते हैं।

---

1. साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना, डॉ. जितेन्द्र वत्स, पृ. 17
2. भारत में राजनीति - कल और आज, रजनी कोठारी, पृ. 25

अंग्रेज़ ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत आगमन के समय यहाँ आत्म निर्भर ग्राम समाज व्यवस्था थी। मूलतः सामंती समाज व्यवस्था होने पर भी यहाँ की भूमि व्यक्तिगत संपत्ति न थी। भूमि का मालिक ग्राम समाज था। गाँव के सभी लोगों के लिए आवश्यक चीज़ें ग्राम समाज उपलब्ध कराते थे। ये विदेशी संबंधों से बिल्कुल मुक्त थे।

अंग्रेज़ों के भारत आने के पहले ही शहरों में हस्तशिल्प का काम सदियों से चला आ रहा था। इनकी कलात्मकता की श्रेष्ठता से आकृष्ट होकर विदेशी लोग यहाँ से माल ले जाते थे। इस प्रकार अंग्रेज़ों तथा अन्य यूरोपियों के भारत आने से पहले ही यहाँ उद्योगों का विकास हो गया था। लेकिन ये घरेलू उद्योग थे और कृषि से इनका गहरा संबंध था। ये उद्योग स्थानीय लोगों, ग्राम समाज और शासकों की ज़रूरतों को पूरा करते थे और बहुत से माल व्यापारियों द्वारा निर्यात भी किए जाते थे। यहाँ व्यापारी पूँजीपति वर्ग था लेकिन औद्योगिक पूँजीपति वर्ग पैदा नहीं हुआ था। अगर भारतीय समाज का स्वाभाविक विकास होता तो यहाँ के कुटीर उद्योग और कृषि विकसित होकर भारत शायद विश्व के संपन्न देशों में एक बन जाती। लेकिन इसके पहले ही अंग्रेज़ी पूँजीपतियों ने भारत पर अपना अधिकार जमाया। ब्रिटिश पूँजीवाद ने ग्राम समाज व्यवस्था को विघटित किया। उन्होंने हमारे लघु उद्योगों को तोड़ डाला, जो ग्राम समाज व्यवस्था के मुख्य आधार थे। 1813 से ब्रिटिश औद्योगिक पूँजीपतियों ने भारत को लूटना आरंभ किया। इसी वर्ष से ब्रिटिश कल कारखानों में बने माल ने भारतीय बाज़ारों पर अपना आक्रमण आरंभ

किया। यह आक्रमण जल्दी ही तेज़ होकर भारत की पुरानी अर्थ व्यवस्था का नाश कर दिया।

ब्रिटिश पूँजीवाद ने भारत में ज़मींदारी प्रथा ज़ारी की और ज़मींदार को ज़मीन का मालिक बनाया। इस प्रकार उन्होंने ज़मीन को व्यक्तिगत संपत्ति बनाया। ज़मीन एक बिकाऊ माल बन गई जिसे खरीदा-बेचा जा सकता था। स्वायत्तशासित ग्राम समाज का अधिकार उनसे छीन लिए गए। न्याय का काम सरकारी अदालतें, रक्षा का काम सरकारी थाने और ज़मीन का हिसाब रखने का काम सरकारी पटवारी करने लगे। ग्राम समाज के सारे काम केन्द्रीभूत राज्य के हाथ में सौंप दिए गए। आवागमन की सुविधा से कृषि का वाणिज्यिकरण होने लगा। जो फसल पहले घरेलू इस्तेमाल के लिए तैयार की जाती थी, वह बाज़ार में बेचने के लिए पैदा की जाने लगी।

ग्रामीण लोग अपने आसपास के जंगलों तथा चरागाहों की भूमि का उपयोग निःशुल्क करते थे लेकिन ब्रिटिश शासकों ने जंगल कानून पास कर ग्राम समाज का यह अधिकार भी छीन लिया। इस प्रकार स्वायत्तशासित ग्राम समाज केन्द्रीभूत राज्य की प्रशासकीय इकाई बन गया।

ब्रिटिश शासकों ने राज्य सत्ता का दुरुपयोग कर भारत के प्राचीन उद्योग धंधों को नष्ट कर दिया। पहले ज़्यादा शुल्क लगाकर और फिर कानून बनाकर उन्होंने भारतीय कपड़े को ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपीय देशों के बाज़ारों से निकाल दिया। भारत में ब्रिटिश कपड़े का आयात बढ़ता गया और ब्रिटेन में भारतीय कपड़े

का निर्यात घटता गया। इसी तरह भारत के रेशमी और ऊनी कपडे, लोहे, कांच, चमड़े, चीनी आदि के उद्योग भी नष्ट किए गए। भारत पहले अपने उद्योगों का तैयार माल ब्रिटेन तथा अन्य देशों को भेजता था, लेकिन 1833 से लेकर वह कच्चा माल भेजने लगा। अब वह ब्रिटेन के कारखानों के तैयार माल का बाज़ार बन गया था।

1853 में ब्रिटिश शासकों ने भारत में रेलपथ का निर्माण किया। इसका प्रमुख लक्ष्य भारत के कच्चे माल को ब्रिटेन में भेजने के लिए बन्दरगाहों तक पहुँचाना था और ब्रिटेन के तैयार माल को बन्दरगाहों से भारतीय बाज़ारों तक पहुँचाना था। इससे स्पष्ट होता है कि ब्रिटिश पूँजीपतियों ने रेलपथ का निर्माण भारत की भलाई के लिए नहीं, बल्कि अपने स्वार्थ के लिए किया था।

ब्रिटिश कारखानों के माल ने भारत के लघु उद्योगों का नाश कर डाला। उनमें काम करनेवाले लाखों-करोडों लोग बेरोज़गार हो गए। उन्हें अपनी जीविका के लिए खेती करनी पड़ी। भारत के औद्योगीकरण को अपने नियंत्रण में रखने के लिए ब्रिटिश पूँजीपतियों ने यहाँ बैंक स्थापित किए। इनमें 'चार्टर्ड बैंक ऑफ इंडिया' (1853), 'मर्केंटाइल बैंक ऑफ इंडिया' (1853), 'नैशनल बैंक ऑफ इंडिया' (1864) आदि प्रमुख है।

इसके अलावा ब्रिटिश शासकों ने भारतीयों के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा आरंभ की क्यों कि इन्हें अपने व्यापारिक फर्मों के लिए क्लर्कों और अन्य कर्मचारियों की ज़रूरत थी। अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त भारतीयों को सरकारी नौकरी जल्दी मिल जाती थी।

उन्नीसवीं सदी में भारतीय माल पर ज़्यादा से ज़्यादा शुल्क और ब्रिटिश माल पर कम से कम शुल्क की नीति अपनाई गई। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारतीय व्यापारियों को विश्व के बाज़ार से निकाल दिया गया। यहाँ के उद्योग धंधे भी नष्ट किए गए और भारतीय बाज़ार भी बहुत कुछ ब्रिटिश पूँजीपतियों ने हथिया लिया। भारतीय समाज की इसी पृष्ठभूमि में भारत में राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय आंदोलन का जन्म हुआ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के सात दशक के बाद भी ग्रामीण क्षेत्रों का विकास निर्धारित लक्ष्य तक नहीं पहुँच सका। ग्रामों के विकास के लिए अनेक योजनाएं बनाई गईं। फिर भी बेरोज़गारी की समस्या बनी रही। कृषि का भविष्य प्रमुख रूप से दो बातों पर निर्भर करता है। पहला किसानों की आर्थिक स्वतंत्रता और दूसरा कृषि में वैज्ञानिक तकनीकी का उपयोग। किन्तु ये दोनों बातें नहीं हो रही हैं। सरकार द्वारा जिस सहायता का अनुदान किसानों को दिया जाता है, वह नौकरशाही हडप रही है। कृषकों को समय पर उर्वरक एवं उन्नतिशील बीज की मात्रा एवं सिंचाई के साधनों को उपलब्ध कराकर उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। लेकिन सरकार की ओर से इनके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है। सरकार द्वारा दिए गए अनुदान कृषकों तक न पहुँचने के कारण, गरिबी से पीड़ित होकर वे आत्महत्या करने के लिए विवश हो रहे हैं।

औद्योगीकरण और शहरीकरण ने गाँव को भी प्रभावित किया और बहुत लोग गांवों से शहरों में पलायन करने लगे। गरीबी, बेरोज़गारी और भुखमरी की समस्या से ग्रामीण लोगों में अधिक ऋणग्रस्तता आ गई थी जिससे उनकी हालत

दिन-प्रतिदिन बिगड़ती गई। नब्बे के दशक में भारत में नई औद्योगिक नीति घोषित की गई, जिसके आधारभूत सिद्धांतों में भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण सन्निहित थी।

भूमंडलीकरण ने विश्व को एक गाँव में बदल दिया है। नई संचार, प्रौद्योगिकी एवं उदार नीतियों ने भारतीय समाज एवं संस्कृति को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। भूमंडलीकरण से उपभोक्तावाद एवं बाज़ारीकरण का विकास हुआ। इससे भारत की आर्थिक स्थिति कमज़ोर हो गयी। अब परंपरागत बाज़ार के स्थान पर नवीन उद्यमिता (Neo Entrepreneurship) सामने आ रही है। निश्चित रूप से भूमंडलीकरण ने भारत के राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं को प्रभावित किया है। मानवता, समानता, स्वतंत्रता, धर्म-निरपेक्षता, लोकतंत्रीकरण आदि पहलुओं पर वैश्वीकरण से व्यापक प्रभाव पड़ा है।

गाँधीवादी आर्थिक चिंतन

गाँधीवादी अर्थव्यवस्था मानवतावादी दृष्टिकोण पर आधारित है। यह स्वार्थी या उग्र राष्ट्रवाद के दोषों से मुक्त है, साथ ही सबके हित में, अंतिम व्यक्ति को प्राथमिकता देते हुए काम करने की प्रेरणा भी देता है। "गाँधीवादी अर्थव्यवस्था में पूँजीपति अपनी पूँजी, भौतिक संसाधनों का स्वामी नहीं होता, वह उनका ट्रस्टी बन जाता है, क्योंकि विश्व की संपूर्ण संपत्ति तो वस्तुतः ईश्वर की है। एक ट्रस्टी के रूप में पूँजीपति समस्त पूँजी-भौतिक संसाधनों का उपयोग उन्नत प्रौद्योगिकी की

सहायता से गरीबी उन्मूलन हेतु करना अपना कर्तव्य समझता है।"[1] इसके अलावा महात्मा गाँधी की स्वदेशी नीति के सिद्धांत पर आधारित अर्थव्यवस्था हर नागरिक के आर्थिक स्वावलंबन के लिए सक्षम है। स्वदेशी का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा - "स्वदेशी का अर्थ है कि अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन अपने ही देश में किया जाए और उन्हीं का वितरण और उपयोग किया जाये।"[2] गाँधीजी के स्वदेशी के सिद्धांत में विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार भी समाहित था। जो वस्तुएँ देश में उत्पादित नहीं होती, उसे विदेश से आयात किए जाने में गाँधीजी को कोई आपत्ति नहीं थी।

गाँधीजी की स्वदेशी अर्थव्यवस्था सर्वोदय की नीति पर आधारित होने के कारण सबके आर्थिक विकास और सबकी आर्थिक स्वावलंबन पर बल देती है। इतना ही नहीं, यही अर्थव्यवस्था विश्वशांति का मार्ग प्रशस्त करने में सक्षम है क्योंकि इसमें पूँजीपति पूँजी का स्वामी नहीं, ट्रस्टी बन जाता है और पूँजी का उपयोग सबके हित के लिए करता है। श्रमिक भी काम को पूजा समझकर निष्ठापूर्वक उसे पूरा करता है। इससे श्रम और पूँजी का संघर्ष समाप्त हो जाता है। यह अर्थव्यवस्था शोषण और संग्रह पर नहीं, सेवा और सहयोग पर आधारित होती है।

डॉ. अंबेडकर के आर्थिक विचार

डॉ. अंबेडकर की मान्यता है कि "किसी भी देश की आर्थिक नीति का मूल्यांकन उस देश में रेलवे, सड़क, नहरों के निर्माण इत्यादि जैसी सार्वजनिक

---

1. प्रौद्योगिकी एवं गरीबी उन्मूलन, डॉ. गार्गीशरण मिश्र मराल, संग्रथन - जनवरी 2011
2. वही

आयोग की सेवा तथा विकासात्मक वस्तुओं पर किए गए खर्च के आधार पर किया जाना चाहिए।"[1] 1834 से 1848 तक की अवधि में भारत में ईश्ट इंडिया कंपनी द्वारा सार्वजनिक कार्यों पर किया गया कुल खर्च इंग्लैंड के मैनचेस्टर नगर द्वारा मात्र उसकी पानी आपूर्ति के लिए किए गए खर्च से भी कम था। यह दिखाकर अंबेडकर ने अंग्रेज़ों का भारतीय जनता के प्रति अन्याय सिद्ध कर दिया है। "1858 में ईस्ट इंडिया कंपनी का अंत होने पर निर्धनता के बोझ तले छटपटाती हुई भारीय जनता पर किस प्रकार ऋण का पहाड़ लादा गया, उसका भी डॉ. अंबेडकर ने वर्णन किया है। इससे वे सिद्ध करते हैं कि भारत के इंग्लैंड के प्रति किए गए प्रचंड योगदान की तुलना में इंग्लैंड द्वारा भारत के लिए किया गया आर्थिक योगदान कितना नगण्य है।"[2] डॉ. अंबेडकर के आर्थिक दर्शन का मूलमंत्र है - 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'। जाति पाँति का विचार न करते हुए सभी भारतवासियों को स्वतंत्रता, समता और न्याय उपलब्ध करवाना डॉ. अंबेडकर के दर्शन का मूल उद्देश्य है।

अमर्त्य सेन का आर्थिक चिंतन

नोबेल पुरस्कार से सम्मानित भारतीय अर्थशास्त्री प्रो. अमर्त्य सेन के अनुसार - "व्यक्ति का स्वातंत्र्य ही दुनिया की अर्थव्यवस्था के केन्द्र में है अथवा

---

1. डॉ. अंबेडकर - आर्थिक विचार एवं दर्शन, लेखन संपादन - डॉ. नरेन्द्र जादव, पृ. 143
2. वही

होना चाहिए और आर्थिक विकास के वे ही स्वरूप सफल है जो इस बहुपक्षीय स्वातंत्र्य को परिपुष्ट करते हैं।"[1]

अधिकांश विकासशील देशों में भूमि और संपत्ति पर परिवार के पुरुषों का ही अधिकार है। जहाँ भी नारी को परंपरा के विरुद्ध काम करने का अवसर मिलता है, वह उसे बहुत ही सफलतापूर्वक और कुशलतापूर्वक निभाया है। काम में भागीदारी से केवल भागीदार महिला की आय में वृद्धि नहीं होती वरन् उसकी मान-प्रतिष्ठा में भी वृद्धि होती है और अनेक सामाजिक हितलाभों का सृजन भी होता है। "अतः आर्थिक कार्यों में नारी की भागीदारी अपने आप में तो एक पुरस्कार स्वरूप है ही, (परिवार के भीतर इसके कारण नारी के विरुद्ध भेदभाव में कमी आती है), साथ ही, यह सामाजिक बदलाव को भी बहुत सकारात्मक रूप में प्रभावित करती है।"[2]

महावीरप्रसाद द्विवेदी का सम्पत्तिशास्त्र

भारत की आर्थिक व्यवस्था में कई तरह का अनोखापन है जिसके कारण पाश्चात्य देशों के अर्थशास्त्र संबंधी नियम, यहाँ लागू नहीं कर सकते। अगर लागू किए जाए तो हानि ही होगी। इसलिए भारत के आर्थिक विकास के लिए भारतीय दृष्टि का अर्थशास्त्र निर्मित करना होगा।

---

1. आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य, अमर्त्य सेन, पृ. 29
2. वही - पृ. 210

"द्विवेदीजी के 'सम्पत्तिशास्त्र' पुस्तक लिखने का उद्देश्य अर्थशास्त्र के सार्वभौम सिद्धान्तों का सिर्फ वर्णन करने का नहीं है, अपितु भारतीय अर्थशास्त्र की गहरी जाँच-पड़ताल करने के लिए उन सिद्धान्तों का सहारा लेना है एवं हिन्दी जनता को देश की आर्थिक परिस्थितियों की यथार्थ दशा का संज्ञान कराना है, जो तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक दशा के मूल में है।"[1]

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने धन-संपत्ति को ज़्यादा महत्व नहीं दिया। उसे तृणवत् मानने ही में उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा समझी है। उसे अनेक अनर्थों का मूल बतलाने ही में उन्होंने संसार का भला सोचा है। द्विवेदीजी बताते हैं कि सम्पत्तिशास्त्र का संबंध व्यापार और राज्यव्यवस्था से बहुत अधिक है लेकिन इन दोनों बातों में हमारा देश पराधीन है। विदेशियों ने इस देश के व्यापार और राज्य व्यवस्था को अपने अधीन कर लिया है। स्वाधीनता के बिना संपत्ति-वृद्धि के नियम बनाकर तदनुकूल व्यवहार करना और सम्पत्ति को नष्ट होने से बचाना बहुत कठिन काम होगा। उन्होंने यह भी कहा कि इन दोनों क्षेत्रों की स्वाधीनता तभी संभव है जब भारतवासी अर्थशास्त्र के सिर्फ सिद्धान्त ही नहीं, अपितु देश की आर्थिक दशा को भी ठीक-ठीक जाने एवं उसे विकसित करने के प्रति जागरूक हो।

द्विवेदीजी के मन में भारतीय किसानों के प्रति तीखा दर्द था। वे बताते हैं कि - "अंग्रेज़ी गवर्नमेंट हिन्दुस्तान में शासन भी करती है और ज़मींदारी भी। इस

---

1. महावीर प्रसाद द्विवेदी का अर्थशास्त्रीय चिंतन, भारत यायावर, वर्तमान साहित्य (अक्तूबर 2015)

देश की प्रायः सारी ज़मीन पर गवर्नमेंट का ही स्वत्व है। वह दस, बीस या तीस वर्ष बाद नए सिरे से ज़मीन की माप-जोख करके लगान बढ़ा देती है और जो अधिक लगान नहीं देता उसे बेदखल कर देती है। इसी से किसान और ज़मींदार ज़मीन को उत्पादक बनाने के लिए विशेष खर्च नहीं करते। फल यह होता है कि उसकी उत्पादक शक्ति दिन-ब-दिन क्षीण होती जाती है और खेती की उपज से ही जीवन-निर्वाह करनेवालों की लोटा-थाली बिकती चली जाती है।"[1]

अंग्रेज़ यहाँ औद्योगिक क्रांति या पूँजीवादी क्रांति करते नहीं आए थे, उनकी भूमिका नवसामंतवादी थी। भारत के पुराने सामंतवाद में किसानों से राज्य संचालन के लिए उपज का छठा भाग कर की तरह लिया जाता था, लेकिन ज़मीन पर किसानों का ही स्वामित्व था। किसान उपज बढ़ाने के लिए और ज़मीन की उर्वर शक्ति बढ़ाने के लिए उसमें खर्च करते थे। अंग्रेज़ी राज में किसान को ज़मीन कुछ वर्षों के लिए ही मिलती थी। और उनसे बहुत बड़ा लगान भी वसूल किया जाता था। लगान न दे सकते तो किसान को ज़मीन से बेदखल कर दिया जाता था। इससे किसान ज़मीन के लिए कुछ खर्च नहीं कर सकते थे और साल-दर साल उपज कम होती जाती थी। किसानों की गरीबी का यही कारण है।

भारत में अकाल और भुखमरी का और एक कारण इंग्लैंड को खाद्यान्न का निर्यात था। पुराने ज़माने में अन्न बहुत महंगा पड़ने पर राजा अन्न का निर्यात बंद

---

1. महावीर प्रसाद द्विवेदी का अर्थशास्त्रीय चिंतन, भारत यायावर, वर्तमान साहित्य, अक्तूबर 2015

कर देता था या विदेश जानेवाले अन्न पर इतना अधिक कर लगा देता था कि बाहर भेजने से अन्न के व्यापारियों को नुकसान होता था।

अंग्रेज़ी सरकार भारत में मुक्त बाज़ार यानी निर्बन्ध रहित व्यापार ज़ारी कर रखने पर भारत की दशा और बदतर होती जाती थी। भारत जैसे पिछडे और निर्धन देश में मुक्त बाज़ार का कानून कितना अहितकर था और इससे यहाँ के उद्योग व्यापार किस तरह नष्ट किया गया, इसे द्विवेदीजी ने विस्तार से बताया है। निर्बन्ध रहित वाणिज्य के कारण लाभ की मात्रा व्यापारियों को बहुत ही कम रह गई है। स्वदेशी चीज़ों का व्यापार करनेवालों की दशा तो और भी खराब है। व्यापार में किसी तरह की प्रतिबंध न होने के कारण विदेश से अपरिमित माल यहाँ आता है। इससे माल का संग्रह और आमदनी अधिक हो जाती है और भाव गिर जाता है। लोगों को इससे हानि होने लगती है। हानिकारी व्यवसाय बहुत दिन तक कौन कर सकेगा?

मुक्त बाज़ार से भारत के उद्योग-धंधे नष्ट हो रहे थे। यहाँ के कारीगर भुखमरी के कगार पर जा रहे थे। उसका कारण बताते हुए द्विवेदीजी कहते हैं - "बहुत सी चीज़ें जो विदेशों में कलों से बनाई जाती है, यहाँ हाथ से बनाई जाती है। कलों से बनाई हुई चीज़ें हाथ से बनी हुई चीज़ की अपेक्षा खर्च कम बैठता है। इससे इस देशवाले विदेशी व्यापारियों का मुकाबला नहीं कर सकते। साथ ही अंग्रेज़ सरकार ने इंग्लैंड में बनी चीज़ों पर से कर हटा रखा था, पर देश में बनी वस्तुओं पर बेतरह कर लगा रखा था। इससे यहाँ के उद्योग-धंधे बर्बाद होते चले गए। अब

यहाँ के लोगों की जीविका का साधन मूलतः कृषि रह गया और कृषि पर अंग्रेज़ों का इजारा होने से, नई लगान प्रथा के कारण लोगों का जीविका निर्वाह करना भी मुश्किल होता गया।"[1]

द्विवेदीजी के 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' शीर्षक कविता से जो जुलाई 1903 की सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई, उनकी अर्थशास्त्रीय दृष्टि का पता चल सकता है-

विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे हैं?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं?
न सूझे है अरे भारत भिखारी!
गई है हाय तेरी बुद्धि मारी!
हज़ारों लोग भूखों मर रहे हैं!
पड़े वे आज या कल कर रहे हैं।
महा अन्याय हा हा हो रहा है।
कहें क्या कुछ नहीं जाता कहा है।
मरें असगर, बिसेसर और काली।
भरे घर ग्राण्ट, ग्राहम और राली।

महात्मा गाँधी के विपरीत द्विवेदीजी कल-कारखानों, विज्ञान टैकनॉलॉजी के समर्थक थे। उनका मानना था कि भारत सिर्फ खेती एवं कुटीर उद्योग पर

---

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी का अर्थशास्त्रीय चिंतन, भारत यायावर, वर्तमान साहित्य, अक्तूबर 2015

अवलंबित रहकर विकसित नहीं हो सकता। इसके लिए बडे कल-कारखाने खोलकर बड़े पैमाने पर उत्पादन की पद्धति विकसित करने की ज़रूरत है। भारत का वस्त्र उद्योग हमारे पुराने चर्खे के बल पर इंग्लैंड के कपडों के बड़े कारखानों को चुनौती नहीं दे सकता। अमेरिका के वैज्ञानिक रीति एवं औजारों से खेती करनेवाले किसानों की बराबरी यहाँ के किसान अपने हलों द्वारा नहीं कर सकते।

द्विवेदीजी ने मज़दूरों एवं किसानों के संगठन बनाने पर ज़ोर दिया क्योंकि वे जानते थे कि मज़दूरों - किसानों की अवस्था बगैर संगठन के सुधर नहीं सकती। उन्होंने कारखानेदारों को अपने कारखाने में मज़दूरों को साझेदार बना लेने का उपाय सुझाया। यूरोप और अमेरिका में इस तरह के सैकड़ों उदाहरण पाए जाते हैं जिनमें मज़दूरों को मुनाफे का हिस्सा देने के कारण मालिकों और मज़दूरों दोनों को अनन्त लाभ हुआ है। द्विवेदीजी पूँजीवाद का समर्थन करते हैं। वे आम लोगों की उन्नति उसी पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर ही करने के पक्षपाती हैं।

सामंतीय अर्थव्यवस्था

प्राचीनकाल में निर्मित समाज व्यवस्था ने जिस आर्थिक संरचना को अपनाया, उसने अंततः सामंतीय व्यवस्था को जन्म दिया। सामाजिक और आर्थिक शक्तियों के मध्य जो राजन्य वर्ग था, उसने सामंती व्यवस्था को रूपायित करने का मूल कार्य किया। इस प्रकार साधारण जनता ने प्राचीन काल में अपनी सुरक्षा के लिए जो समाज बनाया था, वह धीरे-धीरे उसी के विरुद्ध एक व्यवस्था उत्पन्न करनेवाला सिद्ध हुआ। उपनिवेशकालीन भारतीय समाज में सत्ता भूस्वामी वर्ग के

हाथ में थी। पुरोहित और राजा इसके पीछे खड़े थे। गठबंधन बड़ी आसानी से सामंती समाज व्यवस्था में बदल गया। सामंती समाज में राजस्व का प्रधान माध्यम कृषि कर ही था, जिसे वसूल करने का अधिकार राजा ने ज़मींदारों को दिया था। साथ ही इन ज़मींदारों पर किसी प्रकार की केन्द्रीय सत्ता का प्रतिबंध न होने के कारण करों की संख्या बढ़ने लगी, जिससे कृषकों की स्थिति दयनीय हो गई।

प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' उपन्यासों में किसानों की समस्याओं का नंगा चित्र प्रस्तुत किया गया है। विडंबना तो यह है कि गरीब किसान अपनी नादानी और धर्मभीरुता के कारण इस अत्याचार को बर्दाश्त कर लेते हैं।

सामंती पितृसत्तात्मक समाज में परिवार का आय मुख्य रूप से घर की मुखिया के पास होता था। परिवार उसको बड़ा आदर देता था। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई हिल नहीं सकता था। उपनिवेशकालीन उपन्यासों जैसे भाग्यवती वामा शिक्षक, सेवासदन, निर्मला आदि उपन्यासों में स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता नहीं थीं। उन्हें घर के पुरुषों पर आश्रित होना पड़ता था।

जैनेन्द्र के उपन्यास 'कल्याणी' में कल्याणी पढ़ी-लिखी और डॉक्टर होते हुए भी यह अपने पति के प्रताड़नों को चुपचाप सहती है

गीतांजलिश्री की 'माई' में दादा की मंशा के खिलाफ़ कुछ नहीं होता था। "क्या मजाल कि उनकी मंशा के खिलाफ कुछ हो। या उनकी चाह टाली जाये।

चींटे को कहे शेर तो वही सही, लातों को कहे प्रेम तो वह भी। आदेश दे तो पूरे घर को सिर पर खड़ा होना पड़ेगा। दादा किसी सोच में डूबे, भूल से कह जायें - "आज गटर का निमोना और चावल खायेंगे" - तो बना-बनाया खाना एक तरफ़ सरकाके माई दुबारा जुट जाती।"[1]

उसी प्रकार सुनैना को गाना नहीं सिखाया गया क्योंकि दादा के लिए "गानेवाली और पैरों में घुँघरू पहननेवाली बुरी औरत है और जिसके दाँत थोड़े बाहर को है वह अक्लमंद औरत है।"[2]

पूँजीवाद और भूमंडलीकरण

अठारहवीं शताब्दी में ब्रिटेन और बाद में यूरोप के कुछ देशों में औद्योगीकरण की शुरुआत से पूँजीवाद का उदय हुआ। उस समय यूरोप के अधिकांश देशों में सामंती व्यवस्था कायम थी। औद्योगिक क्रांति से जन उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हुई तो अपने देश की सीमा से बाहर बडे पैमाने पर व्यापार का आर्थिक सिद्धांत अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित होने लगा। ब्रिटेन के एडम स्मिथ जो इस सिद्धांत का आदि प्रणेता था, उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया कि हर क्षेत्र को विशेष तरह के उत्पादन के लिए कुछ स्वाभाविक सुविधाएँ होती हैं और खुले व्यापार और विनिमय से सभी क्षेत्रों को अपने विशेष तरह के उत्पादन को विकसित करने का मौका मिलता है। लेकिन उस समय यह स्वाभाविक सुविधा सिर्फ ब्रिटेन को ही थी

---

1. माई, गीतांजलिश्री, पृ. 33
2. वही, पृ. 36

क्योंकि वह नए तरह के उद्योग धंधों के विकास में आगे रहा था। दूसरे देशों को इससे कोई फायदा नहीं था।

ब्रिटिश औपनिवेशीकरण से हमारे लघु व्यवसायों को बहुत बड़ा आघात पहुँचा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गाँवों और शहरों में अंग्रेज़ी शिक्षा प्रसार के लिए सरकारी प्रबंध में नए मदरसों और स्कूलों की स्थापना की गई। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ नए शहरी मध्यम वर्ग का उदय हुआ। अंग्रेज़ी के पढ़ लेने पर सरकारी दफ्तर या रेल में नौकरी मिल जाती थी। इससे पैतृक व्यवसाय में लगने की जो परंपरा थी, वह टूटने लगी।

'देवरानी जेठानी की कहानी' में मेरठ के बनिया सर्वसुख का छोटा बेटा, बनिया का काम न करके अंग्रेज़ी पढ़कर रेल में 15 रुपये महीने का नौकर हो जाता है। नए शहरी मध्यम वर्ग में वकील और इंजीनियर के पेशे से इज्ज़त बढ़ जाती थी। सर्वसुख का अंग्रेज़ी पढ़ा, रेल में काम करनेवाला छोटा बेटा अपने बडे बेटे को रुडकी कॉलेज में भेजकर इंजीनियर बनाना चाहता था, किन्तु उसकी पत्नी बेटे को वकील बनाने के पक्ष में थी। वह पति से कहती है - "मेरा ताऊ आगरे में वकील है। हज़ारों रुपये महीने की आमदनी है और घर के घर है किसी का नौकर नहीं।"[1]

'वामा शिक्षक' में गंगा का पति सीताराम दस रुपये का सरकारी नौकर था। वह गंगा की सलाह से रिश्वत नहीं लेता है, जिससे तरक्की कर पेशवार नियुक्त

---

1. देवरानी जेठानी की गहानी, पं. गौरीदत्त शर्मा, पृ. 27

हो जाता है। किन्तु तहसीलदार से न बन पाने के कारण वह नौकरी छोड़ देता है। उस समय गंगा उसे हर प्रकार से साहस बँधाकर समझाती है - "नौकरी गुलामी से भी बुरी है। गुलाम तो कभी काम को टाल भी देता है पर नौकर कभी नाह नहीं कर सकता जब भी हाकिम ने बुलाया जाना पड़ा जो काम दिया वह करना पड़ा नौकरी की बुराई वो लोगों में यहाँ तक प्रसिद्ध है कि लोग नौकर और कूकर को बराबर समझते हैं।"[1] गंगा अपने पति को सौदागरी करने की सलाह देती है और कहती है कि विलायत में लोग नौकरी तो लाचारी से करते हैं, जहाँ तक हो सके सौदागरी ही करते हैं।

यहाँ लेखक ब्रिटिश सरकार की नौकरी करने के बजाय हमारे व्यवसाय की वृद्धि करने का प्रोत्साहन देते हैं। वे बताते है कि नौकरी से सौदागरी की दुकान करने में बड़े लाभ मिलते हैं।

ब्रिटिश पूँजीवादी व्यवस्था के फलस्वरूप अनेक लोगों को अपने पारंपरिक व्यवसायों को छोड़कर ब्रिटिश सरकार की नौकरी करनी पडी। इससे बहुत कम आमदनी मिलने के कारण उन्हें परिवार का निर्वाह करना मुश्किल पड़ जाता था। प्रेमचंद के 'सेवासदन में दारोगा कृष्णचन्द्र को नौकरी करके कोई बचत नहीं था। उसे अपनी बेटी सुमन की शादी में दहेज देने के लिए तीन हज़ार रुपये रिश्वत लेना पड़ता है, और बाद में पकड़ा भी जाता है। 'निर्मला' उपन्यास में निर्मला के पिताजी

---

1. वामा शिक्षक, मुंशी ईश्वरीप्रसाद व कल्याण राय, पृ. 66

बाबू उदयभानु लाल अच्छे वकील होते हुए भी उसे निर्मला को दहेज देने के लिए पैसे की समस्या आ जाती है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में सामंतीय एवं पूँजीवादी व्यवस्थाओं का द्वन्द्व दिखाई देता है। एक से दूसरे की ओर परिवर्तित होने पर उस संधिस्थल की कई समस्यायें प्रेमचंदीय उपन्यासों की खासियत है। वह रंगभूमि, गोदान जैसे उपन्यासों को अर्थशास्त्र के अनुसार परखने के लिए हमें मज़बूर करता है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सबसे प्रमुख तत्व पूँजी है। भारतीय ऋषियों और आचार्यों ने अर्थ की क्षणभंगुरता और व्यर्थता को पहचान लिया था। आदिशंकराचार्य ने कहा था - 'हे मूर्ख। संपदा के लिए कभी संतुष्ट न हो सकनेवाली अपनी इच्छा को त्याग हो। बुद्धिमान बनो और संयत संतोष विकसित करो। अपने श्रम के फलों से ही संतुष्ट और प्रसन्न रहो।'[1]

बहुदारण्यक उपनिषद में मैत्रेयी ने अपने पति याज्ञवल्क्य से एक बहुत ही वाग्मितापूर्ण प्रश्न किया जो आज भी अर्थशास्त्र तथा विकास की प्रकृति को समझने में बहुत ही उपयोगी और सार्थक सिद्ध हो सकता है। "यदि सारी धन संपन्न वसुधा की वह एक मात्र स्वामिनी हो जाए तो उसे अमरत्व की प्राप्ति हो जाएगी?" याज्ञवल्क्य का उत्तर था : "नही! अन्य धन-ऐश्वर्य-संपन्न लोगों की भाँति ही तुम्हारा भी जीवन हो जाएगा। किन्तु, धन के माध्यम से अमर हो पाने की कोई आशा नहीं

---

1. बाज़ार और समाज, गिरीश मिश्र, पृ. 268

रखनि चाहिए।" फिर मैत्रेयी ने पूछा, "तो फिर उस वस्तु से, जो अमर नहीं बना सकती, मुझे क्या लाभ हो सकता है?"[1]

प्रसाद के 'तितली' उपन्यास में रामनाथ कहता है - "जनता को अर्थ प्रेम की शिक्षा देकर उसे पशु बनाने की चेष्टा अनर्थ करेगी। उसमें ईश्वर भाव की आत्मा का निवास न होगा तो सब लोग उस दया, सहानुभूति और प्रेम के उद्‌गम से अपरिचित हो जायेंगे जिससे आपका व्यवहार टिकाऊ होगा।"[2]

यशपाल के 'दिव्या' नामक उपन्यास में दिव्या के पिता पण्डित विष्णु शर्मा उसे समझाता है - "धन की महिमा तुम्हारी दृष्टि में इतनी अधिक है। धन भोग्य वस्तु है, वह मनुष्य का मूल्य निश्चित नहीं कर सकता।"[3]

'दिव्या' उपन्यास में ही और एक जगह रत्नप्रभा सोचती है - 'धन का उपयोग क्या है? धन का उपयोग भोग में है। वह उसे किस प्रकार भोगे? सुन्दर वस्त्र, आभूषण, भव्य भवन सब कुछ है, परन्तु वे क्या सन्तोष देते हैं? वे जीवन का लक्ष्य नहीं, केवल उपकरण मात्र है।'[4]

भारतीय अर्थव्यवस्था निस्वार्थ मानवतावादी दृष्टिकोण पर आधारित है। वह पूँजीवाद के खिलाफ है। इसकी झलक हमें उपनिवेशकालीन उपन्यासों में देखने को मिलती है।

---

1. आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य, अमर्त्य सेन, पृ. 29
2. तितली, जयशंकर प्रसाद, पृ. 104
3. दिव्या, यशपाल, पृ. 13
4. वही, पृ. 101

भूमंडलीकरण पूँजीवाद का परिवर्तित रूप है। पूँजीवाद ने विकसित देशों की आवश्यकतानुसार अपना रूप बदल दिया है। भूमंडलीकरण का वर्तमान रूप भी विकसित देशों की आशा, आकांक्षा और आवश्यकता को प्रतिबिंबित करता है।

पूँजीवाद की मृत्यु की कामना करते हुए कार्ल मार्क्स ने 1848 में कम्यूनिस्ट घोषणापत्र में इस प्रकार लिखा था - "अपने उत्पादों के बाज़ार की तलाश बुर्जुआ को पूरे भूमंडल में दौडाती है। इसे अपना नीड़ सर्वत्र बनाना है, इसे हर जगह बसना है, इसे अपना संबंध सर्वत्र फैलाता है।"[1] यह एक प्रकार की भविष्यवाणी थी क्योंकि आज उसे सच होते सब देख रहे हैं।

भूमंडलीकरण आज विश्व में एक स्वीकृत विचारधारा के रूप में स्थापित हुई है। इसका कारण यह है कि इससे आम आदमी के जीवन को पहले से सुविधा-संपन्न एवं सुखदाई बनाया है। यही नही, भूमंडलीकरण ने बदलते समय के साथ अपने को ढालने में सफलता प्राप्त की है।

भारत में आर्थिक उदारीकरण के फलस्वरूप एक नए मध्यवर्ग का जन्म हुआ। आज़ादी के समय इस मध्यवर्ग की जनसंख्या 5 प्रतिशत था लेकिन आज यह 30 प्रतिशत बन गया है। यह मध्यवर्ग रिश्ते-नाते में दिलचस्प नहीं है। ये घोर स्वार्थी और एक ऐसे उपभोक्ता वर्ग के रूप में उभरकर सामने आया है, जिसकी दिलचस्पी केवल अपने ही सुख तक सीमित है। इन्हें ऋण लेने में कोई झिझक

---

1. भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, सच्चिदानंद सिन्हा, भूमिका से

नहीं। पहले मध्यवर्ग का व्यक्ति बचत करने के बाद ही खरीददारी करता था लेकिन आज का मध्यवर्ग कार, मकान या कोई भी उपभोक्ता सामान खुशी के साथ ऋण में खरीद लेता है। 'ई.एम.ऐ' जैसी सुविधाओं ने खरीददारी को आसान बना दिया है। यह उदारीकरण की प्रक्रिया से जन्मे भोगवाद का नतीजा है। शिक्षित बुद्धिजीवी लोग भूमंडलीकरण के इस जाल में नहीं फँसते हैं।

'शाल्मली' उपन्यास में नरेश ने एक दिन शाल्मली से कहा कि कार के बिना वह तो बड़ा छोटा महसूस करता है। शाल्मली ने उत्तर दिया - "हम तो दिल्ली के रहनेवाले हैं। यहाँ हर आदमी दूसरे से बड़ा है और हर दूसरा आदमी पहले से बड़ा है। यदि हमने अपने को समेट कर न रखा, तो यहाँ महत्वाकांक्षाओं का कहीं अन्त नहीं। काला धन! पूछो मत, घरों में, बैंकों में क्या-क्या भर रखा है!"[1]

भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में संबंधों के लिए कोई मूल्य नहीं है। संबंधों पर विश्वास नष्ट हो रहा है। पति-पत्नी संबंध मं भी झूठ, छल और कपट दिखाई पड़ता है। "शाल्मली का विश्वास जैसे सम्बंधों के नाम से उठने लगा है। सम्बंध और भावना दो कितनी अलग वस्तुएँ हैं। यहाँ भावनाएँ अपने में स्वतंत्र, निश्छल और निसर्ग होती हैं, वही उन पर खड़े किए गए संबंध जब अपना आकार लेने लगते हैं, तो इनमें कितनी घुटन, छल और समझौते का अहसास जागता है! क्या भावना को किसी सम्बंध की शक्ल देना उसके वास्तविक स्रोत से मुकरने का नाम है?"[2]

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 55
2. वही, पृ. 134

नरेश दूसरी औरतों के साथ संबंध स्थापित करता है, जिससे शाल्मली को दुख होता है। उसे 'कभी कभी मन करता है कि वह एक बार नरेश की सखियों से मिले और उनसे खुलकर बात करें। उन्हें बताए-समझाए कि विवाहित पुरुष तुम्हारी बहनों के धरोहर होते हैं, उन्हें हाथ मत लगाओ।'[1]

भूमंडलीकृत भारत में औद्योगिक समाज के तनाव और वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की टकराहट से पति-पत्नी संबंध में भी दरारें पड़ती हैं। तलाक अब आम बात बन गई है। आज उसे सामाजिक कलंक के रूप में नहीं देखा जाता। वैचारिक मतभेद से 'एक ज़मीन अपनी' की अंकिता और सुधांशु अलग होते हैं। सुधांशु के भीतर एक अहंकारी पुरुष है जो अंकिता की समस्त भावनाओं से खिलवाड करता है। इसलिए वह कभी भी सुधांशु से समझौता नहीं कर पाती है। उसे लगता है कि पति के ऐसे शोषण के साथ पत्नी को समझौता करने की ज़रूरत नहीं है। उससे भी अच्छा है अकेला जीवन बिताना।

महानगरों में ही नहीं हर कहीं रिश्तों में दरारे देखी जाती हैं। एक ज़माने में शादी जन्म जन्मांतर का संबंध था लेकिन आज के युवजनों को शादी में आस्था नहीं है। आजकल शादी किए बगैर लडका-लडकी एक साथ रहने की रीति है जिसे 'लिव-इन-रिलेशनशिप' कहते हैं।

'मुझे चाँद चाहिए' में वर्षा वशिष्ठ और हर्ष के बीच लिव-इन-रिलेशनशिप है। शादी के पहले ही हर्ष की मृत्यु होती है और वह माँ बन जाती है।

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 154

चित्रा मुद्गल के 'एक ज़मीन अपनी' में नीता और सुधीर के बीच ऐसा ही संबंध है। नीता जब सुधीर के साथ रहने लगी तो उसके घरवाले और अंकिता ने भी उस पर प्रश्न किया। इसका कारण यह था कि सुधीर शादीशुदा और दो बच्चों का पिता है। लेकिन नीता इसको गलत नहीं सोचती थी। नीता के अनुसार, "उसकी पत्नी है तो क्या? पत्नी माता-पिता द्वारा सौंपी गई व्यवस्था मात्र है। वास्तविक अर्थों में अर्चना उसकी पत्नी होती तो वह परस्त्री ढूँढता? नीता सुधीर की जीवन-सहचरी बनकर उसके रिक्त जीवन को फूलों से भरना चाहती थी। उसके अनुसार पत्नी शब्द में दासीत्व की बू है। यहाँ वाकई दूसरी औरत या उसे रखैल कहिए, नीता उसमें अपनी तुष्टि मानती थी। यह उसका स्वातंत्र्य समझती थी।"[1]

संबंधों में शिथिलता उपभोक्तावादी समाज की एक सामान्य विशेषता है जो भारतीय परिवेश में पति-पत्नी के बीच व्यापक स्वर पर देखी जा सकती है।

भूमंडलीकरण ने वृद्धों की स्थिति को भी कई रूपों से प्रभावित किया है। बीसवीं शताब्दी में आकर हम देखते हैं कि लोगों को ईश्वर पर आस्था नहीं। उन्हें तर्क और प्रमाण ही सब कुछ था। आध्यात्मिकता का स्थान भौतिकता ने ले लिया और बुजुर्ग अपने परंपरागत विश्वासों से डिगने के लिए तैयार नहीं थे। इससे बुजुर्ग और युवा पीढ़ी के मध्य एक जनरेशन गेप (generation gap) उत्पन्न हुआ। वर्तमान उपभोक्तावादी समाज में वृद्ध जन अप्रासंगिक सिद्ध होने लगे।

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 199

परंपरागत समाज के आय अक्सर पारिवारिक होती थी। औद्योगीकरण के विकास से और पूँजीवाद की ज़बरदस्त सफलता से व्यक्तिगत आय की प्रणाली शुरू हुई। आय की इस नई व्यवस्था ने पारिवारिक एकता में छेद करना आरंभ कर दिया। अब परिवार में प्रत्येक सदस्य की महत्ता का आकलन उसकी आमदनी से होने लगा। अच्छी-अच्छी नौकरियों की तलाश में बच्चे माँ-बाप से दूर महानगरों या विदेशों में जाने लगे। भौगोलिक दूरी से भावनात्मक दूरी भी बढ़ने लगी। बुजुर्ग घर में अकेले होने लगे।

'रुकोगी नहीं राधिका' में राधिका के पिताजी उससे अपने पास रुकने के लिए कहता है लेकिन राधिका उसे अकेले छोड़कर अमेरिका जाने का निश्चय करती है। वह अपने पिताजी के बारे में सोचे बगैर, सिर्फ अपनी मंशा को पूरा करना चाहती है।

'माई' उपन्यास में सुबोध और सुनैना बाबू के प्रति उदासीनता दिखा दें तो माई के चेहरे पर क्षोभ झलक जाता। वह कह देती - "अब तुम लोग बड़े हो गए हो, अकेले रहते हो, तुमसे क्या कहा जा सकता है, अपना अच्छा-बुरा खुद समझते हो।"[1] महानगरों के एकल परिवारों में पति-पत्नी और बच्चों के बीच कोई भावात्मक संबंध नहीं है। सफलता की दौड़ में भागते पति और पत्नी। घर में अकेले रहनेवाले बच्चे। माँ-बाप नौकरियों को ज़्यादा समय दे रहे हैं और परिवार को कम। उनमें रिश्ते टूटने के स्थान पर नौकरियाँ खोने का भय कहीं ज़्यादा है।

---

1. माई, गीतांजलिश्री, पृ. 96

ऐसे परिवारों में बच्चे तनाव से ग्रस्त और बुजुर्ग स्वयं ही त्याज्य बन जाते हैं। परिवार में बुजुर्गों का हाशियेकरण भूमंडलीकृत समाज की देन है।

कृष्णा सोबती का उपन्यास 'समय सरगम' बच्चों तथा रिश्तेदारों द्वारा बुजुर्गों का शोषण, हत्या तथा उपेक्षा की कथा है। पति की मृत्यु के बाद पुत्र द्वारा दमयंती के अधिकार और संपत्ति को छीन लेने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। अन्त में पुत्र द्वारा दमयंती की हत्या की जाने की सूचना मिलती है। वैसे ही कामिनी की भाई ने उसको सोने की गोली खिलाकर बेहोश एवं पागल बना दिया है। वह उसकी सम्पत्ति छीनकर उसे वृद्धाश्रम में उपेक्षित करने की कोशिश में हैं। प्रभुदयाल की हत्या भी संपत्ति के लिए ही उसके पुत्रों ने की।

इस प्रकार बुजुर्गों की उपेक्षा और हत्या भूमंडलीकरण के उपयोग के बाद फेंकने की संस्कृति (use and throw culture) लगती है।

भूमंडलीकरण के प्रभावों से बच्चे भी अछूते नहीं हैं। संयुक्त परिवार का स्थान जब एकल परिवार ने ले लिया तब बच्चों की देखभाल के लिए घर में कोई नहीं रह गया। दादा-दादी, चाचा-चाची आदि के स्थान पर नौकरानी (Ayah) बच्चे की देखभाल करती है। वफ़ादार नौकरानी मिलना भी आज बहुत मुश्किल काम है। माता-पिता के साथ रहकर अच्छी संस्कृति और मूल्य सीख लेने के बजाय उन्हें नौकरानी की डाँट-फटकार और संस्कार ही ज़्यादात्तर मिलता है। 'आपका बंटी' के बंटी और छिन्नमस्ता के संजू को माँ-बाप के प्रेम की छत्रछाया में पलने का अवसर छीन लिया गया है। ऐसे बच्चे विद्रोही बनने की संभावना है।

माँ-बाप अपनी व्यस्तता के बीच बच्चों को पर्याप्त समय नहीं दे पाते जिससे उनमें अपराध बोध पनपता है। इस अपराध बोध से उबरने के लिए वे बच्चों को अनेक खिलौने खरीद देते हैं। बंटी के माँ-बाप उसे ढेर सारे खिलौने खरीद दिए थे। 'बंटी ने अपनी अलमारी खोली। ममी के खरीदे हुए और पापा के भेजे हुए खिलौनों से अलमारी भरी हुई है।'[1]

भूमंडलीकरण के दबाव में आधुनिक जीवन शैली, ऊँची आकांक्षाएँ, व्यस्त माता-पिता की उदासीनता और समाज में बढते खुलेपन से लडके-लड़कियों मे नैतिक मूल्यों और वर्जनाओं के प्रति लापरवाही का भाव तेज़ी से बढ़ रहा है। आज स्कूली बच्चे भी डेटिंग, ब्लू फिल्म देखने, मोबाइल चाटिंग और सैर-सपाटे में ज्यादा रुचि दिखाते हैं। ड्रग्स और नशीली चीज़ों का उपयोग भी बढ़ता जा रहा है।

भूमंडलीकरण से 'ब्रेनड्रेन' की प्रक्रिया भी दिखाई पड़ती है। विकासशील देशों की प्रतिभा, अनुसंधान, तकनीक एवं विशेषज्ञता का लाभ विकसित देशों को ही ज़्यादा मिलता है, स्वयं उनके देश को नहीं। इसका कारण यह है कि यहाँ के बुद्धिजीवी बाहर जाने के लिए ज़्यादा तत्पर हैं। उन्हें यहाँ से भी अधिक अर्थलाभ वहाँ मिलते हैं।

'माई' के सुबोध इंग्लैंड में रहना पसंद करता है। वह माई और सुनैना को भी वहाँ ले जाने की कोशिश करता है। सुनैना विलायत न जाने का निर्णय लेती

---

1. आपका बंटी, मन्नू भंडारी, पृ. 11

है तो सुबोध उसे समझाता है कि यहाँ माई नहीं, बाबू-दादा नहीं, ड्योढ़ी भी नहीं। यहाँ मर जाओगी। इस समाज में जी नहीं सकती। यहाँ सिर्फ मिट सकती हो।

'कठगुलाब' की स्मिता बॉस्टन यूनिवर्सिटी में एम.एस. पढ़ने के लिए जाती है। बाद में वह वहाँ काम करने लगती है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया व्यवसाय करने के लिए विदेश जाती है और बहुत नाम कमाती है।

उपभोक्तावाद और बाज़ारीकरण

भारत की पहचान आध्यात्मिकता एवं सादगी की भूमि के रूप में थी। लेकिन भूमंडलीकरण के बाद भारत की एक नई पहचान स्थापित हो गई। बाज़ारीकरण से भारतीयों की जीवन शैली ही बदल गई है। भूमंडलीकरण से पूर्व लोग बचत की बात सोचते थे। लेकिन आज भारत में 'अभी खरीदो, बाद में सोचो' की संस्कृति ज़ोरो पर है। इससे स्कूटर, कार, रेफ्रिजरेटर, वाशिंग मशीन और एयर-कन्डीशनर भी व्यक्ति के जीवन का अनिवार्य अंग बन चुकी है। 'ई.एम.ऐ' में साधन खरीदने की सुविधा से कर्ज़ बढ़ता जाता है। इससे मानव या तो मानसिक कुंठा का शिकार बन जाता है या परिवार सहित आत्महत्या कर लेता है।

औद्योगिक पूँजीवाद के उदय से पहले भी भारत की अर्थव्यवस्था में बाज़ार की भूमिका थी लेकिन वह विनिमय को आसान बनाने तक ही सीमित थी। ब्रिटिश पूँजीवाद के उदय के बाद भारत में उत्पादन, विनिमय और वितरण का आधार बाज़ार बन गया है। "बाज़ार की बढ़ती ताकत को देखकर उसके सबसे बड़े व्याख्याकार और हिमायती एडम स्मिथ ने कहा कि कुछ वस्तुओं और सेवाओं का

उत्पादन बाज़ार के दायरे से बाहर रहे और उनकी ज़िम्मेदारी राज्य पर हो। इनमें सड़क नौपरिवहन, स्वास्थ्य, सफ़ाई, शिक्षा, संचार आदि प्रमुख है। अर्थशास्त्रियों ने कतिपय वस्तुओं को भी निःशुल्क की कोटि में रखकर बाज़ार के प्रभाव से मुक्त किया जिसमें पेयजल प्रमुख है।"[1] लेकिन आजकल उपर्युक्त वस्तुओं और सेवाओं का बाज़ारीकरण हो रहा है।

भारतीय संस्कृति के अनुसार दूसरों की सेवा करना हमारा धर्म माना जाता है। उपनिवेशकालीन उपन्यासों में स्त्रियाँ ऐसी सेवाएँ करते हुए देख सकते हैं। 'भाग्यवती' उपन्यास में अपने ससुराल में आई स्त्रियों को अक्षर, सीना-पिरोना और व्यंजन बनाने की शिक्षा देती हुई भाग्यवती को हम देख सकते हैं।

'वामा शिक्षक' में किशोरी विधवा होने पर भी विपत्तियों का सामना साहसपूर्ण करती है और अपनी उद्यमशीलता का परिचय भी देती है। वह दो हज़ार रुपये लगाकर अपने बेटे को गोटे-किनारी की दुकान करा देती है। आमदनी होने पर किशोरी दान-पुण्य करने, सड़कों के किनारे कुएँ बनवाने तथा 101 गौओं का दान करने में धन का सद्व्यय करती है।

बाज़ारीकरण के फलस्वरूप शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन, बिजली, पेय जल आदि की व्यवस्था प्रभावित हुई है। सब्सिडी हटाने से इनकी दरें बढ़ी है। इससे गरीबों की स्थिति बदतर हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का निजीकरण तेज़ी

---

1. बाज़ार और समाज, गिरीश मिश्र, पृ. 81

से किया जा रहा है। सार्वजनिक शिक्षा की स्थिति बहुत बुरी हो गई है जबकि निजी क्षेत्र में धनवानों के लिए बेहतर शिक्षा का प्रबंध है।

मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' उपन्यास में थानसिंह मास्टर श्रीधर से पढ़ने में कमज़ोर बच्चों को फेल कराने के लिए कहता है और ट्यूशन चलाकर मनमाने पैसे माँगने का तरकीब बता देता है "सो यों कि महतारी - बाप भागे-भागे आएँगे तुम्हारे पास और ट्यूशन के लिए गिड़गिडाएँगे। यह कोई इण्टर कॉलेज नहीं कि हर बच्चा ट्यूशन की नसैनी चढ़े बिना अगली कक्षा में चढ़ जाता है। यहाँ तो हमें ही युक्ति सोचनी पड़ेगी। सो सोच ली तरकीब। मनमाने पैसे माँग लेना। थोड़ा, नामालूम सा कमीशन मेरा। मैं तो साफ बात कहता हूँ।"[1]

शिक्षा के माध्यम से समाज की आगामी पीढ़ी तैयार की जाती है। नैतिकता और मानवीयता की सीख दी जाती है किन्तु वही आज व्यापार बन गया है।

इसी तरह सरकारी अस्पतालों की स्थिति दयनीय है जबकि निजी अस्पताल आधुनिक यंत्रों, दवाओं और सुविधाओं से संपन्न हैं।

इदन्नमम उपन्यास में गाँव में घटित निरन्तर हादसों के कारण सोनपुरा गाँव में एक डाक्टर अनिवार्य हो जाता है। इसके लिए मन्दाकिनी को एक अंतिम मार्ग दिखाई देता है, चुनाव में वोट न देना। वह इसके बारे में गाँववालों को समझाती है। मन्दा के प्रभाव से गाँव का हर व्यक्ति वोट न डालने का निश्चय

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 172

करता है। यह चर्चा सोनपुरा के नेता राजासाब तक पहुँच जाता है। राजासाब मन्दा से मिलकर चर्चा करते हैं लेकिन मंदा अपने निर्णय पर अटल रहती है। मन्दा के निर्णय से डरकर राजासाब तुरन्त एक डाक्टर का तबादला सोनपुरा में करते हैं, लेकिन चुनाव के समाप्त होते ही उस डाक्टर को पदोन्नति के साथ दूसरी जगह तबादला किया जाता है। मन्दा को पता चलता है कि डाक्टर का आना मात्र एक राजनैतिक खेल था।

बाज़ार की कोई नैतिकता नहीं, उसकी एक ही नैतिकता है - फायदा। अपनी फायदा के लिए किसी भी वस्तु का उपयोग करना नैतिक माना जाता है। भूमंडलीकृत भारत में स्त्री को वस्तु मानी जाती है। वस्तु का उपयोग किया जाता है, इसलिए स्त्री का भी उपयोग करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। विज्ञापन में, नौकरी में, घर में, फिल्मों में, हर कही स्त्री का उपयोग किया जाता है।

अपने को इन्वस्टमेंट मानकर काम करवानेवाले पति के प्रति जैनेन्द्र की कल्याणी का विद्रोह इन शब्दों में देखा जा सकता है - "दोनों में से कोई एक मुझे चुनकर दे दो। पातिव्रत्य या डॉक्टरी। मैं पति-परायण हो जाऊँ या डाक्टरी की कमाई करके दूँ। दोनों साथ होना कठिन है।"[1]

स्त्री को धन पैदा करने की मशीन माननेवाले 'शाल्मली' के नरेश अपने मित्रों से कहते हैं - "देखो, लड़की पढी-लिखी है, तो धन का लालच छोड़ो, क्यों कि धन पैदा करने की मशीन तो वह है ही। मेरा ही किस्सा लो।"[2]

---

1. कल्याणी, जैनेन्द्र, पृ.
2. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 81

स्त्री को सिर्फ देह मानकर उसका उपभोग करनेवाले अनेक व्यक्तियों को 'एक ज़मीन अपनी', 'छिन्नमस्ता', 'कठगुलाब', 'इदन्नमम', 'चाक', 'आवाँ' आदि उपन्यासों में हम देख सकते हैं। स्त्री को आदर के साथ देखने की मानसिकता आज पुरुषों में नहीं है।

शंभूनाथजी कहते हैं कि - "उपभोक्तावाद का दबाव इतना ज़्यादा है कि अब माँएँ बच्चे नहीं, कंज़्यूमर पैदा करती है। उपभोक्ता वस्तुएँ पैसे की भाषा में बोलती है, इसलिए लोगों के दिमाग में सिर्फ पैसा भर गया है। पैसा ही दिमाग हो गया है। बच्चे पढ़ते तभी हैं, जब उन्हें पैसा मिलता है। आदमी कोई काम अब तभी करता है, जब उसे पैसा मिलता है। अब कोई कहेगा कि वह राष्ट्रीय झंडा तभी फहराएगा, जब उसे पैसा मिलेगा या कुछ मिलेगा। उपभोक्तावाद ने आधुनिक युग में धीरे-धीरे पैसा को आदमी से ज़्यादा महत्व कर दिया है। परिणाम स्वरूप मानवीय संबंध और संवेदना के सबसे निच्छल कोनों में भी बाज़ार पहुँच गया और पैसा अहम हो गया। कहा जाता है कि जिस चीज़ का कोई दाम नहीं, वह कुछ भी नहीं।"[1]

'चाक' उपन्यास में गजाधरसिंह अपने बेटे रंजीत को समझाते हैं - "बनिया का धरम-करम कुछ नहीं होता। उसका माई-बाप बस पइसा होता है। एक दिन साधजी की तमाम खेती भवानीदास के कब्जे में होगी। यही बाप पइसा की मार से पूरे खानदान को नंगा कर देगा। वह दिन ज़्यादा दूर नहीं....."[2]

---

1. संस्कृति की उत्तरकथा, शंभूनाथ, पृ. 157
2. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 35

भूमंडलीकरण ने हमारे भारतीय जीवन मूल्यों को भी प्रभावित किया है। अब मूल्य बाज़ार द्वारा निर्धारित व संचालित हो रहे हैं। बाज़ार विज्ञापनों के माध्यम से व्यक्तियों की सोच बदल रहा है। प्रेम के पवित्र रूप के स्थान पर उसका विकृत रूप सामने आया है।

'एक ज़मीन अपनी' की नीता कम कपड़ों में विज्ञापन के लिए अभिनय करने पर अंकिता उससे पूछती है - "....तुम खूबसूरत हो, सेक्सी हो, यह कपड़ों के बावजूद छिप नहीं पाता.... ज़रूरी है रातोंरात नंबर वन का दर्जा हासिल करने के लिए वह सब करना जो एक स्त्री के लिए ही नहीं, संपूर्ण स्त्री समाज के लिए अशोभनीय और लज्जा का विषय है। किन जीवन मूल्यों को जीना चाहती हो तुम? किनकी वकालत कपड़े उतारकर कर रही हो तुम?"[1]

आज बाज़ार सुंदरता को सेक्स अपील से जोड़ता है। प्रेम को प्रदर्शन की वस्तु मानता है। इससे कुछ लोग अनावश्यक उत्तेजना और कुछ लोग अनावश्यक कुंठा के शिकार होते हैं, जबकि असली खेल बाज़ार खेलता है।

बाज़ारवाद या उपभोक्तावाद के चलते प्रकृति से हमारे संबंध टूट गए हैं। प्रकृति हमारे जीवन रक्षा की वस्तु है। आज वह प्रदूषित की जा रही है। बड़े-बड़े खेतों पर मॉल, बहुमंज़िल इमारतें और उद्योग खडे किए जा रहे हैं। कारखानों का विषमय अवशेष नदियों को प्रदूषित कर रहा है। कारखानों से निकलनेवाले गैसों

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 114

से वायुमंडल प्रदूषित हो रहा है। इससे तरह तरह के रोग जन्म ले रहे हैं। प्रकृति का संतुलन बिगड़ गया है। भूमंडलीकरण में 'सर्वजन सुखाय' का मानवीय सिद्धांत जीवित रहने की कोई गुंजाइश नहीं है।

अनुदारवाद और उदारीकरण

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासनकाल में, भारत की आबादी तेज़ी से बढ़ी लेकिन खेतीहर पैदावार में उसी के मुताबिक वृद्धि नहीं हुई। प्रति व्यक्ति आय में बढोत्तरी न केवल रुक गई, बल्कि कुछ घट भी गई। पूँजीवादी ताकतों ने कुटीर उद्योगों और घरेलू उद्यमों की पारंपरिक शक्ति का क्षय कर दिया। लोग अभावग्रस्त हो गए और जीवन स्थितियाँ भी कठोर हो गईं। इसी काल में शहरीकरण, रेलवे और संचार साधनों का विकास हो रहा था। मध्य वर्ग मज़बूत हो रहा था और गैर पारंपरिक संस्थाओं की संख्या बढ़ रही थी। ज़ाहिर था कि भारत में सामाजिक नवीकरण की स्थितियाँ बन रही थी, लेकिन अंग्रेज़ी शासन भारत के लिए राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक रूप से भी अनुदारवादी था। इस विशेष परिस्थितियों में ही अनेक लोगों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया। अंग्रेज़ों द्वारा भारत की सामाजिक समस्याओं और जनता की अभावग्रस्तता की समस्याओं की ओर ध्यान न देने के कारण 1947 में आज़ाद हुए भारत के नेतृत्व को एक समस्याग्रस्त समाज और राष्ट्र विरासत में मिली।

भारतीय जनता की अभावग्रस्तता का ज़िक्र हमें तत्कालीन उपन्यासों में दृष्टिगत होता है।

'सेवासदन' का विट्ठलदास शर्माजी से कहता है - "स्त्रियों को अगर ईश्वर सुन्दरता दे, तो धन से वंचित न रखे। धनहीन, सुन्दर, चतुर स्त्री पर दुर्व्यसन का मन्त्र शीघ्र ही चल जाता है।"[1] 'गबन' के रमानाथ को धन कमाने के लिए झूठी गवाही देना और झूठा मुकदमा बनाना पड़ता है। ईमानदारी से वह ज़्यादा पैसे नहीं कमा सकता था। तब जालपा सोचती है - "आखिर रमानाथ दूसरों का गला दबाकर ही तो रोज़ रुपये लाते थे। कोई खुशी से न दे देता था। यह रुपये देखकर वह कितनी खुश होती थी। ....यही (धन) सारे दुखों की मूल है।"[2]

1991 में नरसिंहराव सरकार के काल में वित्तमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व में भारतीय अर्थव्यवस्था में कुछ सुधार लाए गए। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक सुधारों की श्रृंखला प्रारंभ करके देश की राष्ट्रीय आय, प्रतिव्यक्ति आय और जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए प्रयास किए गए। आर्थिक सुधारों की इसी श्रृंखला ने देश में उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के उदय होने में हेतु बन गया।

"उदारीकरण वह प्रक्रिया है, जिसमें देश के शासन तंत्र द्वारा क्षेत्र के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए अपनाए जा रहे लाइसेंस, नियंत्रण, कोटा, शुल्क, आदि शासकीय अवरोधों को कम किया जाता है।"[3]

---

1. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 94
2. गबन, प्रेमचंद, पृ. 113
3. इक्कीसवीं सदी का भारत : मुद्दे, विकल्प और नीतियाँ, डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ. 82

आर्थिक उदारीकरण के दौर में सरकार ने विदेशी नीति को अधिक उदार बनाकर अर्थव्यवस्था को वैश्वीकरण के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। सरकार ने उदारीकरण की नीति के अंतर्गत आयात लाइसेंस व्यवस्था को और उदार बना दिया और खुले सामान्य लाइसेंस के अंतर्गत अधिकांश वस्तुओं के आयात के लिए छूट प्रदान कर दी।

आर्थिक उदारीकरण से विदेशी कंपनियों के साधन हमारे यहाँ उपलब्ध हैं। विज्ञापन की बाज़ारीकरण से हमारे साधारण जनता भी, विशेषकर मध्यवर्ग के लोग इससे बहुत आकृष्ट हो जाते हैं। पैसा न होते हुए भी ई.एम.ऐ जैसी सुविधाओं से कर्ज लेकर वे कोई भी साधन खुशी से खरीदने के लिए तैयार होते हैं। बाद में कर्ज न चुका पाने पर उन्हें तनाव (tension), मोहभंग, मानसिक कुंठा जैसे रोग आ जाते हैं और कभी-कभी जीवन का अंत करने के लिए विवश पड़ जाते हैं।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने सभी वस्तुओं के महंगे ब्रांड उपस्थित करा दिया है। यह उदारीकरण की प्रक्रिया से जन्मे भोगवाद का फल है। लोग इन ब्रांडड चीज़ों के पीछे इतना उतावला है कि वे केवल अपने ऐशो-आराम की फिक्र करते हैं। ये नागरिक दायित्वों के प्रति बिल्कुल संवेदनशून्य हैं।

'कठगुलाब' की स्मिता कहती है - "अच्छा, यह बतलाओ, यहाँ हर चीज़ की पचास-साठ किस्मों क्यों बना दी जाती हैं? खरीदारों का बाज़ार है, जानती हूँ। भई, अर्थशास्त्र पढ़ती हूँ कि नहीं। यहाँ माँग को पूरा करने के लिए बेचा नहीं जाता,

बेच-बेचकर माँग पैदा की जाती है। रोज़ नई चीज़ की। खरीदो, फेंकों-फेंको। नया लो। फिर नया फिर फिर नया।"[1]

खान-पान की आदतें भी आर्थिक उदारीकरण से अछूता नहीं है। आज बाहर खाने जाना एक फैशन बन गया है। साधारण भारतीय लोग भी पॉश रेस्तराओं एवं होटलों का खाना पसंद करते हैं। 'ऐ.टी.' क्षेत्र में काम करनेवाले छुट्टी मिलने पर बडे-बडे मॉलों में जाकर सुबह से देर रात तक वहाँ समय बिताते हैं। खाना भी वहीं खाते हैं। रोटी सब्जी, दाल-चावल जैसे पारंपरिक भोजन को छोड़कर फास्ट-फूट खाना प्रतिष्ठा का चिह्न समझा जाता है। साधारण लोगों की खाने की शैली बदलकर बाज़ार लाभ उठा रहा है। इस तरह के विदेशी खाना हमारी जलवायु के अनुसार न होने के कारण स्वास्थ्य पर बहुत ही नकारात्मक प्रभाव डालता है।

भूमंडलीकरण के दौर में भारतीय वेश-भूषा में भी बदलाव आया है। साडी, कुर्ता पाजामा, धोती जैसे भारतीय वस्त्रों के स्थान पर जींस-टॉप, जैकेट, जूते आदि चीज़ों को पसंद किया जा रहा है। ये चीज़े भी ब्रांडड होती है क्योंकि यह स्टाटस सिंबल का विषय बन जाता है। भारतीय स्त्रियाँ आश्चर्यजनक रूप से पश्चिमी पहनाने से आकर्षित हो रही हैं। इसका मुख्य कारण बाज़ार की शक्ति हैं।

महानगर की नई पीढ़ी के पोशाकों का वर्णन 'मुझे चाँद चाहिए' में देखने को मिलता है - "अजोबोगरीब यूनिसेक्स पोशाकें ("मालूम ही नहीं पड़ता कि

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 29

लड़की कौन है और लड़का कौन!") 'शिट', 'बॉल्स' और 'स्क्रू' जैसे बेवाक उद्‌गारों से भरी धुआँधार अंग्रेज़ी बड़े-बड़े बिखरे बालों और घिसी हुई जींस के कारण उन्होंने इन्हें 'शंकर के संगियों' की संज्ञा दी थी।"[1]

उसी प्रकार नीता अंकिता से कहती है - "तुमने जो कम कपडों की विवशता पर प्रश्नचिह्न लगाया है, कोई विवशता नहीं थी मेरी। हाँ, बिकनी पहनने की बात आई, मुझे आपत्ति नहीं हुई। आखिर मैं जब भी तरणताल में तैरने जाती हूँ, धोती पहनकर नहीं तैरती। जब मैं निजी जीवन में तैरने के लिए वन पीस तरण पोशाक या बिकनी का उपयोग करती हूँ तो तैरने के किसी भी दृश्य को उसी पोशाक में देने में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है?"[2]

सेक्स अपील बढ़ाने की गारंटी देनेवाले ब्यूटी पार्लर भी आज़ देश भर में फैले हैं। बड़े-बड़े महानगरों में ही नहीं, छोटे-छोटे शहर में भी ये पार्लर है। स्कूली लड़कियों से लेकर बूढ़ी औरतों तक ब्यूटी पार्लरों में जाना आम बात बन गई है। आज सौंदर्य का मानदण्ड भी बाज़ार ही तय करता है। आंतरिक सौंदर्य के बदले बाह्य सौंदर्य को ज़्यादा प्राधान्य देने के कारण, सौंदर्य नष्ट हो जाने पर पुरुष दूसरी सुन्दरी की खोज में निकलता है जो पारिवारिक विघटन में समाप्त होता है।

भूमंडलीकरण के फलस्वरूप समलैंगिकता की प्रवृत्तियाँ खुलकर सामने आने लगी है। इसे व्यक्ति के लोकतांत्रिक अधिकारों से जोड़कर देखा जा रहा है।

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 477
2. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्‌गल, पृ. 117

आज अनेक राष्ट्रों में समलैंगिक विवाह कानूनी तौर पर सम्मत है। नशीली चीज़ों का उपयोग भी आजकल स्त्रियों के बीच आम बात बन गई है। 'सोश्यल पार्टिस' में ड्रिंग्स लेना स्टाटस सिम्बल बन गया है। सोने के लिए नींद की गोलियाँ लेना भी नगरीय संस्कृति का सूचक है।

'मुझे चांद चाहिए' में वर्षा सोचती है - 'तनी हुई नसों को शांत करने और नींद लाने के लिए क्या करूँ? लिफ्टमैन से सिगरेट और नींद की गोलियाँ मंगवाएँ? पर प्रैस्क्रिपशन तो है नहीं। शायद दस का एक नोट देने से हो जाए।'[1]

'एक ज़मीन अपनी' की नीता अंकिता से कहती है - "एक निश्चय और किया है...." "कैसा...?" "यही कि एकाध पैग ही सही.... शराब, सिगरेट बिल्कुल बंद... डाक्टर चन्द्रा ने निरीक्षण के समय पूछा, तो झूठ नहीं बोल सकी अंकू.... रक्तचाप बहुत बढ़ा हुआ है.... उनका कहना है कि ये चीज़े बच्चे के विकास के लिए नुकसानदेह है।"[2]

भूमंडलीकरण का मोहजाल यह है कि बुद्धिजीवियों और राजनेताओं को छोड़ देश के ज़्यादात्तर लोग यही सोच रहे हैं कि उदारीकरण और भूमंडलीकरण से सारी दिक्कतों से छुटकारा मिल जाएगा।

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 311
2. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 207

साम्राज्यवाद और नवसाम्राज्यवाद

पुराना साम्राज्यवाद राष्ट्र या राष्ट्रों के समूह पर कब्जा करके अपने राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करना चाहता था जिसके फलस्वरूप उपनिवेशवाद की शुरुआत हुई। नवसाम्राज्यवाद राष्ट्रेतर संगठनों या बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से कार्य करता है। यह प्रत्यक्ष रूप से किसी राष्ट्र पर कब्जा नहीं करता है लेकिन राष्ट्रों के नेतृत्व वर्ग की चाकरी द्वारा फलता-फूलता है। पुराने साम्राज्यवाद शारीरिक श्रम और नवसाम्राज्यवाद बौद्धिक श्रम द्वारा अपना हित साधता है। नवसाम्राज्यवाद का नया रूप है, भूमंडलीकरण और इसके फलस्वरूप नवउपनिवेशवाद की शुरुआत हुई।

नवसाम्राज्यवाद को सांस्कृतिक साम्राज्यवाद भी कहा जा सकता है। विशाल पूँजी तथा प्रचार तंत्रों के माध्यम से पूँजीपति लोग उपभोक्ताओं के अंदर यह संदेश स्थापित करते हैं कि आज वही व्यक्ति सफल है जो इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पादनों का इस्तेमाल करते हैं। बहुराष्ट्रीय निगम प्रत्येक व्यक्ति के अंदर यह भावना कूट कूटकर भरते हैं कि वह सांस्कृतिक रूप से हीन है और इन विदेशी उत्पादनों के इस्तेमाल से वह सभ्य और संस्कृत हो सकता है। इसके अलावा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पादनों का विज्ञापन भी इतने लुभानेवाला है कि आम जनता ज़रूरत न पड़ने पर भी इन्हें खरीद लेती है। "बाइबिल में शैतान को लुभानेवाला (temptor) कहा जाता है। शैतान गरजते सिंह की तरह इसी सोच में

दौड़ता फिरता है कि किसे निगलना है। क्या विज्ञापनों में इस लुभानेवाला शैतान का हाथ स्पष्ट दिखाई नहीं देता?"[1]

भूमंडलीकरण को पुनः औपनिवेशीकरण भी कहा जा सकता है क्योंकि पश्चिम के बहुराष्ट्रीय कंपनियों और बैंक 'मुक्त बाज़ार' (free market) और 'मुक्त व्यापार' (free trade) के नाम पर तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं में उनकी संपदा और संसाधनों को लूटने के लिए प्रवेश कर रहे हैं।

साम्राज्यवाद के दौर में उपनिवेशवाद के माध्यम से लाभेच्छा से उन्हीं राष्ट्रों पर आधिपत्य स्थापित किया गया जो स्वतंत्र नहीं थे। लेकिन आज विदेशी कंपनियाँ परोक्ष रूप से स्वतंत्र राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर रही हैं।

अंग्रेज़ी राज्य में पुलिस किस प्रकार प्रजा का उत्पीडन करती थी, इसका विवरण 'भाग्यवती' में पंडित उमादत्त ने की है। पंडितजी ने कहा, "महाराज! मैं सुनता हूँ कि पुलिसवाले तो आप ठगों और उचक्कों और चोरों-बटमारी के संग मिले रहते हैं। मुझे निश्चय है कि उन्होंने लूटनेहारों को ढूँढना तो क्या था वरन् इस भाँति की बातें मिला के उस विदेशी को ही उलटा धमका रहे होंगे कि 'तूने आप ही यह नटकटी की है, अथवा किसी तेरे पुत्र या मित्र ने या भाई-भृत्य ने यह चालाकी दिखाई होगी। अथवा यह भी आश्चर्य नहीं कि तूने यह झूठी बात ही फैला दी हो कि मैं काशी में आके लुट गया हूँ।..."[2] इस प्रकार पुलिसवाले लुटनेवाले की मदद करने के बजाय स्वयं उसको उल्लू बना देते थे।

---

1. भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, सच्चिदानंद सिन्हा, पृ. 188
2. भाग्यवती, श्रद्धाराम फिल्लौरी, पृ. 14

'गबन' उपन्यास में देवीदीन रमा से कहता है - "सैकड़ों खूनियों को जानता हूँ जो यहाँ कलकत्ते में रहते हैं। पुलिस के अफसरों के साथ दावतें खाते हैं, पुलिस उन्हें जानती है, फिर भी उनका कुछ नहीं कर सकती! रुपयें में बडा बल है भैया!"[1]

नवउपनिवेशकाल में भी पुलिस के भ्रष्टाचार हम देख सकते हैं, लेकिन रिश्वत में तेरह साल की बालिका को माँगना शायद भूमंडलीकरण का नतीजा है। 'चाक' उपन्यास में दलबीर सिंह से बाबा ने पूछा "बोल, लालकौर के यहाँ से कोई धींवर आया था? उसका बेटा हवालात में बंद था? रिश्वत में क्या माँगा था तूने? बोल क्या माँगा था? जवाब दे। दे जवाब!" दलवीर सिंह झुकाए बैठे थे। जैसे बाप की अदालत में उनकी पैरवी करनेवाले खुद वे भी नहीं हों। बाबा ने पाँव की पनही उठाई और झपट पड़े - "मैं जानता हूँ क्या माँगा था। उसकी तेरह साल की बेटी! बेटी माँगी थी तूने निखंसिया, बेटी... तू सातों जनम बेऔलाद रहे।"[2]

जब सरकारी कर्मचारी अपने अधिकार का दुरुपयोग करते हैं, तब देश की उन्नति कैसे हो सकता है? राष्ट्र सेवकों द्वारा राष्ट्र के हित के लिए काम करना ही सचमुच राजनीति है।

---

1. गबन, प्रेमचंद, पृ. 124
2. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 164

राजनीति में नैतिकता

'जब कोई देश गुलाम बनने जा रहा है, कोई राष्ट्र तानाशाही के चंगुल में आनेवाला है, तब राजनीति नीतिविहीन होती है। स्वार्थता और आपसी द्वेष में राजनीति अस्थिर, कलुषित और विभाजित हो जाता है।'[1] अनैतिक राजनीति एक पतनशील समाज की निशानी है।

एक साधारण राजनेता से हम सिर्फ व्यावहारिक नैतिकता की अपेक्षा करते हैं। व्यावहारिक नैतिकता के बिना राष्ट्र या जनता का कोई हित नहीं होनेवाला है। राजनीति के राजनेता को भरोसेलायक होना चाहिए। जनता के सामने दिए गए वचनों को निभाना चाहिए। चुनाव के समय बड़े-बड़े वायदे दिए जाते हैं लेकिन चुनाव के बाद इसके ठीक विपरीत करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

'इदन्नमम' उपन्यास में 'खुद महाराज कहते हैं अपने मुख से कि एमेले, एम.पी. और मन्त्री-सन्त्री चैने नहीं लगने देते हमें।अरे, हमारे पास क्या कोई जादू की छड़ी है या ज्योतिष जानते हैं हम, सो चमका देंगे उनके भाग्य का सितारा। कितनी भी कहो, नही मानते हैं इस बीहड़ जंगल में भी। कहते हैं, न चमकाओ, भाग्य का सितारा, न घुमाओ जादू की छड़ी, वोट तो है तुम्हारे कब्जे में। बस, दिलवाने की मेहरबानी कर दो। तुम्हारी आज्ञा कोई टाल सकता है इलाके में? नहीं टाल सकता।'[2]

---

1. भारतीय राजनीति पर एक दृष्टि, किशन पटनायक, पृ. 198
2. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 343

वोट मिलने के लिए राष्ट्रनेता सन्यासी या धार्मिक नेताओं का सहारा लेते हुए दिखाई पड़ता हैं। 'चाक' उपन्यास में चुनाव के समय नेता लोग बहुत सारे वादे देते हुए दिखाई पडते हैं। 'अतरपुर का चुनाव अभियान। जीपे दौड रही हैं - फत्तेसिंह की निगरानी में। बहन-बेटियों का नाम वोटर लिस्ट में डलवा दिए पहले ही। सबको लिवाने जा रही है जीपें। जहाँ नहीं जा पा रही, उनको किराया दिया जा रहा है। लडकियाँ वोट देकर जब ससुराल जाएँगी तो सबको एक-एक धोती और डलिया देकर विदा किया जाएगा। ट्यूबवेल खोल दिया गया है - परेहट मुफ्त। फत्तेप्रधान ने तीन ट्रेक्टर जुटा लिए हैं - एक अपना, एक सुलेमान का और एक लाला का - भाडे पर। लाला ने चुनाव का इरादा छोड़कर ट्रेक्टर चलवा दिया। काश्तकारों की खेती जुत रही है - डीज़ल भी माफ। जुताई सौगात में। संग में खाद कीटनाशक दवा का इन्तज़ाम। रंजीत भी मदद कर देते हैं जैसी बनती है तैसी। लिहाज की बात! धुंधी जाट ने अरज की, 'बहू बीमार है। एक साल पहले अपरेसन बताया था।' फत्ते प्रधान ने मंज़ूरी दी, 'हाथरस अलीगढ़, आगरे, मनचाहे जहाँ इलाज करवाओ, खर्च हम ओटेंगे। दवा-खुराक से लगाकर भाड़ा-रिक्शा सबे।"[1]

सीमा (भवानीदास की बहू) सारंग को बताती है अपने मन की बात, "मौसीजी, हमारे भरतपुर में जब चुनाव हुआ तो रानी-महारानी तक गंदी गलियों में हाथ जोड़ती हुई आई। सक्का भंगियों के घरों तक में गई, मैंले-कुचैले कपडे-बिछावनों पर बैठी। टूटे पिचके बतनों में चाय पीं। बदबूदार औरतों को गले

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 425

लगाते-लगाते सबेरे से शाम हो जाती थी उन्हें।"[1] साधारण जनता की नज़र में राजनेता की विश्वसनीयता खत्म हो रही है।

राजनीति के अनुसार किसी भी राजनेता को राष्ट्रहित एवं जनहित को नुकसान पहुँचाकर निजी स्वार्थ के लिए कुछ भी नहीं करना चाहिए। 'गबन' उपन्यास में आभूषणप्रिय जालपा बाद में समाज सेविका बन जाती है। जालपा के संबंध में यों लिखा है - "उसके सदनुराग, उसके सरल प्रेम, उसकी धर्मपरायणता, उसकी पतिभक्ति, उसके स्वार्थ त्याग, उसकी सेवा-निष्ठा किस-किस गुण की प्रशंसा की जाय। आज वह रंगमंच पर न आती तो पंद्रह परिवारों के चिराग गुल हो जाते। उसने पन्द्रह परिवारों को अभय दान दिया है।"[2] जालपा देवी की कर्तव्यपरायणता यहां व्यक्त है। एक औरत अपनी बुद्धि, निष्ठा, त्याग और निस्वार्थ सेवा से पन्द्रह परिवारों को बचा लेती है।

उसी प्रकार जालपा की विश्वासमय उदारता और रतन का पवित्र, निष्काम जीवन से प्रेरित होकर वेश्या ज़ोहरा अपना जीवन सुधर लेती है। उसके विलासमय जीवन सेवा में बदल जाती है।

जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' में मृणाल अंत में अधेड़ अवस्था की वेश्याएं, बेकार मज़ूर,पेशेवर भिखमंगे, कानून की आँख और चंगुल से बचकर छिपे-उघडे काम करनेवाले उचक्के लोगों के साथ रहकर उनकी सेवा करता है। प्रसाद के उपन्यास

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 372
2. गबन, प्रेमचंद, पृ. 234

'तितली' में तितली अपना ज़ेवर बेचकर उस रुपये से लगान देने और कन्या पाठशला चलाने के लिए एक दालान बनवाने के लिए तैयार होती है।

इदन्नमम उपन्यास में मंदा की माँ प्रेम रतन यादव का विरोध कर कुछ रुपयों को प्राप्त करके मन्दा को लाकर देती है। इसका उपयोग भी मन्दा गाँव की भलाई के लिए करती है। प्रेम से प्राप्त पचास हज़ार की रक्म से वह ट्रैक्टर खरीदती है।

'कठगुलाब' के स्मिता, असीमा और विपिन, उपन्यास के अंत में समाज कल्याण तथा स्त्री सशक्तीकरण के लिए गोधड गाँव जाते हैं। निस्वार्थ सेवा में बहुत आनंद मिलता है। राजनीति में राजनेताओं को अपने आदर्शों और विचारों के प्रति वफादार रहना चाहिए। इच्छाशक्ति और प्रतिबद्धता की कमी राजनेता की सबसे बड़ी नीतिहीनता है।

'सेवासदन' में विवाह में वेश्याओं के नाच के विरुद्ध पद्मसिंह कहता है - "अगर दुर्भाग्य से आजकल यही उलटी प्रथा चल पड़ी है, तो क्या यह आवश्यक है कि हम भी उसी लकीर पर चल? शिक्षा का कम-से-कम इतना प्रभाव तो होना चाहिए कि धार्मिक विषयों में हम मूर्खों की प्रसन्नता को प्रधान न समझें।"[1]

निराला के 'अप्सरा' उपन्यास में दो मित्र चन्दन-सिंह और राजकुमार वर्मा एक ही दिन मातृभूमि की सेवा करने का व्रत लेते हैं। चन्दन सिंह अपने व्रत पर

---

1. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 114

दृढ़ रहता है लेकिन राजकुमार कनक के रूप के जादू में बँधकर कर्तव्यच्युत हो जाता है।

यशपाल के 'अमिता' उपन्यास में जब कलिंग की बालिका महारानी मगध का विजयी सम्राट अशोक को सिंहासन तक देने के लिए तैयार होती है, तब अशोक का पाषाण हृदय जो एक लाख से अधिक सैनिकों के रक्त से भी न भीग सका था, छलछला गया। सम्राट ने अपने हाथ में थमा खड्ग भूमि पर डालकर अमिता के सामने झुककर हार स्वीकार करता है। अमिता अशोक को आदेश देती है - "हमारा आदेश है, किसी से छीनो मत! किसी को डराओ मत! किसी को मारो मत!" अशोक ने स्वीकार किया - "सम्राट अशोक प्रतिज्ञा करता है, वह किसी से छीनेगा नहीं, किसी को डरायेगा नहीं, किसी को मारेगा नहीं। अब अशोक हिंसा और युद्ध से विजय की कामना नहीं करेगा। वह कालिंग की विजय महारानी की भाँति निश्छल प्रेम से संसार के हृदयों को विजय करेगा।"[1]

जैनेन्द्र के 'सुनीता' में हरिप्रसन्न ने सुनीता से सिनेमा हाउस में कहा - "मुझे सिनेमा में शौक नहीं है भाभी। सिनेमा में मुल्क की बरबादी है। सिनेमा से हम इन्द्रियसेवी बनते हैं, सिनेमा से हमारा आदर्श फीका होता है, सिनेमा ने प्रेम को शरीर की वस्तु बना दिया है। इन्द्रिय परायणता से क्या होगा? हमारा आदर्श उज्ज्वल रहे, दहकता रहे। उज्ज्वल रहे।"[2]

---

1. अमिता, यशपाल, पृ. 195-196
2. सुनीता, जैनेन्द्र, पृ. 163

'चाक' उपन्यास में प्रधानजी के बेटे हुकमसिंह थानसिंह के गैरहाज़िरी में उनकी हाज़िरी भरता है। श्रीधर मास्टर ने रजिस्टर उसके हाथ से छीन लिया। "सालो बेईमानी करते हो। रिपोर्ट करूँगा मैं। भले अलीगढ़ से लखनऊ तक.... एक-एक का पर्दाफाश करूँगा। इस थानसिंह को मुअत्तिल न कराया तो...."[1]

शिक्षा के क्षेत्र में भी बेईमानी दिखाई पड़ती है। आज के विद्यार्थी आदर्शपूर्ण अध्यापकों को बहुत कम देखते हैं, इसलिए इनसे आदर्श की उम्मीद करना व्यर्थ है।

बहुत से राजनेता, अपने ऊपर कोई आरोप लगाने पर या अपने विभाग में कोई दुर्घटना होने पर इस्तीफा देते हुए दिखाई पड़ते हैं। नीति के कारण कुछ त्याग करना बहुत ही श्रेष्ठ प्रवृत्ति है। लेकिन आज राजनीति के सभी आदर्श स्वार्थ की भूलभुलैया में भटक रहे हैं। अवसरवादिता, धूर्तता, आरोप-प्रत्यारोप आज की राजनीति के आवश्यक अंग हैं। किसी भी तरह सत्ता और कुर्सी पाना ही जनसेवक कहलानेवाले नेताओं का उद्देश्य रहता है। कुर्सी का मोह ही है जो इन्हें उचित अनुचित कुछ भी कराता है।

सांप्रदायिकता

भारत में सांप्रदायिकता मूलतः ब्रिटिश कूटनीति की उपज है। कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन की शुरूआत से अंग्रेज़ सरकार चिन्तित हो गई और यह प्रचार किया गया कि कांग्रेस सिर्फ हिन्दुओं की संस्था है। कुछ मुसलमान

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 174

नेताओं को अपने संप्रदाय के हितों की रक्षा के लिए एक अलग पार्टी शुरू करने की इच्छा हुई। अंग्रेज़ सरकार ने 1906 में इन्हें मुस्लिम लीग की स्थापना में पूरी मदद की। मुसलमानों को विशेष अधिकार मिलने पर हिन्दुओं ने अपने हितों की सुरक्षा के लिए हिन्दू महासभा की नींव डाली। यही सांप्रदायिक वैमनस्य की भूमिका थी। उपनिवेशवादी शासकों ने अपने 'फूट डालो और राज करो' की कूट नीति से हिन्दू-मुसलमानों दोनों को पराजित किया।

"सांप्रदायिकता का मूल कारण केवल धार्मिक मतभेद नहीं है, इसकी बुनियाद में अर्थ और राजनीति भी है। जब राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए कोई समुदाय विशेष जान-बूझकर धार्मिक सांस्कृतिक विभिन्नताओं के आधार पर राजनीतिक माँगें पेश करता है तब सामुदायिक चेतना एक राजनीतिक सिद्धांत बन जाती है।"[1] "विभाजित तथा स्वार्थ प्रधान चेतना से उपजे विभिन्न धर्म केवल अपने अहंकार, स्वार्थ तथा आक्रामकता के कारण ही फले-फूले रहे हैं। धर्म का आवरण लेकर अपनाई गई यह आक्रामकता ही 'सांप्रदायिकता' है। इस आक्रामकता को कहीं राजनीतिक कारणों से और कहीं आर्थिक कारणों से अपनाई गई है।"[2]

'सेवासदन' में सुमन गजाधर से कहती है कि धर्मात्मा लोग भी भोलीबाई का आदर करते हैं तो गजाधर कहता है - "तो तुमने उन लोगों के बड़े-बड़े तिलक छापे देखकर ही उन्हें धर्मात्मा समझ लिया? आजकल धर्म तो धूर्तों का अड्डा बना

---

1. समकालीन हिन्दी उपन्यास समय से साक्षात्कार, डॉ. एलाङ्बम विजयलक्ष्मी, पृ. 144-145
2. धर्म और सांप्रदायिकता, नरेन्द्र मोहन, पृ. 94

हुआ है। इस निर्मल सागर में एक-से-एक मगरमच्छ पड़े हुए हैं। भोले-भाले भक्तों को निगल जाना उनका काम हैं। लम्बी-लम्बी जटाएँ, लम्बे-लम्बे तिलक छापे और लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ देखकर लोग धोखे में आ जाते हैं, पर वह सब के सब महापाखण्डी, धर्म के उज्ज्वल नाम को कलंकित करनेवाले, धर्म के नाम पर टका कमानेवाले, भोग विलास करनेवाले पापी हैं। भोला का आदर सम्मान उनके यहाँ न होगा, तो किसके यहाँ होगा।"[1]

व्यवसायी लोग अपने आर्थिक स्वार्थ के लिए धर्म का इस्तेमाल किस प्रकार करते हैं, इसके संबंध में 'गबन' उपन्यास में प्रतिपादित किया गया है। देवीदीन सेठ करोड़ीमल के बारे में रमा से कहता है - "पत्थर पूजते-पूजते इसके दिल भी पत्थर हो जाते हैं। इसके तीन तो बड़े-बड़े धर्मशाले हैं, मुदा है पाखण्डी। आदमी चाहे और कुछ न करें, मन में दया बनाये रक्खे। यही सौ धरम का एक धरम है।"[2]

सांप्रदायिकता का संबंध धर्म से ही नहीं जाति, भाषा और क्षेत्र से भी है। निराला के 'निरुपमा' उपन्यास में निरुपमा कुमार से प्रेम करती है, लेकिन दूसरे जाति और क्षेत्र के होने के कारण निरुपमा के घरवाले इनके विवाह के खिलाफ है। निरुपमा सोचती है - "कुमार अविवाहित है, मैं कुमार को चाहती हूँ, भले वह बंगाली नहीं; पर मनुष्य है; कुछ हो या न हो; मैं चाहती हूँ, पहली बात यह है।"[3]

---

1. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 25
2. गबन, प्रेमचंद, पृ. 124
3. निरुपमा, निराला, पृ. 87

स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने सालों के बाद भी यह समस्या हमारे समाज में मौजूद है। शिक्षा के क्षेत्र में इतने बढ़कर भी हमारा मानसिक विकास तदनुरूप नहीं हो पाया है। इसी कारण से शिक्षित लोगों के बीच भी 'honour killing' बहुत चलते हैं।

'त्यागपत्र' के मृणाल को धर्म के नाम पर अपने प्रेमी को छोड़कर किसी अधेड़ उम्र के पुरुष के साथ विवाह करना पड़ता है। अपने पति से अपने पूर्व प्रेम की बात कहने पर उसे घर से निकाल दिया जाता है।

'चाक' उपन्यास में थानसिंह मास्टर सक्कों को भडका देता है - "ससुरो, अब भी अंगरेजी राज में जी रहे हो! ज़मींदार की निगाह पर वोट देते हो। यह नहीं देखते कि पीढ़ी-पर-पीढ़ी निकलती चली जा रही है, और तुम्हारी दर कुत्ते से भी बदत्तर होती जा रही है। नमाज़ पढ़ने की जगह तक नहीं जुटी। यहाँ मंदिर दो-दो है, मस्जिद एक भी नहीं। शिवजी और दुर्गा मइया रहेंगी, खुदा नहीं। मैं कहता हूँ क्यों नहीं? हम क्या हिंदू और मुसलमानों के बालकों को पढ़ाते समय भेदभाव मानते हैं?"[1] और एक जगह भँवर युवकों से सांप्रदायिकता के खतरे के संबंध में कहता है - "मैं चिढ़ता नहीं, बताते की कोशिश करता हूँ, जाति-बिरादरी आजकल राजनीति का मुद्दा ज़्यादा बनी हुई है। इस भेद को सान चढाया है उन नेताओं तो, जो शहर की हवा खा गए हैं। शहरी लोग खुद तो जाति-वाति के चक्कर में पड़ते नहीं, अखबारों के ज़रिए गाँवों में चिनगारियाँ छोड़ते रहते हैं। समझ रहे हो कुछ?"[2]

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 30
2. वही, पृ. 392

सांप्रदायिकता का त्याग करने से ही विश्वशांति संभव है। सांप्रदायिकता से शत्रुता, घृणा, विद्वेष आदि भाव पनपते हैं जो मानव विकास और उसके सह अस्तित्व में बाधक है। सांप्रदायिकता कट्टरवाद तथा धर्मांधता का विरोध करने से ही समाज में सर्व धर्म समभाव की स्थिति आ सकती है। सांप्रदायिकता के ज़हर को मिटाने के लिए सभी भारतीयों को एक साथ मिलकर जाति-मत के भेदभाव को भूलकर इसको भड़कानेवाली शक्तियों के विरुद्ध लड़ना होगा।

राजनीति में स्त्री

सन् 1885ई. के नेशनल कांग्रेस की स्थापना तथा राष्ट्रीय आंदोलन ने स्त्री को राजनीति में प्रवेश करने की प्रेरणा दी। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख नेता महात्मा गाँधी ने स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने का स्त्रियों को आह्वान भी किया। उन्होंने स्त्री को घर के कामों के अतिरिक्त जन सेवा करने की ओर अभिप्रेरित किया। उनकी दृष्टि में घरेलू गुलामी जंगलीपन की निशानी थी। इन स्त्रियों ने राष्ट्रीय आंदोलन के समय घर से बाहर जाकर विदेशी दुकानों पर पिकटिंग की, शराब की दुकानों पर धरना दिया, सत्याग्रह किया। ये स्त्रियों स्वयं सेविकाएँ बनीं और राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए जेल भी गईं। 'अखिल भारतीय महिला परिषद' की संस्थापना से न केवल उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार हुए, वरन् राजनीतिक दृष्टिकोण से भी यह संस्था भारतीय महिलाओं के सामूहिक एवं संगठित रूप का द्योतन करती है। सन् 1919ई. के बाद नारी ने राजनीतिक अधिकारों को पाने का प्रयत्न किया। सन् 1921ई. में नारी को वोट देने का अधिकार मिला और सन्

1926ई. में यह विधान सभा की सदस्या बनी। भारत की स्वाधीनता के बाद शिक्षिता नारी राजनीति के क्षेत्र में इतनी ऊपर उठी कि वह देश की प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति तक बन गई।

राजनीति सचमुच देशसेवा का माध्यम है, लेकिन आज वह इतना भ्रष्ट हो चुका है कि इसमें सज्जनों के लिए कोई स्थान ही नहीं है। राजनीति आज सेवा का व्रत न होकर स्वार्थ, अधिकार और सुविधा पाने का साधन बन गई है। सेवक के रूप में अपना स्वार्थ सिद्ध करना इनका मुख्य ध्येय रहता है। गरीबों के प्रति सहानुभूति भी केवल दिखावा है। इनके लिए मुख्य है पद और धन।

प्रेमचंद के 'गबन' में जालपा झूठी गवाही देकर पैसा कमानेवाले अपने पति के विरुद्ध कठोर शब्दों में कहती है - "तुम्हारे खून से रंगे हुए हाथों के स्पर्श से मेरी देह में छाले पड़ जायेंगे। जिसने धन और पद के लिए अपनी आत्मा बेच दी, उसे मैं मनुष्य नहीं समझती। तुम मनुष्य नहीं हो, तुम पशु भी नहीं, तुम कायर हो! कायर!"[1] बाद में जालपा समाज सेवा करती हुई दिखाई पड़ती है। अपनी बुद्धि, निष्ठा और त्याग से वह पंद्रह परिवारों को अभयदान देती है।

प्रसाद के 'तितली' उपन्यास में तितली विपत्ति के समय में भी विवेकपूर्ण निर्णय लेती है। वह निस्वार्थ होकर कन्या पाठशाला चलाने के लिए एक दालान बनवाने के लिए अपना ज़ेवर बेचती है। राजनीति में जो निस्वार्थ सेवा होती है, उसका प्रदर्शन हम तितली में देख सकते हैं।

---

1. गबन, प्रेमचंद, पृ. 199

'त्यागपत्र' में मृणाल तन से अपवित्र होने पर भी मन की पवित्रता को न खोते हुए समाज सुधार का व्रत लेती है।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में राजनीति और उससे जुड़े चुनावों के भ्रष्ट रूप का चित्रण मिलता है। 'इदन्नमम' में मंदा गाँव में एक डॉक्टर की अनिवार्यता को महसूस करते हुए, उसे हासिल करने के लिए गाँववालों के साथ चुनाव में वोट न देने का निश्चय करती है। मन्दा के निर्णय से डरकर राजासाब तुरंत एक डॉक्टर को सोनपुरा में तबादला करते हैं। गाँव के लोग तथा मंदा डाक्टर को देखकर बहुत खुश होते हैं। लेकिन जब उन्हें पता चलता है कि डॉक्टर का आना मात्र एक राजनैतिक चाल था और चुनाव के समाप्त होने तक ही डॉक्टर वहाँ कार्यरत रहेगा, गाँव का एक भी व्यक्ति वोट डालने नहीं जाता है। पेटियाँ जैसे खाली आई थीं, वैसे खाली चली जाती हैं। नेताओं के लोग गाँव के लोगों के नाम पर स्वयं वोट डालने की बात सोचते हैं लेकिन मन्दाकिनी के डर से इस सोच को अंजाम तक नहीं पहुँचा पाते। "ऐसा गजब न कर देना रामसजीवन त्रिपाठी। यहाँ पर कोई मंदाकिनी नाम की लड़की है। महाकाली समझो। चुनाव कमिश्नर से लेकर उरइ के अखबारों तक में पहुँचा दी है उसने खबर कि हम वोटों का बहिष्कार करेंगे।"[1] मंदा अपनी बुद्धि और दृढ़निश्चय से समाज के हितार्थ काम करने के लिए तैयार होती है। उपन्यास के अंत में मंदा के सामने दो विकल्प रहते हैं। एक मकरंद को मिलने के लिए रुकना और जीवन की वह खुशियाँ प्राप्त करना जिनका वह कई सालों से

---

1. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 413

इन्तज़ार कर रही थी। दो, सुगुना की माँ को जमानत पर छुडवाने के लिए मकरन्द का मोह त्यागना। कर्तव्य और प्रेम के द्वन्द्व से वह कर्तव्य को अपनाती है। अपनी खुशी की अपेक्षा उसे गाँव के लोगों की चिन्ता है। अपने जीवन की आहुति देकर वह गाँव की सेवा करना अपना लक्ष्य बनाती है।

भारतवर्ष में चुनावी राजनीति पुरुषों से ही नहीं स्त्रियों से भी बँधा हुआ है। भले ही राजनीतिक शक्तियाँ स्त्रियों को पुरुषों के बराबर मानती हों, विधान सभा और संसद में उन्हें बड़ी संख्या में प्रतिनिधित्व प्रदान करने की घोषणाएँ करती हो, स्त्रियों के लिए राजनीति में स्थान दिलाने के उद्देश्य से विधेयक लाने पर ज़ोर देती हो, किन्तु यह सच है कि जब वह चुनाव लडने के लिए अपना पर्चा दाखिल कर चुकी हो तब भी उसे एक तरफ धकेलने की कोशिशें होती हैं। उसे खुद भी आत्मविश्वास नहीं होता है।

'चाक' में सारंग प्रधानी पद के लिए पर्चा भरने आई तो उसे बहुत डर लग रहा था "…..सचमुच कोई औरत मेरी तरह बेशर्म नहीं। रंजीत को बिना बताए चली आई। बिना इजाज़त लिए... पता नहीं अपना किया बार-बार गलत क्यों लगने लगता है? ऐसा तो उस दिन भी नहीं लगा, जब श्रीधर के साथ रात भर..."[1]

श्रीधर सारंग को प्रधानी बनने के लिए प्रोत्साहित करता है - "तुम्हारे लिए, तुम्हारे माथे पर ताज धरने की बात कोई नहीं सोच रहा। सिर्फ गाँव के लिए... प्रधानी नहीं; सेवकाई करोगी तुम।" "यह बताओ, जब घर-परिवार में

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 405

औरत का दखल हो सकता है, तो राजकाज में क्यों नहीं? तुम पढ़ी-लिखी हो, खूब जानती हो, हमारे संविधान में औरत को बराबरी का दर्जा मिला है। तुम कब तक औरत के पत्नी होने की दुहाई देती रहोगी? मैं निमित्त बनूँगा तुम्हारे खड़े होने का। भले कितना ही रोको, उसी तरह का निमित्त जैसे कुम्हार घड़ा बनाने का होता है। तुम्हें प्रधान बनना होगा - हर हालत में।"[1]

सारंग पुरुष सत्ता को चुनौती देते हुए ग्राम पंचायत के चुनाव में ग्राम प्रधान पद के लिए खड़ी हो जाती है। पति से लेकर गाँव का सारा पुरुष समाज उसका विरोध करता है, पर वह अपने खुद के निर्मित स्त्री संगठन के बल पर पुरुष सत्ता को चुनौती देने का साहस भरा कदम उठाती है।

अर्थ एवं स्त्री स्वावलंबन

अर्थ सामाजिक प्राणी की अनिवार्य आवश्यकता है। पितृसत्तात्मक भारतीय समाज में गृह और संतान के लिए अर्थोपार्जन पुरुष का कर्तव्य है। अतः स्वाभाविक रूप से धन पर उसी का अधिकार है। गृह का प्रबंध और सन्तान पालन का उत्तरदायित्व स्त्री का है। "स्वावलंबी होने से औरत का स्वाभिमान बढ़ता है और उसका आत्मसम्मान भी। साथ ही वह प्रतिकूल परिस्थितियों और प्रतिबन्धों को नकारने की क्षमता हासिल कर लेती है। वह समाज की संकीर्ण परम्पराओं से परे मुक्ति की राह पर चल सकती है। दरअसल औरत को कमज़ोर बनाने में उसके

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 400

परजीवी होने के साथ-साथ समाज की आचार-संहिताएँ भी जिम्मेदार है। स्वावलंबन उसे इन बेडियों से मुक्त करने का एक मज़बूत आधार देता है।"[1]

निम्न वर्ग की स्त्रियाँ एक ओर अपने मर्द के साथ मिलकर या अकेले खेती या मज़दूरी करके पैसा कमाकर लाती है तो दूसरी ओर वे उसके साथ मिलकर गृहस्थी भी चलाती हैं। वे एक दूसरे पर बोझ नहीं होते बल्कि वे परस्पर बोझ बाँटते हैं। निम्न वर्गीय स्त्रियाँ ज्यादाकर अशिक्षित होती हैं, लेकिन वे स्वावलम्बी भी होती है, इसीलिए वे मर्द, पति, बेटों या परिवार की गुलाम नहीं होती।

मध्यवर्गीय घरेलू स्त्रियाँ आर्थिक तौर पर पुरुष पर आश्रित रहती हैं। यह उन्हें इस हद तक हीनभावना की शिकार बना देती है कि उनमें आत्म-सम्मान या स्वाभिमान नाममात्र भी नहीं बच पाता। वे पति के मरने पर ससुराल या मैके के परिवार पर पूरी तरह आश्रित हो जाती हैं। शादी के पहले और बाद में वे परिवार के लिए बोझ मानी जाती है। घर के लिए किया गया उनका सारा कार्य घर की संपत्ति का अंश माना जाता है, अथवा उनके कर्तव्य के दायरे में स्वीकार किया जाता है। उसका कोई मूल्य नहीं आंका जाता।

संपन्न स्त्रियाँ अपने घर तथा संतान की देखभाल के लिए अनेक दास-दासियाँ रखकर केवल व्यक्तिगत विनोद और परम्परा पालन की ओर ही ध्यान देती हैं। वास्तव में इसी श्रेणी की महिलाओं को स्त्रियों के स्वत्वों के निरीक्षण करने का अवकाश और उस ज्ञान को सबमें फैलाने के साधन सुगमता से मिल सकता था।

---

1. स्त्री विमर्श, कलम और कुदाल के बहाने, रमणिका गुप्ता, पृ. 15

उपनिवेशकालीन स्त्री पुरुष पर आश्रित रहती थी। उसे स्वतंत्र अस्तित्व, अधिकार या धनोपार्जन का स्वातंत्र्य नहीं था। 'भाग्यवती' उपन्यास के माध्यम से लेखक स्त्री में स्वावलंबन की भावना भरना चाहता है। जब भाग्यवती को अपने सारे परिवार से अलग किया गया तो बेचारे के पास कोई पैसा न था। जल पीने के लिए भी कोई बर्तन नहीं था। वह लोहे का एक तसला किसी पडोसन के यहाँ से माँग कर अपने घर में ले आई। वह अपने बाप से सहायता माँगना नहीं चाहती थी। उसने मन में विचार किया कि चुपचाप बैठने से निर्वाह नहीं होगा, कुछ उद्यम और यत्न करना मनुष्य का धर्म है। वह अपनी बुद्धि से काम लेकर अपना घर चौगुणा बना देता है। उसके घर में सभी सामान, नौकर-चाकर, गाय-भैंस, धन-धान्य हो जाता है। सारी काशी में उसकी प्रशंसा होने लगती है।

प्रेमचंद युगीन उपन्यासों में नारी पति की अनुपस्थिति या विधवा होने की स्थिति में ही अर्थोपार्जन करती थी।

जयशंकर प्रसाद के 'तितली' उपन्यास में इन्द्रदेव कहता है - "स्त्रियों को उनकी आर्थिक पराधीनता के कारण जब हम स्नेह करने के लिए बाध्य करते हैं, तब उनके मन में विद्रोह की सृष्टि भी स्वाभाविक है। आज प्रत्येक कुटुम्ब उनके इस स्नेह और विद्रोह के द्वन्द्व से जर्जर है और असंगठित है। हमारा सम्मिलित कुटुम्ब उनकी इस आर्थिक पराधीनता की अनिवार्य असफलता है।"[1]

---

1. तितली, जयशंकर प्रसाद, पृ. 119

जब इन्द्रदेव ने कहा कि वह अपनी समस्त संपत्ति माँ के नाम लिख देना चाहता है तब मुकुन्दलाल ने कहा कि हाँ-हाँ, करो क्यों कि स्त्रियों को ही धन की आवश्यकता है। उस समय शैला सोच रही थी कि क्या स्त्रियाँ सचमुच धन की लोलुप है। फिर उसने अपने ही उत्तर दिया - "नहीं, समाज का संगठन ही ऐसा है कि प्रत्येक प्राणी को धन की आवश्यकता है। इधर स्त्री को स्वावलंबन से जब पुरुष लोग हटाकर, उसके भाव और अभाव का दायित्व अपने हाथ में ले लेते हैं, तब धन को छोड़कर दूसरा उनका क्या सहारा है।"[1]

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में स्त्री आर्थिक स्वावलंबन के प्रति बहुत सचेत है। लेकिन अपने परिवार को तोड़कर वह कुछ भी करने के लिए तैयार नहीं है।

कल्याणी इंग्लैंड से डॉक्टरी पास कर आई है और अपने पति के साथ दवाखाना खोलकर प्रैक्टिस करती है। बल्कि सत्य यह है कि प्रैक्टिस कल्याणी की प्रतिभा के बल पर चलती है, पति का बस नाम ही है। स्वयं पति डॉ. असरानी इस तथ्य से परिचित है और कारण-अकारण कल्याणी को अपमानित कर अपने आहत अहं को सहलाता रहता है। पढी लिखी तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होते हुए भी कल्याणी घर तथा बाहर सार्वजनिक स्थानों पर पति द्वारा अकारण पीटे जाने पर उसको अत्यंत सहज भाव से लेती है। पति की इस अमानुषिकता के प्रति उसमें विद्रोह भाव भी नहीं है। वह पति से अनुरोध करती है - "दोनों में से कोई एक मुझे

---

1. तितली, जयशंकर प्रसाद, पृ. 159

चुनकर दे दो - पातिव्रत्य या डाक्टरी। मैं पति में परायण हो जाऊँ या डाक्टरी की कमाई करके दूँ। दोनों साथ होना कठिन है। पैर दोनों नावों पर रहेंगे तो हालत डगमग रहेगी।"[1]

'पचपन खंभे लाल दीवारें' की सुषमा अपने परिवार के दायित्व को निभाने के लिए दिल्ली के गर्ल्ज़ कॉलेज के प्राध्यापिका की नौकरी करती है। रिटायर्ड पिता पक्षाघात से पीड़ित है। दो छोटी बहनें व भाई पढ़ रहे हैं। इन सबके दायित्व अपने कंधों पर लेकर वह पुत्र की भूमिका में उतरती है। लेकिन 'सुषमा की माँ सुषमा के ढलते यौवन और कौमार्य को देखकर चिन्तित नहीं है। चिन्तित है यौवन की दहलीज पर खडी छोटी बेटी नीरू के विवाह को लेकर। यह अहसास सुषमा के भीतर पीड़ा की सृष्टि करता है। उसे लगता है कि वह पैसा कमाने की मशीन मात्र बनकर रह गई है। विवाह करके परिवार को निराधार छोडना उसे संभव नहीं जान पड़ता।"[2] परिवार के लिए अपने आप को मिटा देने के लिए वह तैयार होती है।

'आपका बंटी' की शकुन एक स्थानीय कॉलेज की प्रिंसीपल है। वह बहुत लंबे समय तक यही समझती रही कि कॉलेज की प्रिंसीपल रहकर और पुत्र बंटी को अपने पास रखकर उसका जीवन अपने-आप पूर्ण हो जाएगा। उसका यही अहं उसके वैवाहिक जीवन का सबसे बडा अवरोध सिद्ध हुआ। वह कभी भी अजय के

---

1. कल्याणी, जैनेन्द्र, पृ. 44
2. हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला, डॉ. रोहिणी अग्रवाल, पृ. 106

साथ समझौता करने के लिए तैयार नहीं हुई बल्कि उसकी बराबर कोशिश यही रही कि वह अजय को नीचा दिखाए। मन्नू भंडारी के शब्दों में - "सात वर्षों में विभागाद्यक्ष से प्रिंसिपल हो जाने के पीछे भी कहीं अपने को बढ़ाने से ज्यादा अजय को गिराने की आकांक्षा ही थी। वह स्वयं कभी अपना लक्ष्य रही ही नहीं। एक अदृश्य अनजान सी चुनौती थी, जिसे उसने हर समय अपने सामने हवा में लटकता हुआ महसूस किया था और जैसे उसका मुकाबला करते-करते, उससे जूझते-जूझते ही वह आगे बढ़ती चली गई थी।"[1]

शायद आर्थिक स्वावलंबन ने शकुन को इतना अहंभावी बना दिया कि वह अपने स्त्रीयोचित गुणों जैसे प्रेम, क्षमा, दया, करुणा आदि को नष्ट करके अपने और बेटे बंटी के जीवन को ठुकरा दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कई स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर प्रशासन के सर्वोच्च पदों पर कार्यरत दिखाई देती हैं। भारतीय स्त्री ने कामकाज के हर क्षेत्र में अपनी कार्य कुशलता जाहिर की है। इन कामकाजी स्त्रियों का जीवन घर और बाहर अलग-अलग हैं। ये स्त्रियाँ अपने कार्यालय में अत्यधिक सफल दिखाई देती हैं, लेकिन घर में उन्हें पत्नी के रूप में अपमान, तिरस्कार तथा विषमताओं का शिकार होना पड़ता है। आजकल नारी आर्थिक रूप से स्वतंत्र होते हुए भी पितृसत्तात्मक समाज उसे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता है।

---

1. आपका बंटी, मन्नू भंडारी, पृ. 32

नासिरा शर्मा की शाल्मली ऊँचे ओहदेदार स्त्री होते हुए भी वह पति द्वारा अपमानित और पीड़ित है। शाल्मली के पति नरेश अत्यधिक स्वार्थ परस्त पुरुष है। उसे अपनी सुख-सुविधाओं की ही चित्ता है। अपनी पत्नी की खुशी के संबंध में उसे कोई विचार ही नहीं है। वह नहीं चाहता है कि शाल्मली नौकरी करे और अपने पैरों पर खड़ी रहे - "नौकरी की तुम्हें क्या आवश्यकता है? मैं कमाता हूँ और जो कमाता हूँ, वह पूरा का पूरा तुम्हारे हाथ में लाकर रख देता हूँ।" नरेश ने भारी स्वर में कहा। "क्या मैं कमाने में तुम्हारा हाथ नहीं बँटा सकती हूँ?" शाल्मली ने कहा। "तुम घर में रहकर गृहस्थी और मुझे संभालो!.... अपने कपे धोसो, इस्तरी करो, यह कमरा झाडो। मैं थक जाता हूँ। तुम्हीं संभालो अपना यह घर।" नरेश ने परेशान होकर कहा। "सुनो नरेश. मैं सच कहती हूँ, इतना पढ़-लिखकर इन कामों के सहारे मैं भी अपना दिन नहीं गुज़ार सकती हूँ। मेरे दुख को, मेरी असमर्थता को समझे!" नरेश सामंतवादी विचारों से ग्रस्त युवक है। सामंतवादी व्यवस्था के अनुसार पुरुष घर का स्वामी है और पुरुष रूपी सामंत की सेवा करना स्त्री का परम धर्म है।

'छिन्नमस्ता' की प्रिया अपने पति नरेन्द्र की इच्छा के विरुद्ध व्यवसाय करती है। लेकिन वह व्यवसाय रुपये के लिए नहीं, अपनी अस्मिता बनाने के लिए करती है। वह जीवन में कुछ कर दिखाना चाहती है। जब नरेन्द्र ने प्रिया से कहा कि वह रात-दिन रुपये के पीछे भागती रहती है, तब प्रिया ने कहा - "नरेन्द्र, मैं

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 44

व्यवसाय रुपये के लिए नहीं कर रही। हाँ, चार साल पहले जब मैंने पहले-पहल काम शुरू किया था, मुझे रुपयों की भी ज़रूरत थी। पर आज मेरा व्यवसाय मेरी आइडेंटिटी है। यह आए दिन की विदेशों की उडान... यह मेरी जिंदगी के कैनवास को बड़ा करती है। नित्य नए लोगों से मिलना-जुलना, जीवन के कार्य जगत को समझना। मुझे जिन्दगी उद्देश्य हीन नहीं लगती।"[1]

कभी-कभी स्त्री अपने काम काज और आर्थिक स्वावलंबन को इतना अधिक महत्व देती है कि वह अपने परिवार और संतान के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भूल जाती है और अंततः अपने परिवार के विनाश का कारण बन जाता है।

'समाज ने स्त्री के संबंध में अर्थ का ऐसा विषम विभाजन किया है कि साधारण श्रमजीवी वर्ग से लेकर सम्पन्न वर्ग की स्त्रियों तक की स्थिति दयनीय ही कही जाते योग्य है। वह केवल उत्तराधिकार से ही वंचित नहीं है, वरन् अर्थ के संबंध में सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की विवशता के बन्धन में बँधी हुई है। कहीं पुरुष ने न्याय का सहारा लेकर और कहीं अपने स्वामित्व की शक्ति से लाभ उठाकर उसे इतना अधिक परावलम्बी बना दिया है कि वह उसकी सहायता के बिना संसार-पथ पर एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती।'[2] समकालीन उपन्यासकारों ने इस पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था का विरोध करते हुए स्त्री को सही अर्थों में मुक्ति दिलाने की कोशिश की है।

---

1. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 10
2. श्रृंखला की कडियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 94

किसी भी देश में अर्थ और राजनीति का ध्येय समाज सेवा तथा लोक कल्याण होना चाहिए, तभी देश का विकास हो सकता है। दुर्भाग्यवश भारत की जनता उपनिवेशकाल से लेकर आज तक शोषित और त्रस्त हैं। उपनिवेशकाल में अंग्रेज़ों की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और साम्राज्यवादी ताकतों से भारतीय जनता का शोषण हो रहा था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सत्ता अवश्य बदल गई, परन्तु परिस्थितियों में बदलाव नहीं आया। शोषित वैसे के वैसे ही रहे। अर्थ शक्ति का पर्याय बन गया। राजनीति सेवा का व्रत न होकर, स्वार्थ, शक्ति और सुविधा पाने का साधन बन गई। उपनिवेश और नव उपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित उपन्यासों में उपन्यासकारों ने स्त्री को शिक्षा प्राप्त करके समाजसेवा में प्रवृत्त होने का आह्वान दिया है।

अध्याय चार

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता

अध्याय चार
उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता

अस्मिता - अवधारणा एवं स्वरूप

'अस्मिता' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत-हिन्दी कोश में - "अस्मिता की निर्मिति अस्मि + तल् + टाप् से हुई है, जिसका अर्थ है - अहंकार। 'अस्मि' शब्द का ही विस्तृत रूप है 'अस्मिता'। अस्मि शब्द अस् + मिन् से बना है। 'अस्' धातु का अर्थ है - मैं अथवा अहम्। अस्मिता के अन्य पर्यायवाची शब्द है - अभिमान, घमंड, स्वाभिमान, गर्व तथा अपनी सत्ता का बोध होना आदि।"[1]

"अस्मिताबोध मूलतः व्यक्तिधर्मी होता है, जो व्यक्ति की अपनी पहचान के रूप में प्रयुक्त होता है। अस्मिता शब्द निजत्व का बोध कराने के कारण जीवन में स्थित मूल्यों से भी जुड जाता है जो समय-समय पर अपने रूप बदलता रहता है।"[2]

---

1. संस्कृत हिन्दी कोश - वामन शिवराज आप्टे - पृ. 132-133
2. नारी अस्मिता की परख-दर्शन पाण्डेय - पृ. 2

आधुनिक युग में सामाजिक संगठनों और संस्थाओं का वर्चस्व बढ़ा। इस स्थिति में व्यक्ति अपनी पहचान बनाने की कोशिश में लगा। इस प्रकार सामाजिकता के विरोध में अस्मिता की अवधारणा सामने आई।

स्त्री अस्मिता

'मनुस्मृति' में कहा गया है कि जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं और जहाँ उनका आदर नहीं होता, वहाँ समस्त कार्य और प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं।[1]

सुप्रसिद्ध विचारक अरस्तु के अनुसार - "नारी की उन्नति या अवनति पर ही राष्ट्र की उन्नति या अवनति निर्धारित है।"[2]

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था - "जब तक महिलाओं की स्थिति में सुधार नहीं होगा तब तक विश्व का कल्याण नहीं हो सकता। किसी भी पक्षी के लिए एक पंख से उड़ना असंभव है।"[3]

गाँधीजी ने कहा था कि "महिलाओं के अधिकारों के विषय में समझौता नहीं कर सकता। शारीरिक बनावट और लिंग भेद पुरुष और महिलाओं के कार्यों

---

1. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
   यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वस्तत्राफलाः क्रिया। मनुस्मृति 3/56/8
2. 21वीं सदी में महिलाओं का बदलता स्वरूप, डॉ. नयनेश गढवी और डॉ. राम सोन्दर्बा
3. वही

के अन्तर को दर्शाता है, उनके स्तर के अन्तर को नहीं। महिला पुरुष की पूरक है, उनसे कम नहीं।"[1]

पंडित जवाहरलाल नेहरू के अनुसार "यदि जनता में जागृति पैदा करनी है तो पहले महिलाओं में जागृति पैदा करो, एक बार जब वे आगे बढ़ती है तो परिवार आगे बढ़ता है, गाँव व शहर आगे बढ़ता है एवं सारा देश आगे बढ़ता है।"[2]

इस प्रकार विभिन्न महामुनियों तथा विद्वानों ने स्त्री के संबंध में अपना विचार व्यक्त करते हुए यही बताना चाहा है कि यदि हम समाज को सही ढ़ंग से विकसित करना चाहते हैं तो स्त्रियों को समाज में पुरुषों के समान गौरव मिलना चाहिए।

स्त्री अस्मिता संबंधी विविध दृष्टिकोण

1. सामंती दृष्टिकोण

सामंती समाज में भोग और विलास की चरमसिद्धि ही मुख्य ध्येय था। सामंतवादी जीवन में स्त्री को अपनी संपत्ति मानकर उसका भोग किया जाता था। उसे वासना-पूर्ति का साधन मात्र समझा जाता था। स्त्री का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। वह घर के अंदर नारकीय जीवन बिताने को विवश थी। स्त्री जीवन की पूर्णता और सार्थकता को भोग्या के रूप में देखना सामन्तवादी दृष्टिकोण की विशेषता है।

---

1. 21वीं सदी में महिलाओं का बदलता स्वरूप, डॉ. नयनेश गढ़वी और डॉ. राम सोन्दर्वा
2. वही

2. मार्क्सवादी दृष्टिकोण

मार्क्सवादी दृष्टि में स्त्री संघर्ष का साधन है। एंगेल्स ने नारी स्वावलंबन का एकमात्र उपाय महिलाओं के लिए रोज़गार को ही एक प्रगतिशील स्थिति बताया। आर्थिक रूप से पति पर निर्भरता का अर्थ यह है कि परिवार के दायरे में पति बुर्जुआ होता है तथा पत्नी सर्वहारा। इसलिए जैसे-जैसे सर्वहारा समाज का विस्तार होगा, नारी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा और पुरुष श्रेष्ठता की दीर्घकालीन परंपरा की जड़ें भी पूरी तरह से समाप्त हो जाएगी।"[1]

इस प्रकार मार्क्सवादी दृष्टिकोण स्त्री अस्मिता एवं मुक्ति के प्रश्न को स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता के प्रश्न के साथ जोड़ता है।

3. पूँजीवादी दृष्टिकोण

पूँजीवादी व्यवस्था में स्त्री दोहरे शोषण की शिकार होती है। पहला शोषण एक स्त्री के रूप में और दूसरा शोषण एक श्रमिक स्त्री के रूप में। पूँजीवाद ने स्त्री को चूल्हे-चौके से मुक्त करके घर से बाहर एक मज़दूर स्त्री के रूप में निकालने का प्रशंसनीय काम किया है। लेकिन उसी पूँजीवाद स्त्री अस्मिता पर कठोर प्रहार भी किया। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था ने उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। जिससे स्त्री एक पण्य वस्तु मात्र बन गई। उपभोक्तावादी संस्कृति के मायाजाल में फँसकर स्त्री जाने-अनजाने शोषण की शिकार हो रही है। आज स्त्री देह एक पण्य

---

1. नारी अस्मिता की परख, दर्शन पांडेय, पृ. 6

वस्तु है जिसका फायदा बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और बाज़ार उठा रहा है। दिन रात कठोर परिश्रम करने के बावजूद स्त्री को अपनी अस्मिता 'दाँव' पर लगानी पड़ती है।

विभिन्न कालों में स्त्री अस्मिता

1. वैदिक काल में स्त्री

वेदों से पता चलता है कि स्त्री वैदिक काल में सम्मान की पात्र थी। उसे अपना जीवन साथी चुनने की स्वतंत्रता थी। वह अपनी इच्छानुसार प्रेम विवाह कर सकती थी। विधवा पुनर्विवाह कर सकती थी। पर्दा प्रथा इस काल में नहीं थी तथा पुनर्विवाह का अधिकार के कारण सहमरण की प्रथा प्रारंभ नहीं हुई थी। स्त्रियों को पुरुषों के समान उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा आदि विदुषी महिलाओं को श्रद्धा के साथ स्मरण किया गया है। स्त्री को इतनी स्वतंत्रता होते हुए भी उसे पुरुष सत्ता के अधीन रहना पड़ता था। अथर्ववेद के अनुसार वैदिककालीन स्त्रियाँ शूर, वीर, पराक्रमी और सबला होती थीं। वह पुरुष की सहयोगिनी और सहायिका थी। पुरुषों के साथ यज्ञ करने का अधिकार उसे प्राप्त था। वह युद्ध में पुरुषों के साथ जाती थी। "अथर्ववेद में यह उल्लिखित है कि पत्नी को पति के आदेशानुसार चलना चाहिए तथा उसके मन के अनुकूल कार्य करना चाहिए। स्त्री का कर्तव्य है कि वह पति से प्रेम करे और उसका विरोध कभी न करे। वह पति से मधुर और शांतिपूर्ण वाणी बोले। अपनी गलती पर प्रायश्चित करे। उषाकाल से पहले उठे।"[1]

---

1. नारी अस्मिता की परख, दर्शन पांडेय, पृ. 9

वैदिक कालीन स्त्री कर्तव्यनिष्ठ और सम्माननीय थी। वह दूसरों का सम्मान भी करती थी। इसलिए उसका पारिवारिक जीवन भी सुदृढ़ रहता था।

2. बौद्धकाल में स्त्री

बौद्धधर्म का उद्‌भव वैदिक धर्म के कर्मकांडों और बाह्याडंबरों की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। बुद्ध द्वारा स्थापित यह धर्म उत्पीडित स्त्रियों को आश्रय देता था। बुद्ध के भिक्षुणी संघ में अम्बपाली, विमला जैसी पतिता नारियों को भी प्रवेश दिया गया था। इतना सब कुछ होते हुए भी बौद्ध काल में स्त्री को समुचित सम्मान प्राप्त नहीं हो सका। इसका कारण यह है कि बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके अनुयायियों ने स्त्री को भोग वस्तु मानकर इन्हें अपनी काम तृप्ति के लिए उपयोग करने लगे। इस प्रकार बौद्धकाल में स्त्री की अस्मिता को पुरुष वर्ग ने कोई विशेष महत्व नहीं दिया।

3. मध्यकाल में स्त्री

इस काल में स्त्रियों की स्थिति अत्यंत दयनीय थीं। बाह्य आक्रमणकारियों के भय से पैदा होते ही उन्हें मार दिया जाता था या कम उम्र में उनकी शादी की जाती थी। शिक्षा के अभाव से लोग अनेक अंधविश्वासों से ग्रस्त थे। पर्दाप्रथा ने उन्हें बाहरी दुनिया से अलग कर दिया था। स्त्री पुरुषों की संपत्ति समझी जाने लगी और उसे भोग्या के रूप में देखा जाने लगा। सामन्तों और राजाओं के द्वारा स्त्री का बलात् अपहरण कर लिया जाता था। इस काल में स्त्री मात्र भोगविलास का

उपकरण समझी गई। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मध्यकालीन नारी अस्मिता सामंती व्यवस्था की शिकार बनी।

4. उपनिवेश कालीन स्त्री

1857 में प्रथम स्वतंत्रता क्रांति के बाद भारत में पूरी तरह से अंग्रेज़ी शासन की स्थापना हुई। भारत में ब्रिटिश शासन के प्रभाव से तथा शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी भाषा कर दिए जाने से भारतीय जीवन-पद्धति और राष्ट्रीय चरित्र में नए परिवर्तन प्रारंभ हुए। पश्चिम के औद्योगिक विकास और भारतीय बाज़ारों के विदेशी माल की खपत के कारण गाँवों में कुटीर उद्योग लगभग नष्ट हो गए। संयुक्त परिवार बिखर गए। ग्रामीण लोग गरीबी और अज्ञानता से विवश हो गए। गाँव से शहर की ओर भागने की प्रवृत्ति बढ़ी। शिक्षा और उद्योग धंधों में जो थोड़ी बहुत प्रगति हुई, वह शहरों तक सीमित रही। भारतीय समाज एक नए प्रकार के शोषण का शिकार हो गया। पहले से ही शोषित स्त्री पर इसका बहुत बड़ा दुष्प्रभाव पड़ा। लेकिन अंग्रेज़ी शासन के द्वारा पढ़े-लिखे भारतीयों को अंग्रेज़ी शिक्षा एवं साहित्य को पढ़ने का अवसर भी मिला जिससे सदियों से चले आ रहे रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा धार्मिक कुरीतियों को समाप्त करने का प्रयत्न कर एक नए जागरण का सूत्रपात किया गया।

5. नवजागरणकालीन स्त्री

स्त्रियों की सभी समस्याओं के मूल में अंधविश्वास, अशिक्षा और धार्मिक कुरीतियाँ थी। इसलिए समाज सुधारकों ने सामाजिक सुधार के साथ-साथ स्त्री

शिक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया। एक ओर सती-प्रथा का उन्मूलन, बाल-विवाह निषेध, विधवा विवाह समर्थन, स्त्रियों के संपत्ति पर अधिकार जैसे कानून बनाकर उन्हें सामाजिक अन्याय से कुछ राहत प्रदान की गई, दूसरी ओर उनकी शिक्षा-दीक्षा के प्रबंध किए जाने लगे। प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष समानता का प्रतिपादन किया जाने लगा। इसके अलावा समाज में विविध कुप्रथाओं के कारण स्त्रियों की जो हीन दशा थी, उसे दूर करने का प्रयास होने लगा। बीसवीं शताब्दी में स्त्री शिक्षा के प्रचार-प्रसार से स्त्री अपने अधिकारों और स्वतंत्रता के प्रति सचेत हुई। इस समय विभिन्न नारी संगठनों का निर्माण भी हुआ। इनमें 1917ई. में स्थापित 'भारतीय महिला मंडल' ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। इसने महिलाओं की शिक्षा और सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1925ई. में 'भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद' की स्थापना ने भारतीय स्त्री को सामाजिक समानता प्रदान कराने तथा नारी जागरण की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। 1927ई. में 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' की स्थापना हुई जिसने नारी शिक्षा और समाज सुधार का कार्य किया। 1944ई. में 'कस्तूरबा ट्रस्ट' की स्थापना से भारतीय ग्रामीण नारी के विकास और स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के क्षेत्र में प्रयास किए गए। इस प्रकार नवजागरण काल में स्त्रियों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। स्त्री की स्वतंत्रता और अधिकार की भावना ने नारी मुक्ति आन्दोलन को जन्म दिया।

नारी मुक्ति आंदोलन

भारतीय तथा पाश्चात्य देशों में स्त्री ने अपने अधिकारों के लिए तथा अपनी अस्मिता की प्रतिष्ठा के लिए अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में आन्दोलन किए।

पश्चिमी नारी मुक्ति आंदोलन

यूरोप और अमेरिका जैसे देशों में अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी में नारीवादी आंदोलन विकसित हुआ जिसे 'फेमिनिस्ट मूवमेन्ट' कहा गया। पहले मताधिकार, काम करने की अनुकूल एवं समान परिस्थितियाँ इसकी मुख्य माँगें थीं, लेकिन बाद में सामाजिक जीवन तथा विवाह, तलाक जैसे मामलों में पुरुषों के साथ समानता की स्थिति की माँग प्रमुख रूप से ज़ोर पकडने लगी थी।

अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में मेरी वॉलस्टानक्राफ्ट, जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे नारीवादियों ने स्त्रियों के जनतांत्रिक अधिकारों एवं मुक्ति की जो मांग उठाई थी, उन्नीसवीं सदी के अंत तक उनमें से अधिकांश माँगों को ब्रिटेन तथा अमरीका में कानूनी तौर पर मान लिया गया था।

सीमोन द बोउवार की प्रसिद्ध पुस्तक 'द सेकेन्ड सेक्स' का प्रकाशन 1949ई. में हुआ था और इसी के बाद नारी मुक्ति आंदोलन भी प्रकाश में आया। इस पुस्तक में नारी की सामाजिक, ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति का

परिचय देते हुए बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक के स्त्री की अस्मिता पर प्रकाश डाला है। सिमोन मानती थी कि लगभग आधी से ज्यादा दुनिया गुलामी की जंजीरों में जकड़ी हुई है, जिसमें अमीर-गरीब, हर जाति एवं हर देश की नारी सम्मिलित है। अतः कोई भी स्त्री मुक्त नहीं कही जा सकती। परन्तु पश्चिम में नारी मुक्ति आंदोलन के स्वर बीसवीं शताब्दी के आरंभ में पूरे विश्व में गूँजने लगा था।

किन्तु धीरे-धीरे यह नारी मुक्ति आंदोलन दिशा भ्रमित होकर उन्मुक्त तथा स्वच्छंद भोगवाद की ओर बढ़ने लगा। आंदोलन में इस दिशा भ्रम का कारण केट मिलेट की 'सेक्शुअल पॉलिटिक्स' और जर्मन ग्रीअर की 'फीमेल यूनिक' जैसी पुस्तकें थीं। केट मिलेट ने अपनी पुस्तक में 'फ्री सेक्स' और 'लेस्बियन' प्रवृत्ति का समर्थन करते हुए यौन क्रांति का आह्वान किया, वहीं जर्मन ग्रीअर ने नारी का शारीरिक सर्वेक्षण करते हुए नारी अवयव संबंधी मिथकों को तोड़ने का प्रयत्न किया, जिसके कारण पश्चिम के उन्मुक्त समाज में नारी मुक्ति आंदोलन ने स्वच्छंदता की अति कर दी। इस स्वच्छंदता की प्रतिक्रियास्वरूप 'बैक टु वुमेन हुड (नारीत्व की ओर वापसी) नामक आंदोलन ज़ोर पकड़ने लगा।"[1]

पश्चिमी नारी जब पुरुषों के समान स्तर तक पहुँचने के लिए संघर्ष कर रही थी, तब भारतीय नारी परतंत्रता एवं रूढ़ियों के बंधन से मुक्त होने के लिए प्रयास कर रही थी।

---

1. नारी अस्मिता की परख, दर्शन पांडेय, पृ. 19-20

भारतीय नारी मुक्ति आंदोलन

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही स्त्री की हीन स्थिति को सुधारने का प्रयास होने लगा था। नारी मुक्ति आंदोलन में अनेक समाजसुधार को जैसे राजाराम मोहनराय, दयानंद सरस्वती, महादेव गोविन्द रानाड़े, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, पंडिता रमाबाई आदि ने उल्लेखनीय प्रयास किया। स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह, अंतर्जातीय विवाह आदि को प्रोत्साहन दिया गया तथा सती-प्रथा, पर्दा प्रथा, दहेज प्रता आदि को खत्म करने पर ज़ोर दिया गया।

नारी मुक्ति आंदोलन सचमुच हमारी सामाजिक व्यवस्था, घर की व्यवस्था, पुरुष सत्तात्मकता तथा पूँजीवाद का विरोध करते हुए स्त्री को एक मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित करने के पक्ष में है। नारी मुक्ति की आज सबसे अधिक आवश्यकता ग्रामीण स्त्रियों को है क्योंकि वे आज भी अशिक्षित और शोषित हैं। स्त्री आर्थिक रूप से पुरुष पर निर्भर रहने के कारण भी वह पुरुष द्वारा दमित रहती है। इसलिए स्त्री का आर्थिक स्वावलंबन अत्यंत आवश्यक है। आज की स्त्री की यह महत्वाकांक्षा है कि समाज में उसकी एक पहचान बने। इसके लिए वह शिक्षा प्राप्त करके हर क्षेत्र में प्रवेश पा रही है।

इस प्रकार नारी मुक्ति आंदोलन से स्त्री अपने अधिकारों और अपनी अस्मिता के प्रति सजग हुई तथा उसके व्यक्ति स्वातंत्र्य का विकास हुआ।

नवउपनिवेशकालीन स्त्री

नवउपनिवेशकाल में शिक्षित स्त्री अपनी अस्मिता तथा स्वतंत्र अस्तित्व की खोज करती हुई पूँजीवाद का शिकार बन गई है। वह घर के चार दीवारों से बाहर निकलकर अपनी आर्थिक स्वतंत्रता हासिल करने में तो कामयाब हुई है, लेकिन इस बाज़ार की दुनिया में वह एक व्यक्ति से वस्तु में तब्दील हुई है। नए उपभोक्तावादी समाज में मानवीय मूल्य और संवेदना के लिए स्थान नहीं है। यहाँ परस्पर संबंध, जीवन-मूल्य सभी बाज़ार आधारित है। लगातार आत्म-केन्द्रित होता मनुष्य दिशाहीन हो रहा है। वह पुरानी रूढ़ियों, रीति रिवाज़ों को मानने के लिए तैयार नहीं है। उसने पुरानी नैतिक मान्यताओं को तोड़ा है और अपने अनुकूल नए मानदण्डों का निर्माण किया है।

दैहिक संबंधों की उन्मुक्तता ने विवाह जैसे पवित्र संस्था को टुकरा दिया है। स्त्रियों ने अब अपने को देह मान लिया है लेकिन उसकी देह का स्वामित्व वह पुरुषों को न देकर, खुद स्वीकार करती है। बाज़ारवाद के इस युग में वह सौंदर्य प्रतियोगिताओं के द्वारा या विज्ञापनों के माध्यम से 'कमोडिटी' बन रही है। नवउपनिवेशकालीन स्त्री विवाह, परिवार, दांपत्य, मातृत्व आदि में विश्वास नहीं करती। वह 'लिव-इन-रिलेशनशिप' और फ्री सेक्स में दिलचस्पी रखती है। स्त्री विरोधी समाज में कन्या भ्रूणहत्या की प्रवृत्ति भी ज़ोरों से चल रही है। स्त्री अब अबला से सबला बन रही है। वह 'पावर वुमेन' बनती जा रही है। जो पुरुष करता है, वही स्त्री भी कर रही है।

पुरुषवर्चस्ववादी व्यवस्था का विरोध

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन सामाजिक व्यवस्था पितृसत्तात्मक और स्त्री की अस्मिता के खिलाफ रहा है। सामंतवादी तथा पूँजीवादी मूल्यों से जुड़ी पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री पुरुष को अधीन रहकर उसका अनुसरण करके जीने के लिए विवश होता है। उसे अपना अभिप्राय व्यक्त करने या किसी बात का निर्णय लेने के लिए अधिकार नहीं है। पुरुष स्त्री पर अपना आधिपत्य जमा लेता है और उसे अपनी वैयक्तिक संपत्ति मान लेता है। स्त्री पुरुष की आश्रिता, सेविका तथा भोग्या बना दी जाती है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सामंती व्यवस्था का पतन हुआ और पूँजीवादी व्यवस्था का प्रारंभ हुआ। दोनों सामंतवादी और पूँजीवादी व्यवस्थाएँ पुरुषवर्चस्ववादी और स्त्री पुरुष के खिलाफ होने के कारण, स्त्री को व्यवस्था का विरोध करना पड़ा।

सामंतवादी व्यवस्था का विरोध

सामंतवादी समाज स्त्री को विलासिता और उपभोग की सामग्री मानता था। सामंतवादी व्यवस्था ने स्त्री को भोग्या तथा वंशवृद्धि का माध्यम बना दिया। उसके सभी अधिकारों को छीन लिया गया। स्त्री घर गृहस्थी, शिशुपालन, पति की सेवा तथा बड़े-बूढ़ों की सेवा में सीमित हो गया। "जो स्त्री पत्नी तथा माँ के पद को संभालती तथा उसी में होम हो जाती, वही अच्छी मानी जाती थी। उसका समर्पण भाव तथा बलिदानी रूप ही मान्य था। अपने सुख-दुख की परवाह न करती, सब

कुछ त्याग कर देवी बन कर जीना ही उसकी नियति थी। ऐसी ही स्त्री को सराहना मिल सकती थी।"[1]

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक स्त्रियों को सामंती दृष्टि से ही देखा जाता था। सामंतवादी ने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार, अक्सर और सुविधाओं से वंचित रखा। प्रारंभिक हिन्दी उपन्यासों में दो तरह की स्त्रियाँ अच्छी और बुरी की तुलना की गई हैं। अच्छी स्त्री पढी-लिखी है, पर्दे में रहती है, कम से कम खर्च करके गृहस्थी को अच्छी व्यवस्था करती है, अपनी निजी इच्छाओं को अभिव्यक्त नहीं करती, अपने पति से कभी बहस नहीं करती। बुरी स्त्री अनपढ़ है, परिवार में मेल मिलाप नहीं रखती, पति की बात नहीं सुनती, कम पैसे में घर नहीं चलाती। देवरानी जेठानी की कहानी, वामा शिक्षक, भाग्यवती जैसे उपन्यासों में इसी रवैये को अपनाया गया है। यह अच्छी स्त्री पुरुष सत्ता के आगे अपना सिर झुका लेती है और पुरुष के ऊपर आश्रित रहती है। गरिमा श्रीवास्तव के अनुसार - "स्त्री को शिक्षित और समझदार बनाकर उसे 'सुशिक्षित दासी' बनाने में उन्नीसवीं सदी के नीतिपरक साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।"[2] नवजागरण काल की सुधार चेतना का सबसे बड़ा अंतर्विरोध यही था। सभी प्रारंभिक उपन्यासों में स्त्रियों के कर्तव्य तो बार-बार दोहराए गए है लेकिन उनके अधिकारों के संबंध में कुछ भी नहीं कहा हैं।

---

1. नारी एक सफर, भूमिका से, संतोष गोयल, पृ. 5
2. वामा शिक्षक प्रस्ताविका, गरिमा श्रीवास्तव, पृ. 21

'भाग्यवती' उपन्यास में भाग्यवती के ससुरालवाले उसपर झूठा कलंक लगाकर उसे घर से बाहर निकालने पर उसका पति भी उसका साथ नहीं देता है। वह अपने घरवालों की बात में आकर बेवजह पत्नी की उपेक्षा करता है। भाग्यवती के पति की इस नीच प्रवृत्ति के विरुद्ध उपन्यास में कुछ भी नहीं लिखा गया है।

बाइबिल में लिखा गया है कि घर के स्वामी (head) होने के नाते पत्नी की हर हरकत के लिए पति उत्तरदायी है। वह अपने उत्तरदायित्व से पीछे नहीं हट सकता। सामंतवादी व्यवस्था में स्त्री की कोई सुरक्षा नहीं होती।

लड़का-लड़की में भेद

पौराणिक काल से ही भारतीय समाज में नारी का स्थान हेय है। आज हम शिक्षित और आधुनिक होने का दावा तो करते हैं, लेकिन पुरानी मान्यताओं और रूढ़ियों से मुक्त नहीं है। "आज भी औसत भारतीय परिवार में पुत्र के जन्म पर सभी भरपूर खुशियाँ मनाते हैं और कन्या के जन्म के समाचार से मानो सारे परिवार पर वज्रपात हो जाता है। इस प्रकार के मनोभाव के पीछे पौराणिक काल से ही चली आ रही यह मान्यता है कि माता-पिता का जन्म पुत्र प्राप्ति से ही सार्थक होता है, क्योंकि मृत्यु के बाद पुत्र के हाथों से अग्निदाह एवं पिण्डदान ही उन्हें स्वर्गारोहण एवं मोक्ष का अधिकारी बनाता है। निश्चित रूप से ही यह धार्मिक रूढ़ि पुरुष प्रधान समाज द्वारा स्त्री के निम्न, पराधीन तथा शोषित बनाए रखने वाले विधानों में से प्रमुख है। यह स्पष्ट है कि कन्या के प्रति भेदभाव रखने, पुत्र को उस तुलना में परिवार में और समाज में अधिक महत्व और गौरव प्रदान करने के पीछे

यह धार्मिक रूढि ही सर्वप्रधान है। कन्या का जन्म होते ही उसके माता-पिता, बाबा-दादी आदि चिन्ता और शोक में डूब जाते हैं। इसका कारण यह है कि कन्या के विवाह में होनेवाले खर्च उसके दहेज और विवाह निश्चित करने की दिक्कतों की चिन्ता उन्हें उसी क्षण से सताने लगती है। सदियों से चली आनेवाली सामाजिक कुरीतियों, विशेष रूप से वर के माता-पिता की धनलोलुपता तथा दहेज के दानव के आतंक के कारण ही माता-पिता की दृष्टि में कन्या अवांछनीय तथा हेय बन जाती है।"[1]

विवेकशील और समझदार लोग बच्चे को ईश्वर का दान समझते हैं और उन्हें बिना लिंग-भेद के प्यार से पालते-पोसते हैं। श्रद्धाराम फिल्लौरी की भाग्यवती भी एक ऐसी ही विवेक-सम्पन्न, चतुर और समझदार स्त्री है। भाग्यवती की कन्या के उत्पन्न होने पर वह पुरानी धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करते हुए अपने पति को समझाती है - "स्वामी! यह क्या बात है यदि आप ऐसे बुद्धिमान होकर उदास रहने लगे तो और कौन न होगा। क्या आप कन्या और बालक में कुछ भेद गिनते हो? ईश्वर की दृष्टि में तो कुछ भेद नहीं प्रतीत होता? यदि उसके यहाँ कुछ भेद होता तो कन्या के शरीर में भूख, प्यास, नींद आदि व्यवहार कुछ अधिक न्यून होते। फिर जन्म-मृत्यु, बढ़ना-घटना भी समान ही दिखाई देता है। अब कहिए कि फिर सोच करने का क्या प्रयोजन।"[2]

---

1. नये आयामों को तलाशती नारी, सं. दिनेशनन्दिनी डालमिया और रश्मि मल्होत्रा, पृ. 83
2. भाग्यवती, श्रद्धाराम फिल्लौरी, पृ. 57

भाग्यवती की सास उसके लड़के होने पर धागे और ताबीज बाँधने के लिए कहती है जिससे बच्चे पर किसी की नज़र न लग जाये और देव-परीभूत की छाया न पड़ जाये। भाग्यवती उसके पूछती है कि - "जब लड़की हुई थी तब तो तुमने मुझे कोई यंत्र और धागा बाँधने को नहीं दिया था। वह आज लों जीती-जागती और भली चंगी है।"[1] भाग्यवती को एक ओर इस तरह के अंधविश्वासों में दिलचस्पी नहीं है तो दूसरी ओर वह लडका-लड़की में भेद करना भी नहीं चाहती है।

प्रेमचंद की निर्मला की माँ कल्याणी को अपने लड़के लड़कियों से कहीं ज़्यादा प्यारे थे - "लड़के हल के बैल हैं; भूसे-खली पर पहला हक उनका है। उनके खाने से जो बचे, वह गावों का। मकान था, कुछ नकद था, कई हज़ार के गहने। ये, उन्हें पढाना-लिखाना था। एक कन्या और भी चार-पाँच साल में विवाह करने योग्य हो जाएगी। इसलिए वह कोई बड़ी रकम दहेज के न दे सकती थी। आखिर लड़कों को भी तो कुछ चाहिए।"[2] प्रेमचंद काल के लड़कियों के प्रति इस तिरस्कार भावना के कारण उनका जीवन नरक तुल्य बन जाता है।

'माई' उपन्यास में सुबोध को पढ़ाई के लिए इंग्लैंड भेजा गया लेकिन दादा सुनैना को बाहर भिजवाकर पढाने के विरुद्ध थे। दादा ने कहा - "हमें नहीं बिगाड़ना है अपने बच्चों का भविष्य जो ऐरी-गैरी जगह भेजें। सबकी बेटियाँ यहीं

---

1 भाग्यवती, श्रद्धाराम फिल्लौरी, पृ. 64

2. निर्मला, प्रेमचंद, पृ. 28

पढ़ रही हैं, उनके दिमाग खराब है क्या?"[1] सुबोध घरवालों का विरोध करते हुए सैनाना को वहाँ से निकाल देता है, पढाई के लिए।

'समय सरगम' उपन्यास में बताया गया है कि लडके और लडकी में भेद नए बदलावों के साथ अब भी कायम है। इसके विरुद्ध कानून भी बन चुके हैं। लेकिन इसको लागू करने का काम माता-पिता का है - "पुरानी व्यवस्था अब भी कायम है, नए बदलावों के साथ। लड़के और लड़की में भेद। परिवार में पुत्री और पुत्र का अबोला द्वंद्व जारी है। गर्भ में ही पुत्रियों की हत्या और पुत्रों के संरक्षण साधन। भाई-बहनों में झगड़े चलते रहते हैं। कानून बन चुके हैं, मगर उन्हें लागू कौन करेगा! माता-पिता ही तो।"[2]

हमारे समाज में लडका-लडकी के बीच दिखाने वाले इस भेद के कारण लडकी स्वयं एक हीनभाव से ग्रस्त हो जाती है और अपने आप को भाई की अपेक्षा निम्न समझने लगती है। लडकी को इस हीनभाव से मुक्ति दिलाने के लिए उसे शिक्षा और विकास के समान अवसर मिलना चाहिए ताकि वह अपने पैरों पर खडी हो सके।

स्त्री शिक्षा

अंग्रेज़ों के आगमन के साथ भारत में समाज सुधारक स्त्री शिक्षा के अनुकूल बन गए। उन्होंने स्त्री शिक्षा का प्रसार आरंभ किया परंतु समाज इसके

---

1. माई, गीतांजलिश्री, पृ.
2. समय सरगम, कृष्णा सोबती, पृ. 92

बारे में उदासीन था। समाज में स्त्री शिक्षा का विरोध होता रहा। प्रारंभिक हिन्दी उपन्यासों में स्त्री शिक्षा का विरोधी स्वर हमें सुनाई देता है। लेकिन इसके साथ-साथ कुछ उपन्यासों में समाज सुधारकों के प्रयत्न के फलस्वरूप स्त्री शिक्षा के अनुकूल विचार भी देखने को मिलते हैं।

वामा शिक्षक में इस तरह के परस्पर विरोधी पात्र का निर्माण करके उपन्यासकार ने शिक्षित और अशिक्षित स्त्री के अंतर को दर्शाने की कोशिश किया है। जमुनादास स्त्री शिक्षा के विरोधी है और मथुरादास स्त्री शिक्षा के अनुकूल है। अतः इनके गृहस्थ जीवन में भी फर्क दिखाई देता है। मथुरादास की पत्नी पढ़ी-लिखी है। अपनी लड़कियों को साफ-सुथरा रखती है। उनको सीना-पिरोना सिखाती है। इस बात का ख्याल रखती है कि वो अच्छा व्यवहार करे, अच्छी तरह से बोले और अपना समय उचित कामों में बिताए। इसके विपरीत जमुनादास की पत्नी अनपढ़ है। जमुनादास की लड़कियाँ जब देखो मैली-कुचैली दिखाई देती, कहीं कपड़े फटे हैं, कहीं बाल बिखरे है। उनकी माँ लाड-प्यार से उनसे कुछ न कहती और जो वह कहती, कर देती है।

'भाग्यवती' उपन्यास में स्त्री शिक्षा पर ज़ोर दिया गया है। पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' की रचना स्त्री-शिक्षा और सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से की है। उन्होंने उपन्यास की भूमिका में रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है - "बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखूँ कि जिसके पढ़ने से भारतखंड की स्त्रियों को गृहस्थधर्म की शिक्षा प्राप्त हो क्योंकि यद्यपि कई

स्त्रियाँ कुछ पढ़ी-लिखी तो होती है परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनकी देश-विदेश की बोल-चाल और लोगों के बात-व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती।...."[1]

प्रेमचंद के 'गबन' उपन्यास में स्त्री शिक्षा के महत्व को व्यक्त किया गया है। वकील रमानाथ से कहता है - "जब तक स्त्रियों की शिक्षा का प्रचार न होगा, हमारा कभी उद्धार न होगा।"[2]

प्रसाद के 'कंकाल' उपन्यास में जंगली बदन की बेटी गाला पढने और पढाने का निश्चय करती हुई रोकर अपने पिता से कहती है - "आप मुझे अपमानित कर रहे हैं मैं अपने यहाँ पले हुए मनुष्य से कभी ब्याह न करूँगी। यह तो क्या, मैंने अभी ब्याह करने का विचार भी नहीं किया है। मेरा उद्देश्य है - पढना और पढाना। मैं निश्चय कर चुकी हूँ कि मैं किसी बालिका विद्यालय में पढाऊँगी।"[3]

प्रेमचंदकाल में स्त्री शिक्षा पाप समझी जाती थी। निराला के 'अप्सरा' उपन्यास में इसका ज़िक्र मिलता है। कनक और तारा के बीच का संवाद देखिए - कनक तारा से उनके घर की स्त्रियों के संबंध में पूछती है - "दीदी! यो लोग कोई पढ़ी-लिखी नहीं थी शायद?

"न, यहाँ तो बड़ा पाप समझा जाता है।"

"आप तो पढ़ी-लिखी जान पड़ती है?"

---

1. भाग्यवती, भूमिका से, श्रद्धाराम फिल्लौरी, पृ. 7 (1988)
2. गबन, प्रेमचंद, पृ. 78
3. कंकाल, जयशंकर प्रसाद, पृ. 163

"मेरा पढना-लिखना वहीं हुआ है। घर में कोई काम था ही नहीं। छोटे साहब के भाई साहब (उसके पति) की इच्छा थी कि कुछ पढ़ लूँ। उन्हीं से तीन-चार साल में हिन्दी और कुछ अंग्रेज़ी पढ़ ली।"[1]

शिक्षित स्त्री का मन दृढ़ होता है। वह विपत्ति के समय में भी विवेकपूर्ण निर्णय लेती है। प्रसाद के 'तितली' उपन्यास में विपत्ति के समय में भी तितली की प्रशान्त दृढ़ता देखकर राजो झल्ला उठी - "वह मन-ही-मन सोचने लगी पढी-लिखी स्त्रियाँ क्या ऐसी ही होती हैं? इतनी विपत्ति में भी जैसे इसको कुछ दुख नहीं। न जाने इसके मन में क्या है?"[2]

प्रेमचंदोत्तर काल में शहर की स्त्रियों को काफ़ी शिक्षा प्राप्त होती थी, लेकिन ग्रामीण स्त्रियों की दशा बेहद दयनीय थीं। मैत्रेयी के 'चाक' उपन्यास में अतरपुर गाँव की स्त्रियों की स्थिति बताई गई है - "गाँव (अतरपुर) की ज्यादात्तर औरतें अनपढ़ है। जो पढी-लिखी भी है, वे गोबर-पानी के काम में खपकर अपनी विद्या भूल चुकी हैं। सारंग को कन्या गुरुकुल में ग्यारह कक्षा पढ़ी बताया जाता है, मगर कोई उससे चिट्ठी लिखने के लिए कहे तो उसकी उंगलियाँ और दिल की भीतरी तहें साथ-साथ काँपने लगती है।"[3]

'कठगुलाब' उपन्यास में बताया गया है कि शिक्षा से स्त्री का आत्मविकास बढ़ जाता है और वह अपने निर्णय खुद लेने में काबिल होती है। असीमा कहती

---

1. अप्सरा, निराला, पृ. 134
2. तितली, जयशंकर प्रसाद, पृ. 172
3. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 27

है - "औरत के जीवन का निर्धारण बचपन में ही हो जाता है। शिक्षा मिलने पर उसमें वह आत्मविश्वास पैदा हो सकता है, जिससे वह अपने निर्णय खुद ले सके। असीमा कहती है, अगर नर्मदा छोटी उम्र में उनके घर रहकर पढाई-लिखाई और सिलाई न सीखी होती तो इतनी काबिलियत के साथ, उसकी माँ का बिज़नेस न संभाल पाती। मैं सोचती हूँ और कुछ नहीं तो शिक्षा मिलने पर औरत, केरल की औरतों की तरह, राजनीति संगठन बनाने लायक तो हो ही सकती है।"[1]

आज के पढे-लिखे लोगों के मन में भी स्त्री शिक्षा के संबंध में इतना छिछला विचार है कि लडकियाँ सिर्फ विवाह के लिए पढती हैं। 'शाल्मली' उपन्यास में शाल्मली का पति नरेश कहता है - "पढाई-लिखाई को अब गोली मारो। जीवन भर इस मगजपच्ची से क्या मिलना है? विवाह हो गया, बस!" अंगडाई लेकर नरेश ने कहा। "तुम सोचते हो कि लड़कियाँ केवल विवाह के लिए पढ़ती हैं?" शाल्मली ने सुस्त लहज़े से पूछा। "और नहीं तो क्या? खाली बैठने से तो कहीं अच्छा है कि लड़कियाँ अच्छा पति मिलने की ढंग से प्रतीक्षा करें?" नरेश ने कहकहे लगाते हुए कहा।[2]

सामंतवाद नहीं रहा, लेकिन सामंती मानसिकता पुरुषों में बरकरार है। इसीलिए पुरुषों में 'स्वामित्व' का भाव होता है और पत्नी के प्रति उनकी दृष्टि 'गुलाम' की होती है।

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 234
2. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 25

पराए घर का धन

जन्म से लेकर लड़की को पराए घर का धन मानकर माता-पिता उसकी शिक्षा और विकास के लिए व्यय करना नहीं चाहते हैं। अगर कोई उसे शिक्षा देता भी है तो वह उसके विवाह के लिए है, विकास के लिए नहीं।

'वामा शिक्षक' उपन्यास में जमुनादास अपने भाई मथुरादास से कहता है - "मैंने माना कि लड़कियों का पढना-लिखना बहुत अच्छा है और पढाने की चर्चा हो गई है पर जो मैं लड़कियों को पढाऊँ लिखाऊँ तो मुझको क्या लाभ होगा- लड़कियाँ पराए घर का धन हैं विवाह हुए पीछे अपने अपने घरों को चली जाएँगी फिर मैं अपना रुपया उनके पढाने लिखाने में क्यों खर्च करूँ और झगडे में पडूँ।"[1]

'निर्मला' उपन्यास में निर्मला की बहन कृष्णा जब पूछती है कि क्या यह तुम्हारा घर नहीं, तुम्हें क्यों जबरदस्ती निकाल दी जाती है, तब निर्मला उत्तर देती है - "हम लड़कियाँ हैं, हमारा घर कहीं नहीं होता।"[2]

लडकी के लिए अपना घर पराई है और पति के घर में कोई जगह नहीं है।

'त्यागपत्र' की मृणाल विवाह के उपरान्त कुछ ही दिनों में वापस घर आती है तो उसका भाई उसे समझाता है - "....मिनी, देखो अब ऐसी गलती मत करना। वे आदमी भले हैं, इससे बात बन भी गई। नहीं तो बेटा, ऐसा किया करते हैं?

---

1. वामा शिक्षक, मुंधी ईश्वरीप्रसाद, मुंधी कल्याण राय, पृ. 15
2. निर्मला, प्रेमचंद, पृ. 7

थोड़ी-बहुत रगड-झगड होती ही है। पर पति के घर के अलावा स्त्री को और क्या आसरा है? यह झूठ नहीं है, मृणाल, कि पत्नी का धर्म, कर्म और उसका मोक्ष भी वही है। समझती हो बेटा।"[1] स्त्री के साथ ससुरालवाले जितना भी बुरा व्यवहार करें, उसे सहना पड़ता है क्योंकि उसके घरवाले उसे आश्रय देने के लिए तैयार नहीं होते।

नवउपनिवेशकाल में भी माता-पिता के अंदर से यह विचार नहीं मिटा हैं कि लड़की पराया धन है। आज वह शिक्षित है, स्वावलंबी है, अपने पैरों पर खडी है, फिर भी उसे अपने लिए जगह ढूँढती पड़ती है।

शाल्मली की माँ लड़की को पराया धन मानती है, लेकिन पिताजी उसे शिक्षा देने और उसे खूब नाम कमाने का प्रोत्साहन देते हैं - "लड़की पराया धन है, पति के घर सुख से रहे, यही सबसे बड़ा आशीर्वाद है, बाकी तो...।" माँ हँसकर कहती "तुम नहीं बदलेगी, श्यामल, आज औरत का कर्तव्य पत्नी बनने तक सीमित नहीं है। समय बदल रहा है।"[2]

"विवाह कन्या के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना अवश्य है, वह उसके जीवन का लक्ष्य, चरम परिणति नहीं है। यदि कन्या के माता-पिता इस परंपरागत मानसिकता से मुक्त हो सकें तो निश्चित रूप से कन्या की सामाजिक दशा में क्रांतिकारी परिवर्तन होगा और दहेज जैसी भयावह कुरीति बहुत अंशों में नष्ट हो

---

1. त्यागपत्र, जैनेन्द्र, पृ. 27
2. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 11

जाएगी।"[1] उसे स्वतंत्र, सम्मानजनक जीवन जीने और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने का अधिकार है। इसलिए जब तक उसे उचित वर न मिले, उसे विवाह के लिए बाध्य करने का किसी को अधिकार नहीं है।

मनपसंद वर चुनना

भारत में ग्यारहवीं शताब्दी तक 'स्वयंवर' साधारण बात थी। एक लड़की को अपने पति को चुनने का पूरा अधिकार था। बारहवीं शताब्दी में मुसलमान आगमन से भारत में बाल-विवाह प्रचलन में आया और तब से माता-पिता या अभिभावक लडकी के लिए वर चुनने की रीति आ गई।

उपनिवेशकालीन उपन्यासों में यह देखा जा सकता है कि लड़कियों को अपने पति को चुनने का अधिकार नहीं दिया गया है। 'सेवासदन' उपन्यास में वेश्या भोली पुराने रीति-रिवाज़ों का विरोध करती हुई कहती है - "हम कोई भेड-बकरी तो है नहीं कि माँ-बाप जिसके गले मढ़ दे, बस उसी की हो रहे। अगर अल्लाह को मंज़ूर होता कि तुम मुसीबते झेलो, तो तुम्हें परियों की सूरत क्यों देता? यह बेहूदा रिवाज़ यहीं के लोगों में है कि औरत को इतना जलील समझते हैं, नहीं तो और सब मुल्कों में औरतें आज़ाद है, अपनी पसंद से शादी करती है और जब उससे रास नहीं आती, तो तलाक दे देती है। लेकिन हम सब वही पुरानी लकीर पीटे चली जा रही है।"[2] निराला के 'निरुपमा' उपन्यास में कमल ने

---

1. नए आयामों को तलाशती नारी, सं. दिनेशनन्दिनी डालमिया और रश्मि मलहोत्रा, पृ. 84
2. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 43

महिलाओं से कहा - "आज निरु का भी विवाह यहाँ हुआ है, ऊपर। वह पहले घरवालों की इच्छा से चल रही थी, पर बाद को सब हाल मालूम कर वह अपनी अनुवर्तिता की। खुद सोच-समझ कर योग्य वर चुका।"[1]

यशपाल के 'दिव्या' उपन्यास में दिव्या अपने पिता और संपूर्ण प्रासाद के सामने धैर्य के साथ अपने मनपसंद वर के संबंध में कहती है - "तात और संपूर्ण प्रासाद जान ले, आर्य पृथुसेन के अतिरिक्त मैं किसी से विवाह नहीं करूँगी। आर्य पृथुसेन ने ही मेरे पाणि के लिए तात के सम्मुख प्रार्थना नहीं की, मैं स्वयं यही चाहती हूँ। अन्य कुछ नहीं चाहती; यह सब जान ले। मेरे लिए किसी अन्य वर की संभावना नहीं।"[2]

'चाक' उपन्यास में रेशम अपने पति की मौत के पाँच महीने के अंदर गर्भधारण करती है। जब माँ (सास) उसे जेठ डोरिया का हाथ थामने के लिए सलाह देती है, तब रेशम उसका विरोध करती है और कहती है - "अम्माँ, तुम बूढ़ी होकर ऐसी बातें करती हो? पिता समान जेठ का हाथ पकड लूँ। फिर जो बच्चे का बाप है ही नहीं, उसको बाप का दर्जा क्यों दूँ?...." अपने मन की इच्छा के विरुद्ध विवाह करने के लिए रेशम तैयार नहीं होती है।

इक्कीसवीं सदी के आधुनिक भारत में भी लड़की को अपने मनपसंद वर चुनने का अधिकार पूर्ण रूप से नहीं मिला है। अगर कोई साहस करके शादी

---

1. निरुपमा, निराला, पृ. 132
2. दिव्या, यशपाल, पृ. 51

करती तो घरवाले दोनों की हत्या (honour killing) करने का समाचार देश के विभिन्न भागों में सुनाई पडता है। केरल जैसे सुशिक्षित राज्य में भी हालही में प्रेम विवाह करने के कारण एक युवक की दारुण हत्या लड़कीवालों द्वारा की गई। इस तरह की नरहत्या का अवसान होने का समय बीत गया है।

वैयक्तिक स्वतंत्रता

स्त्री की स्वतंत्रता की बात करते समय अक्सर यह प्रश्न उठता है कि कैसी स्वतंत्रता चाहती है स्त्री? स्त्री की स्वतंत्रता की चाह परिवार को तोडने की चाह नहीं हो सकती, उसे जोड़ने की होनी चाहिए। जोड़ने के इस कार्य में पुरुष की भागीदारी उतनी है जितनी स्त्री की है। स्त्री की मुक्ति कामना करने का मतलब परिवार से अलग होना या पति से अलग होना नहीं है। वह पुरुष के सहयोग से आत्मसम्मान के साथ जीना चाहती है। वर्तमान परिवेश में ऐसा सहयोग कहीं-कहीं धूमिल सा हो गया है।

पूर्व प्रेमचंदकालीन उपन्यासों में स्त्री अपने व्यक्ति स्वातंत्र्य के संबंध में सचेत नहीं थी। वह पुरुष पर आश्रित रहती थी। उसे स्वतंत्र अस्तित्व, अधिकार या धनोपार्जन का स्वातंत्र्य नहीं था. उसे घर के चारदीवारों के भीतर से बाहर आने का भी स्वातंत्र्य नहीं था।

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में स्त्री को घर की चारदीवारों के अंदर से बाहर लाने की कोशिश की है। 'गबन' उपन्यास में रमानाथ जालपा से कहता है -

"यह क्या स्वांग है कि स्त्रियाँ मुँह छिपाये चिक की आड़ में बैठी रहे।"[1] वैसे ही रमेश दयानाथ से पूछता है - "यह क्यों मान लेते हो कि जो औरत बाहर आती-जाती है, वह ज़रूर बिगडी हुई है?"[2]

प्रेमचंद ने उस देश को सभ्य माना है, जहाँ स्त्रियों की अधिक स्वाधीनता है।

'गबन' में वकील रमानाथ से कहता है - "यह समझ लीजिए कि जिस देश में स्त्रियों की जितनी अधिक स्वाधीनता है, वह देश उतना ही सभ्य है। स्त्रियों को कैद में, परदे में, या पुरुषों से कोसों दूर रखने का तात्पर्य यही निकलता है कि आपके यहाँ जनता इतना आचार भ्रष्ट है कि स्त्रियों का अपमान करने में ज़रा भी संकोच नहीं करती।"[3]

जैनेन्द्रकुमार की कल्याणी एक शिक्षित औरत और एक डॉक्टर होते हुए भी, उसे कोई स्वतंत्रता नहीं है। वह अपने पति की ओर चीख कर बोलती है - "तुम साफ़-साफ़ कह क्यों नहीं देते हो कि तुम क्या चाहते हो? मुझे तिल-तिल कर बेचना चाहते हो, सो वह तो हो रहा है। आखिरी साँस तक मेरा बिक जाएगा, तब भी मैं इनकार नहीं करूँगी लेकिन इसके बाद तुम मुझे अपनी तरह रहने क्यों नहीं देते हो?...."[4] जैनेन्द्र के अनुसार स्त्री स्वातंत्र्य और कुछ नहीं, मातृत्व से बचने की चाह है। "...स्त्री निपट स्वच्छंद रहना चाहती है, तो उसके मूल में यही अभिलाषा

---

1. गबन, प्रेमचंद, पृ. 56
2. वही - पृ. 64
3. वही, पृ. 78
4. कल्याणी, जैनेन्द्र, पृ. 50

है कि माता बनने से वह बची रहे और पुरुष के प्रति उसका प्रेयसी का रूप ही प्रतिष्ठित बना रहे। लेकिन इससे बडी प्रवंचना कोई नहीं है। पीछे इसमें पछतावा ही हाथ रहनेवाला है। इस तरह अंत में केवल एक व्यर्थता के भाव को लेकर मरना नसीब रह जाएगा। पश्चिम उसी प्रवंचना के पीछे हैं।

भारत में ऐसी एक धारणा है कि स्त्री की सार्थकता मातृत्व में है। लेकिन एक स्त्री माँ बने या न बने, उसका जीवन कभी भी निरर्थक नहीं है। स्त्री अविवाहित रहकर भी सार्थक जीवन बिता सकती है।

प्रसाद के 'तितली' उपन्यास में अनवरी शैला से मुसलमान स्त्रियों की दयनीय स्थिति के संबंध में कहती है। उन्हें अपने मालिक की मर्जी के अनुसार जीना पड़ता हैं। "हम मुसलमानों को तो मालिक की मर्जी पर अपने को छोड़ देना पड़ता है, फिर सुख-दुख की अलग-अलग परख करने की किसको पड़ी है।" शैला ने जैसे चौंककर कहा - "तो क्या स्त्रियाँ अपने लिए कुछ भी नहीं कर सकती? उन्हें अपने लिए सोचने का अधिकार भी नहीं है?"[1]

यशपाल के दिव्या उपन्यास में स्त्री की स्वतंत्रताप्रियता दर्शनीय है। दिव्या अपने स्वत्व को त्यागना नहीं चाहती है। कुलवधू का सम्मान प्राप्त करने से भी निरादृत वेश्या की भांति स्वतंत्र और आत्मनिर्भर जीवन जीना चाहती है। दिव्या आचार्य रुद्रधीर से कहती है - "ज्ञानी आर्य, जिसने अपना स्वत्व ही त्याग दिया,

---

1. तितली, जयशंकर प्रसाद, पृ. 27

वह क्या पा सकेगी? आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी अत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन होकर वह जीवित नहीं रहेगी।"[1]

उषा प्रियंवदा के 'रुकोगी नहीं राधिका' में राधिका के जीवन में स्वतंत्रता के आग्रह से उत्पन्न असहनीय व्यथा एवं निराशा दृष्टिगोचर होती हैं। राधिका सोचती है कि जब पापा ने अपने जीवन की राह चुन ली है, तो वह क्यों नहीं स्वतंत्र हो, अपने जीवन की राह खोज लें? इससे उसे असहनीय व्यथा, कुण्ठा एवं निराशा ही प्राप्त होती है और वैयक्तिक स्वातंत्र्य के नाम पर वह जीवन पर्यन्त छटपटाती रहती है। वैयक्तिक स्वतंत्रता के पीछे पड़ी राधिका की ज़िन्दगी बिखरी सी हो गई है।

'छिन्नमस्ता' में प्रिया के पति नरेन्द्र उसे पिंजरे में बंद की हुई चिड़िया मानता है। उसके सामंतवादी विचार ही उसे पत्नी को बंद करके रखने के लिए प्रेरित करता है। नरेन्द्र प्रिया से कहता है - "दरअसल तुम्हें इतनी खुली छूट देने की गलती मेरी ही थी। मुझे पहले ही चिड़िया का पंख काट डालना चाहिए था पर मैं तुम्हारी बातों में आ गया। तुम्हारे इस भोले चेहरे के पीछे एक मक्कार औरत का चेहरा है।"[2]

एक गृहिणी का काम सुबह से लेकर रात तक होता है। इसके बीच आज की स्त्री अपने लिए भी जीना चाहती है। 'एक ज़मीन अपनी' की अंकिता कहती है - "मैं सिर्फ गृहिणी ही नहीं हूँ.... एक स्त्री भी हूँ.... आखिर सुबह से रात के बीच

---

1. दिव्या, यशपाल, पृ. 163
2. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 11

कोई एक क्षण ऐसा नहीं हो सकता जिसे मैं नितांत अपने लिए जी सकूँ.... कागज़-कलम लेकर बैठ सकूँ। जो पढ़ना चाहती हूँ पढ सकूँ... लिखना चाहती हूँ लिख सकूँ?"[1] सुधांशु अंकिता से उसके बारे में दुबारा सोचने की बात करने पर, अंकिता कहती है - "सुधांशुजी, औरत बोनसाई का पौधा नहीं है.... जब जी चाहा उसकी जड़े काटकर उसे वापस गमले में रोप लिया... वह बौना बनाए रखने की इस साजिश को अस्वीकार भी तो कर सकती है।" नीता अंकिता से कहती है - "...अनपढ़ औरत को छोड़ भी दें तो विश्वविद्यालय से डिग्रियाँ लेकर निकली ये छोकरियाँ मांग में पुरुष को सजाकर बैठाए रखने को इतनी आतुर क्यों होती है? पुरुष से स्वतंत्र होना है तो पहले उन्हें सिंदूर पोंछना होगा। बिछुए त्यागने होंगे। दासीत्व के प्रतीक चिह्न। यह इस्तेमाल अधिक खतरनाक है। उससे तो पहले मुक्त कर लो उन्हें!"[3]

यह गौर से सोचने की बात है कि स्त्री को वास्तव में किसने स्वतंत्र चाहिए? पुरुष से या उस सामंतवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था से जो उसे गुलाम बनाकर उसके सहज विकास को अवरुद्ध करता है? नासिरा शर्मा के अनुसार सही नारी मुक्ति और स्वतंत्रता समाज की सोच और स्त्री की स्थिति को बदलने में है। शाल्मली सरोज से कहती है - "तुम्हारे सामने समस्या केवल पति से निपटने और

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 18
2. वही, पृ. 220
3. वही, पृ. 117

उससे मुक्त होने की है, मगर मेरी नज़र में सही नारी मुक्ति और स्वतंत्रता समाज की सोच और स्त्री की स्थिति को बदलने में है।"[1]

'श्रृंखला की कडियाँ' निबंध में महादेवी वर्मा ने कहा है कि "इस समय हमारे समाज में केवल दो प्रकार की स्त्रियाँ मिलेंगी - एक वे जिन्हें इसका ज्ञान ही नहीं कि वे भी एक विस्तृत मानव-समुदाय की सदस्य हैं और उनका भी एक ऐसा स्वतंत्र व्यक्तित्व है जिसके विकास से समाज का उत्कर्ष और संकीर्णता से अपकर्ष सम्भव है; दूसरी वे जो पुरुषों की समता करने के लिए उन्हीं के दृष्टिकोण से संसार को देखने में, उन्हीं के गुणावगुणों का अनुकरण करने में जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति समझती हैं। सारांश यह है कि एक ओर अर्थ-हीन अनुसरण है तो दूसरी ओर अनर्थमय अनुकरण और यह दोनों प्रयत्न समाज की श्रृंखला को शिथिल तथा व्यक्तिगत बंधनों को सुदृढ़ और संकुचित करते जा रहे हैं।"[2]

स्त्री के जीवन की अनेक विषमताओं के कारण, उसके अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को भूलकर विवेकशक्ति को खो देना है। इसलिए स्त्री को अपने स्त्रियोचित स्वतंत्र विवेकमय व्यक्तित्व का विकास करके परिवार और समाज की सेवा करनी है। ऐसी महिमामयी महिला के सम्मुख किसी का मस्तक आदर से नत हुए बिना नहीं रह सकता।

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 165
2. श्रृंखला की कडियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 13-14

पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध

पूँजीवाद में पूँजी ही सबसे प्रमुख है। पूँजी इतनी निर्मम है कि वह किसी संबंध को नहीं मानती सारे संबंध पूँजी के सामने हेय है। कार्ल मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद में डॉक्टर, वकील और अध्यापक जैसे पवित्र पेशे भी बिकने लग जाएँगे। आज पैसा कुछ भी खरीदने की स्थिति में है, उसके सब गुलाम हैं।

कन्या भ्रूणहत्या

पूँजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति वस्तु में तब्दील हो गया है। जिस चीज़ का बाज़ार में ज़्यादा मोल है, लोगों की इच्छा को उसकी तरफ मोड़ दिया जाता है। आधुनिक और शिक्षित लोग भी लड़की से भी लड़के की कामना करता है। लड़की पैदा होने से उसके विवाह और दहेज में बहुत पैसा खर्च करना पड़ता है। इसलिए कन्या जन्म से छुटकारा पाने के लिए पेट में पल रहे भ्रूण की जांच करके कन्या-भ्रूण की हत्या करने का जघन्य कार्य किया जाता है। वैज्ञानिकों ने यह व्यक्त किया है कि माँ की कोख में पलनेवाला भ्रूण एक व्यक्ति है, वस्तु नहीं। लेकिन पूँजीवाद के इस दौर में माँ-बाप को भ्रूण हत्या पाप नहीं लगती।

'कठगुलाब' उपन्यास में इर्विंग मारियान का गर्भपात कराता है। "इर्विंग शुरू से ही बच्चा पैदा करने के खिलाफ था। उसका कहना था, एक महान साहित्यिक रचना के सामने, बच्चा क्या चीज़ है, एकदम तुच्छ, नगण्य, डिसपेंसेबल।"[1]

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 78

मारियान एबॉर्शन कराने के बाद पाँच साल तक दुबारा गर्भवती नहीं हुई। एक पुरुष डॉक्टर ने कहा - "दिस इज द रिवेंज ऑफ द वूम्ब (गर्भराय का प्रतिशोध है यह)।"[1] मरियान की दूसरी डाक्टर औरत थी। उसने कहा - "हमारे सर्वेक्षण इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हैबियुअल गर्भपात की बीमारी, ज्यादात्तर कामकाजी और खासकर फेमिनिस्ट औरतों को होती है। वे काम की रैट-रेस में गर्भ को इतने दिनों तक सूना रखती हैं कि उसे आज़ाद रहने की आदत पड़ जाती है। पर अचानक, मन चाहते पर, उसे दुबारा 'कन्फाइन' होने पर मज़बूर नहीं किया जा सकता।"[2]

बहुत से कामकाजी औरतें अपने प्रोफ़शन के लिए गर्भधारण में देरी करती है या गर्भपात करती है और इसके बाद गर्भवती नहीं होती।

स्त्री सिर्फ देह नहीं

पूँजीवाद स्त्री को सिर्फ देह मानकर उसे पण्यवस्तु माना है। स्त्री देह को भूमंडलीकरण और उदारीकरण ने बाज़ारवाद का प्रमुख अंग बना दिया है, इसीलिए उसकी देह को भी बाज़ारू बना दिया गया है - "बाज़ार किसी को नहीं छोड़ता, जब भूमंडलीकरण की चकाचौंध में युवतियों ने कहा कि 'हमारी देह है, हम जैसे चाहे उपयोग करें' तब बाज़ार ने कहा, 'देह आपकी है लेकिन अच्छे दामों पर बेचेंगे हम।' और उसने उसे बेचकर भी मुनाफा कमाना शुरू कर दिया।"[3] ऐंगेल्स के अनुसार सामंती समाज में स्त्री स्वतंत्र होती है केवल वेश्या बनकर। इसलिए कि

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 105
2. वही, पृ. 105
3. हिन्दी में भूमंडलीकरण का प्रभाव और प्रतिरोध, सूरज पालीवाल, पृ. 25

वह अपने को बेच तो सकती है। गृहस्थ स्त्री तो अपने को बेच भी नहीं सकती, वह पूरी तरह से दासी होती है। लेकिन पूँजीवादी समाज में नारी वेश्या बनकर भी स्वतंत्र नहीं होती, क्यों कि यहाँ वह खुद अपने को बेचने के लिए स्वतंत्र नहीं है। उसे दूसरे बेचते हैं। दूसरे उसे अपने मुनाफे के लिए बेचते हैं। पूँजीवादी समाज में कॉल गर्ल्स का व्यापार बडे पैमाने पर चलता है। कॉल-गर्ल्स को खरीदने के लिए 'वेब-साइटस' है। लड़की के रूप रंग, कद, वज़न आदि के संबंध में बात करके उचित लड़की को चुनने पर उसे सप्लाई कर दी जाती है। बिज़नेस डील्स में कॉल-गर्ल्स का यह धंधा बराबर चलता रहता है। यह पूँजीवादी सभ्यता का एक अंग हो गया है। इसमें मनुष्यता बिल्कुल नहीं है। विज्ञापन और फिल्मी दुनिया में ये बहुत चलता है।

'एक ज़मीन अपनी' में नीता मैथ्यू को अपना शरीर बेचने के लिए तैयार होती है। वह अंकिता से कहती है - "मैंने मैथ्यू से कहा था, डोंट वरी, मुझे रख लीजिए। मेरे साथ वो वर्जनाएं नहीं हैं जो अंकिता के साथ है। सच तो यह है अंकू ! मैं जिन्दगी में जो कुछ हासिल करना चाहती हूँ उसे तुम्हारी तर्ज पर चलकर कोई लड़की हासिल नहीं कर सकती...."[1]

अंकिता स्त्री को सिर्फ देह मानने के लिए तैयार नहीं है। कम कपडों में अभिनय करने के खिलाफ अंकिता नीता से कहती है -"....तुम खूबसूरत हो, सेक्सी हो, यह कपड़ों के बावजूद छिप नहीं पाता.... ज़रूरी है रातोंरात नंबर बन

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 35

का दर्जा हासिल करने के लिए वह सब करना जो एक स्त्री के लिए ही नहीं, संपूर्ण स्त्री समाज के लिए अशोभनीय और लज्जा का विषय है? किन जीवन-मूल्यों को जीना चाहती है तुम? किनकी वकालत कपड़े उतारकर कर रही हो तुम?"[1]

भूमंडलीकरण एक नए प्रकार के उपनिवेश की प्रक्रिया है। भूमंडलीकरण में जो महिलाएँ सबसे ज़्यादा अपने को स्वतंत्र मानती हैं, वहीं सब से ज़्यादा आत्महत्याएँ करती है। नीता भी अंत में नींद की गोलियाँ खाकर आत्महत्या कर लेती है।

'मुझे चाँद चाहिए' में वर्षा वशिष्ठ फिल्मी दुनिया में आकर उन असंभव ऊँचाइयों को भी छू लेती है जो किसी सामान्य युवती के लिए कठिन है। लेकिन सब कुछ पा लेने के चक्कर में वह सर्वस्व खो देती है। अंत में वह बिल्कुल अकेली रह जाती है। आज के नवउपनिवेशकालीन समाज में स्त्री पर बलात्कार की वार्ताएँ बहुत अधिक रिपोर्ट की जा रही हैं। एक वर्ष से भी कम बच्चों से लेकर अस्सी साल की बूढियों तक बलात्कार का शिकार बन रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि बलात्कारी के लिए स्त्री की योनि सिर्फ एक अंग है। यह निश्चय ही स्त्री का अवमूल्यन है, उसका वस्तुकरण है। यह पूँजीवादी संस्कार का उग्र रूप है। स्त्री की गरिमा का सम्मान न किए जाने के कारण, वह कहीं भी सुरक्षित नहीं है। न घर में, न समाज में, न काम की जगह में।

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 114

'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रिया बचपन से ही किसी न किसी रूप में शोषित होती रही है। नौ वर्ष की आयु में ही वह अपने बडे भाई की वासना का शिकार बन जाती है, जिससे वह लगातार सहमी और डरी सी रहने लगती है। बाद में वह बोल्ड हो जाती है और अपने भाई से ऊपर से कूदकर आत्महत्या करने की धमकी देती है। वह उसे वादा भी करवाता है कि आगे ऐसा कोई काम नहीं करेगा।

बचपन की इस घटना के बाद उसे कॉलेज में भी अपने ही एक प्रोफसर के द्वारा वासना का शिकार होना पड़ता है, लेकिन समय वे साथ-साथ उसका साहस शोषक शक्तियों के लिए चुनौती बन जाता है। वह अपने घरवालों के विरुद्ध जाकर अपनी पढ़ाई को पूरा करती है। वह अपनी भाभी और अम्मा की तरह शिक्षित होकर भी घुटन भरी जिन्दगी जीना नहीं चाहती है, क्योंकि उसके कॉलेज के प्रोफसर चैटर्जी ने उसे सिखाया था कि स्त्री होना कोई अपराध नहीं है, पर नारीत्व की आँसू भरी नियति स्वीकारना बहुत बड़ा अपराध है।[1]

शादी के पश्चात प्रिया अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने स्वार्थी कामुक पति को उसे छूने भी नहीं देता है। पार्टी के लिए तैयार होकर निकलनेवाली प्रिया को वापस कमरे में घसीट लेकर नरेन्द्र कहता है - "प्रिया, नहीं, तुम मेरी चीज़ हो... लोग इतनी अच्छी चीज़ को देखकर लार टपकाएँ, इसके पहले मुझे स्वाद चखने दो।" पत्नी को अपनी चीज़ माननेवाले पति का विरोध करती हुई प्रिया कहती है - "छिः नरेन्द्र, मेरा मन नहीं करता।"

---

1. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 116

'कठगुलाब' की स्मिता अपने जीजा के द्वारा क्रूर बलात्कार का शिकार बन जाता है। अनाथ और विवश स्मिता का संरक्षण करने के बजाय जीजा उसे देह समझकर उसका इस्तेमाल करता है। स्मिता कहती है - "उस बात को भूल जाना उतना आसान नहीं था। हर रात बिस्तर पर लेटते ही क्रोध का दावानल मेरे भीतर धधक उठता। मुझे उन सबकी हत्या कर डालने पर उक्साना, जिन्होंने मेरी अवमानना में हिस्सा लिया था। जीजा की, नमिता की, उन तमाम मर्दों की, जो मुझे देखने आते रहे थे, उस औरत की जिसने मेरे बाल खींच खींचकर सीधे किए थे।"[1]

'इदन्नमम' उपन्यास में मंदाकिनी कैलास मास्टर द्वारा बलात्कार किए जाने पर कुसुमा भाभी उसे समझाती है - "बिन्नू, अपने मन में तनिक भी भय मत लाना। झिझक-हिचक में मत रहना। जो हुआ उसे भूल जाना। डर मत मानना कभी। ज़िन्दगानी में, इतनी बडी ज़िन्दगी में अच्छा बुरा घट जाता है बिटिया, उसके कारन मन में गाँठ लगाने से क्या फायदा? जो तुमने किया ही नहीं, उसके लिए अपने को दोसी क्यों मानना? उस कुकरम की भागीदार, मन्दा, तुम तो बिल्कुल नहीं।..."[2]

'कोई भी औरत, चाहे वह पढ़ी-लिखी हो या फिर अनपढ़, निडर हो या डरपोक, अपने साथ हुई इस अमानवीय घटना से मानसिक रूप से कभी मुक्त नहीं हो पाती। एक हीन भावना उसके मन में घर कर जाती है, क्योंकि शताब्दियों से औरत और उसकी अस्मिता की चर्चे इतने बडे पैमाने पर होते आए है कि वह

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 24
2. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 94

उसको औरत के पवित्र व्यक्तित्व की सबसे बड़ी कसौटी समझती है। इस दर्द को जो औरत सहती है, उसका अनुमान लगाना बहुत मुश्किल है। पीड़िता को ही अपराधी और तुच्छ समझनेवाले लोगों का नज़रिया बदलना चाहिए।"[1]

'कठगुलाब' की असीमा के पिताजी जब माँ को छोड़कर बंबई में दूसरा घर बसा लेता है तब माँ ने न रोना-धोना मचाया, न गाली-गुफ्तार की। न तलाक माँगा, न जेब-खर्च। उसने सीना-पिरोना करके बच्चों को पालना शुरू कर दिया। माँ ने कहा - "मुझे मर्दों से नफरत नहीं है। ज़रूरी नहीं कि सब मर्दों की ख्वाहिशें एक जैसी हो। मुझे मात्र शरीर बनकर जीना पसन्द नहीं था और मैं दया का पात्र भी नहीं बनना चाहती थी।"[2]

शाल्मली का पति नरेश उसे सिर्फ भोग की वस्तु मानता है। वह कहता है - "तुम जानना चाहोगी पुरुष की दृष्टि में औरत क्या है? भोगने की वस्तु... वही उसकी पहचान है। इसलिए तुम औरत की तरह रहो, इसी में तुम्हारा उद्धार है और इस घर का कल्याण और गृहस्थी का सुख।"[3] नरेश की बात को सुनकर शाल्मली को ऐसा महसूस हुआ कि किसी ने उसके सारे बदन में आग लगा दी हो। क्रोध का गर्म लावा उसकी शिराओं में उफनने लगा और वह किसी जंगली बिल्ली की तरह नाखूनों और दाँतों से नरेश को नोच डाला। स्त्री को इतनी गिरी दृष्टि से देखना शाल्मली को सहन नहीं हो पाता है।

---

1. औरत के लिए औरत, नासिरा शर्मा, पृ. 82
2. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 170
3. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 128

स्त्री अपने आप को सिर्फ देह मानने के लिए तैयार नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था ने ही उसे व्यक्ति से वस्तु में बदला दिया। स्त्री इसका सशक्त विरोध करती है और समान में पूरी गरिमा के साथ अपनी अस्मिता को बनाए रखने की कोशिश करती हैं।

स्त्री प्रताडन

भारतीय समाज में पति द्वारा पत्नी की पिटाई आम बात होती जा रही है। अनपढ और निम्न श्रेणी के लोगों के बीच स्त्री प्रताड़ना ज़्यादा दिखाई पड़ता है। इसका कारण शायद अज्ञान और अभाव रहता है। वे खुलेआम भी पत्नी की पिटाई करते हैं। परिवार और समाज के लोग बीच-बचाव करते हैं। ज़्यादातर स्त्रियाँ यह प्रताड़ना सहती है, लेकिन कुछ स्त्रियाँ पतियों को छोड़ भी जाती हैं। उच्च-मध्यवर्ग में स्त्री प्रताडन अशोभनीय माना जाता है। इसलिए किसी घर में पत्नी पीटी भी जाती है तो वह उसे छुपाकर रखती है। अगर प्रताडन असहनीय बन जाता तो वह घरवालों को बताती है।

आज हमारे समाज में पढ़े-लिखे पति-पत्नियों की संख्या बढ़ी है। पढ़ी-लिखी और कामकाजी पत्नियाँ भी पतियों से पिटाई खाती हैं। इसका कारण शायद यह है कि घरों में पति-पत्नी ही है। उनके माँ-बाप या भाई-बहिन नहीं है। ऐसी स्थिति में पति और पत्नी निरंकुश होते जा रहे हैं। झगडा होने पर बीच-बचाव करनेवाला कोई नहीं।

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों का विवेचन करने पर हम देखते हैं कि हर काल में स्त्री प्रताडित होती है। पितृसत्तात्मक सामंतवादी व्यवस्था में पुरुष स्वामी और स्त्री दासी समझी जाती थी। आज स्त्री का सम्मान करने की बात और स्त्री-पुरुष का समान अधिकार होने की बात मीड़िया द्वारा भी संप्रेषित किया जाता है लेकिन शरम की बात है कि पत्नी पति द्वारा प्रताडित रहती है। घरेलू हिंसा रोकने के लिए कानून बनाया गया है। फिर भी स्त्री प्रताड़न का अंत नहीं हुआ है।

उपनिवेशकालीन उपन्यासों में स्त्री प्रताड़न का विरोध नहीं कर पाती है। समाज उसे सबकुछ सहने की शिक्षा देता है।

जैनेन्द्र के 'कल्याणी' उपन्यास मे पढी-लिखी और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होने पर भी कल्याणी घर और बाहर सार्वजनिक स्थानों पर पति द्वारा अकारण पीटे जाने को बहुत से सहजता से स्वीकार करती है। वह मानती है कि पति परमेश्वर है, उसे पत्नी को पीटने का अधिकार है।

'त्यागपत्र' उपन्यास में मृणाल को पहले उसकी भाभी शीला के भाई से प्रेम करने के कारण बुरी तरह पीटा जाता है। मृणाल उसको मौन होकर सह लेती है। बाद में अपने पति से पूर्व प्रेम के संबंध में बताने पर वह पति द्वारा प्रताडित किया जाता है और घर से निकाल दिया जाता है। वह अपने भाई के पास आश्रय लेने आती है लेकिन भाई उसे वापस भेज देता है। वह पुनः अत्याचारी के घर जाने को विवश होता है।

नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में स्त्री प्रताड़न को चुपचाप सहती नहीं, वह उसका प्रतिरोध करती है - 'चाक' उपन्यास में रंजीत ने सारंग को खूब पीटा तो चंदन बाप की टाँगों से लिपटकर मत मारने के लिए कहने लगा। उस समय सारंग ने कहा - "बेटा तू अलग हट जा। मत छुए इस आदमी को यह तेरा बाप नहीं, इस गाँव का राजा बनने जा रहा है। फत्ते प्रधानी सौंप रहा है, सो रौब अजमाना सीख रहे है, अपनी औरत पर।"[1]

'कठगुलाब' उपन्यास में एक बार जिम ने एक बेल्ट लेकर स्मिता पर वार किया तो स्मिता ने भी उसे नीचे पटककर उस पर वार किया और शरण लेने के लिए 'रॉ' (रिलीफ फॉर अब्यूज़्ड विमेन) चली गई। वहाँ उसने जिम से प्रतिकार लेने का निश्चय किया।

किसी भी परिस्थिति में पति को पत्नी पर हाथ उठाने का अधिकार नहीं है। 'पति को अपनी पत्नी से अपनी देह के समान प्रेम रखना है। जो अपनी पत्नी से प्रेम रखता है, वह अपने आप से प्रेम रखता है, क्योंकि किसी ने कभी अपने शरीर से वैर नहीं रखा वरन् उसका पालन-पोषण करता है, जैसा मसीह भी कलीसिया के साथ करता है।'[2] 'ऐसा नहीं कि पत्नी की पिटाई करनेवाला पति पछताता नहीं होगा। पर उसका पछताना ही काफी नहीं है। सच तो यह है कि पत्नी को चोट लगे या न लगे किंतु उसकी मानहानि ज़रूर होती है। पति से पिटाई खाने

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 166
2. इफिसियों 5:28-29, बाइबिल

पर उसका मन टूटता है इसलिए आवश्यक है कि पति द्वारा पत्नी के पिटे जाने की नौबत ही न आए।'[1]

छोटा परिवार, सुखी परिवार

पूँजीवादी समाज के परिवार का आदर्श है, छोटा परिवार, सुखी परिवार। यह सुनने में बहुत अच्छा लगता है, लेकिन क्या यह सचमुच अच्छा है। यह संतति-निरोध के लिए तो ठीक है लेकिन इससे समस्या का हल नहीं होता है। पूँजीवादी समाज में, जहाँ बच्चों की संख्या बहुत कम है, तलाक सबसे ज़्यादा होता है। क्या यह सुखी परिवार की निशानी है? मनुष्य सुखी होता है जब परिवार में पति, पत्नी, बच्चे, बूढे माँ-बाप सब सहयोग के साथ रहते हैं। पूँजीवाद इसके खिलाफ है। वह मनुष्य को अकेला बनाता है और परिवार अकेलेपन के आदर्श पर बनाएँगे तो परिवार चलेगा कैसे? पूँजीवादी संस्कृति के अनुसार जब चाहे शादी कर सकते हैं और जब चाहे तलाक ले सकते हैं। इससे बच्चों का क्या होगा? बूढे माँ-बाप के क्या होंगे? बच्चे परमेश्वर के दिए हुए भाग्य हैं, गर्भ का फल उसकी ओर से प्रतिफल है। ऐसे माननेवालों की संख्या कम होती जा रही हैं।

पूँजीवाद ने ऐसा चाल चलाया कि लोगों को विश्वास हो गया कि ज़्यादा बच्चे होने से ज़्यादा पैसे खर्च होंगे और परिवार का सुख नष्ट हो जाएगा। लेकिन इसमें कोई सच्चाई महसूस नहीं होती क्योंकि कम बच्चेवाले परिवारों में भी तलाक

---

1. नारी न कठपुतली, न उडनपरी, मृदुला सिन्हा, पृ. 80

होता है और सारा सुख नष्ट होता हुआ दिखाई पड़ता है। उपनिवेशकालीन परिवारों में नवउपनिवेशकालीन परिवारों की तुलना में बच्चों की संख्या बहुत अधिक था। फिर भी वहाँ पारिवारिक विघटन नहीं के बराबर था।

'आपका बंटी' उपन्यास में शकुन और अजय का एक ही बच्चा था बंटी। फिर भी वे सुखी जीवन नहीं बिता सके। स्वार्थ को छोडकर आपस में प्रेम और सम्मान के साथ जीने से ही परिवार में सुख और शांति हो सकती है। बच्चों के ठीक तरह से पालन-पोषण हो सकेंगे और खुद भी सुखी रह पाएँगे।

'छिन्नमस्ता' में प्रिया अपने परिवार और व्यवसाय में संतुलन नहीं रख पाई। अपने इकलौते बेटे का भी वह अच्छी तरह से देखभाल नहीं कर सकी। पति-पत्नी के स्वार्थ और अहं के कारण उनका दांपत्य जीवन भी पराजित हो गया। ऐसी स्थिति में परिवार में सुख की कोई उम्मीद नहीं।

'नरेन्द्र ने प्रिया से घर से निकलने को कहा तो वह फूट-फूट कर रो पड़ी। ज़मीन पर सर पटक दी। अपने ही बाल नोंचने लगी, चप्पलों से सर पीटने लगी। शायद उस दिन उसके भीतर एक दस साल की रोती हुई लड़की आखिरी बार सुरक्षा के लिए अपने पति की व्यवस्था माँग रही थी।'[1]

आज की पूँजीवादी व्यवस्था के मुताबिक स्त्री परिवार को नकारकर अपने प्रोफशन के पीछे भागती है, लेकिन उसे जीवन का यथार्थ सुख नहीं मिलता है। प्रोफशन में कामयाबी पाकर भी वह बहुत कुछ खो देती है।

---

1. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 167

प्रेमचंद के 'निर्मला' उपन्यास में निर्मला की माँ कल्याणी संयुक्त परिवार में रहती हुई, अपने पति से निरादर और अपमान, बच्चों के खातिर सहने के लिए तैयार होती है।

'कल्याणी के मन में संकल्प-विकल्प होने लगे। पति की बातें याद आती तो मन होता, घर को तिलांजलि देकर चली जाऊँ। लेकिन बच्चों का मुँह देखती, तो वात्सल्य से चित्त गद्‌गद् हो जाता। बच्चों को किस पर छोड़कर चली जाऊँ?....तुम्हारे लिए सब कुछ सह लूँगी। निरादर-अपमान, जली-कटी, खोटी-खरी, घुडकी-झिड़की सब तुम्हारे लिए सहूँगी।'[1]

आज संयुक्त परिवार के स्थान पर ज़्यादातर एकल परिवार ही है। एकल परिवार में पति, पत्नी और एक या दो बच्चे ही होते हैं। पति-पत्नी के बीच कोई मन-मुटाव होने पर उन्हें समझाने के लिए बूढे माँ-बाप या भाई-बहिन नहीं है। इससे पति-पत्नी के बीच दूरी बढ़ती जाती है और अंत में तलाक में परिणत होता है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते हैं कि छोटा परिवार सुखी परिवार है। जिस परिवार में स्त्री का सम्मान किया जाता है, वहीं सुखी परिवार हो सकता है।

वैवाहिक व्यवस्था का विरोध

विवाह एक पवित्र संस्था है जिसमें पति-पत्नी प्रेम संबंध से बंधे हुए हैं। वैवाहिक जीवन सुख-दुख मिश्रित है। जहाँ प्यार और विश्वास है, वहाँ सुरक्षा भी

---

1. निर्मला, प्रेमचंद, पृ. 12

है। लेकिन आज की ज़्यादातर युवा पीढ़ी वैवाहिक व्यवस्था में विश्वास नहीं करती है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से और माता-पिता के गलत आदर्शों के कारण वे विवाह से कतराते हैं। पाश्चात्य देशों में युवक और चुवतियाँ बिना विवाह किए साथ-साथ रहते हैं। वहाँ विवाह की अनिवार्यता नहीं है।

उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'पचपन खंभे लाल दीवारें' की सुषमा का स्पष्ट मत है कि - "जीवन में बहुत महत्वपूर्ण काम है, सिर्फ विवाह ही तो नहीं। और देशों में देखिए, बिना शादी किये ही औरतें कैसे मज़े से रहती हैं।"[1] उषा प्रियंवदा के 'रुकोगी नहीं राधिका' उपन्यास में राधिका एक अमेरिकी पत्रकार डेनियल पीटरसन के साथ अमेरिका चली जाती है और उसके साथ एक वर्ष तक अविवाहित रूप में रहती है। पाश्चात्य कटु अनुभव के परिणामस्वरूप भारत लौटने पर वह निर्णय लेती है कि अब वह 'प्ले बॉय' की सभ्यता से दूर रहेगी।

'एक ज़मीन अपनी' की नीता शादी की व्यवस्था के विरुद्ध है। उसने तीखे होकर कहा - "सुधीर शादी शुदा है, दो बच्चों का पिता है, उसकी पत्नी है तो क्या?..... पत्नी.... या मात्र एक व्यवस्था? माता-पिता द्वारा सौंपी गई व्यवस्था। जो उन्हें सास-ससुर बनने के संतोष से ही नहीं पूरती तथाकथित कौडबिक और उसके सामाजिक दायित्व से भी उऋण करती है। जितनी खोखली रीति-नीति उतनी ही आडंबर-पूर्ती उसकी महत्ता! ऊपर से पुष्ट, भीतर से पोली। सात फेरों के स्वांग में रची-बसी।"[2]

---

1. पचपन खंभे लाल दीवारें, उषा प्रियंवदा, पृ. 10
2. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 198

'कठगुलाब' की नीरजा विवाह इसलिए नहीं करना चाहती थी, क्योंकि उसके लिए विवाह का अर्थ रहा था, युद्धस्थल। "मेरे माँ-बाप एक दूसरे को दुख पहुँचाने के नये-नये तरीके ईजाद करने में माहिर थे। माँ को पापा ने जो तकलीफें दी थीं, उनकी मैं चश्मदीदी गवाह नहीं थी। बहुत कुछ मेरे जन्म से पहले या फौरन बाद घट चुका था। पर माँ के मुँह से उनका बखान इतनी कम उम्र से सुनती आई थी कि यह फर्क करना नामुमकिन था कि उसमें से कितना मेरा देखा हुआ है और कितना मात्र सुना हुआ।"[1]

विपिन ने स्मिता से कहा - "विवाह से मेरी भी विशेष आस्था नहीं है और नीरजा उससे इतना खौफ खाती है कि ज़ोर देने से मानेगी नहीं। आप जानती होगी, उनके माँ-बाप के सम्बन्धों की कटुता ने उसके मन में विवाह के लिए नफरत पैदा कर दी है।"[2]

विपिन का अनुभव नीरजा से ठीक उल्टा था। उसकी माँ पिता से इतना प्रेम करती थी कि पिता की मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व मिट गया और विपिन को विवाह से डर लगने लगा। विपिन शादी के संबंध में कहता है - "वह ऐसी व्यवस्था है, जो एक इन्सान को दूसरे पर इस कदर निर्भर बना देती है, कि खुद अपनी ज़िन्दगी पर उसका कोई अख्तियार नहीं रहता। उसके नाम से ही उसके बहन में चींटियाँ काटने लगती हैं।"[3] कठगुलाब की असीमा भी विवाह के खिलाफ

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 229
2. वही, पृ. 233
3. वही, पृ. 194

है क्यों कि उसे मर्दों से नफरत है। उसके अनुसार सब एक-से-एक बढ़कर हरामी होते हैं। सबसे बड़ा हरामी उसका बाप था। उसने माँ को छोड़कर दूसरी स्त्री के साथ घर बसा लिया था।

नवउपनिवेशकालीन स्त्री विवाह में आस्था नहीं रखता है। एक ही आदमी के अधीन जीव-पर्यन्त जीने के लिए वह तैयार नहीं है। बच्चे पैदा करने और उनका पालन-पोषण करने में भी उसे कोई दिलचस्पी नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारे देश की स्थिति क्या होगी? लेकिन समकालीन उपन्यासों में घर की ओर वापसी का स्वर और बुलंद होने लगा।

स्त्री के विविध रूप और उनकी अस्मिता

1. बेटी

उपनिवेशकाल के बेटी को पराए घर का धन मानकर उसे आठ-नौ बरस में शादी करा दी जाने की रीति थी। उपनिवेशकालीन उपन्यासकारों ने स्त्री शिक्षा के महत्व को बताकर तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ अपनी लेखनी चलाई थी। भाग्यवती के माँ-बाप उसे खूब शिक्षा देते हैं और बेटी का विवाह ग्यारह वर्ष से पहले श्रेष्ठ नहीं मानते थे। वे बेटा-बेटी के भेद नहीं मानते थे।

प्रेमचंद के 'सेवासदन' में दारोगा कृष्णचन्द्र की बेटी सुमन तथा 'निर्मला' में बाबू उदयभानु लाल की बेटी निर्मला के दहेज न दे पाने के कारण उनकी इच्छा के विरुद्ध विवाह करा दिया जाता है। अनमेल विवाह करने से दोनों के जीवन बर्बाद हो जाते हैं।

प्रेमचंदकालीन उपन्यासों में बेटियाँ अपने माँ-बाप की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं करती थीं। निराला के 'निरुपमा' उपन्यास में पहले निरुपमा अपने घरवालों से कुछ नहीं कह सकती थी - "अंग्रेज़ी पढ़ने पर भी, प्राचीन विचारों की महिलाओं में रहने के कारण निरुपमा हिन्दू संस्कारों में ही ढली है। भाई तथा अपर स्त्रियों का निश्चय ही उसका निश्चय है।"[1] बाद में वह खुद सोच-समझकर अपनी मर्जी का वर चुन लेती है। यहाँ स्त्री का जागरण हम देख सकते हैं।

यशपाल की दिव्या बहुत ही धैर्यपूर्वक अपने पिता से कहती है - "तात और संपूर्ण प्रासाद जान ले। आर्य पृथुसेन के अतिरिक्त मैं किसी से विवाह नहीं करूँगी।

यशपाल की अमिता उपन्यास में अमिता की दासी हिता की माँ प्रौढ़ा वापी बेटी को समझाती है - "....तू राजकुल की दासी है, स्वतंत्र नारी नहीं है। ये प्रेम और प्रणय की उच्छृंखलता दासी को शोभा नहीं देती। कुल कन्याओं को विवाह के जिसे सौंप दिया जाये, उसी से प्रेम करना होता है। दासी को जो क्रय कर ले, उसी की सेवा दासी का धर्म है। दासी की बेटी का काम आज्ञा-पालन और सेवा है, प्रेम नहीं।"[2]

'चाक' उपन्यास में बूढ़ी खेरापतिन दादी का मानना है कि - "जो माता बेटी जनती है, उसकी साँसे मरते दम तक काँटों में उलझी रहती है। आत्मा शूलों

---

1. निरुपमा, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, पृ. 16
2. अमिता, यशपाल, पृ. 49

से बिंधी घिसटती रहती है। जिंदगी सूली पर टँगी रहती है। लोकाचार और जगत-व्यवहार में आनेवाली परम्पराएँ सारे अपयश की गठरी बेटी के सिर धरकर न जाने उसे कब संगीन से संगीन सजा देने की हिमायती हो उठें? दादी के आखरों का सार यही है - बेटी की मइया सुख की नींद खोई है कभी?"[1]

गाँवों में आज भी बेटी का जन्म शुभ नहीं माना जाता है। लोगों का विचार है कि बेटी को जन्म देनेवाली माँ कभी सुख की नींद सो नहीं सकती।

उषा प्रियंवदा के 'पचपन' खंभे लाल दीवारें में अपने परिवार के लिए अपना जीवन होम करनेवाली बेटी सुषमा को देखा जा सकता है। उन्हीं के उपन्यास 'रुकेगी नहीं राधिका' में अपने व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के लिए पापा से विद्रोह करनेवाली बेटी राधिका कहती है - "जो आप चाहते हैं, वही हमेशा क्यों हो? क्या मेरी इच्छा कुछ भी नहीं है? मैं आपकी बेटी हूँ, यह ठीक है पर अब मैं बडी हो चुकी हूँ और मैं जो चाहूँगी वही करूँगी।"[2]

गीतांजलिश्री की 'माई' उपन्यास में माई की बेटी सुनैना अपने बाबूजी की इच्छा के विरुद्ध बाहर पढने के लिए जाती है। उसे भाई सुबोध उसका साथ देता है। 'छिन्नमस्ता' में प्रिया की माँ अपनी बेटी से चिढती है क्यों कि वह सोचती है कि उसकी शारीरिक अस्वस्थता का कारण प्रिया है। माँ बाबूजी से कहती है - "क्या

---

1. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 10
2. रुकोगी नही राधिका, उषा प्रियंवदा, पृ. 9

करूँ, मुझे नहीं सुहाती यह। जबसे जनमी है, मेरा तो शरीर ही टूट गया। खाट पकड़ ली मैंने।"[1]

शाल्मली अपने माँ-बाप की इकलौटी बेटी है। माँ-बाप की सेवा करना उसका फर्ज़ है, लेकिन वह कुछ भी नहीं कर पा रही है। उसका मन अपराधबोध से भर जाती है। वह चाहते हुए भी अपने मायके नहीं रह सकती क्योंकि उसके पति नरेश को यह अच्छा नहीं लगता है। शाल्मली सोचती है - "आधी रात को माँ या पिताजी को अगर किसी की ज़रूरत पड़ी, तो वह किसे पुकारेंगे? उसे उन्होंने किस लिए पाला-पोसा और जन्म दिया, केवल अपने सुख के लिए? मान लो, यदि उनका कर्तव्य था, वो उसका कर्तव्य उनके प्रति क्यों नहीं है, केवल इसलिए कि वह लड़की है? लड़की अपने माँ-पिता को अपने घर लाकर नहीं रख सकती है, बुढ़ापे में उनकी सेवा सास न ससुर की तरह नहीं कर सकती है, आखिर क्यों? लड़की स्वयं निर्दयी होती है या समाज के नियम? क्या समाज में उनके लिए कोई नियम नहीं बनाया, जिन्होंने बेटों को जन्म नहीं दिया, वे कहाँ जाएँ?"[2]

शाल्मली के पिताजी चाहते थे कि उनकी बेटी ससुराल में भी राज करें, अपने पैरों पर खडी हो जाए। लेकिन अब वे हताश होकर कहते हैं कि अब हमारे शालू पर क्या अधिकार। नवउपनिवेशकाल में बेटी शिक्षित है, स्वावलंबी है, अबला नहीं, सबला है, फिर भी वह परतंत्र है, गुलाम है।

---

1. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 28
2. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 96

पत्नी

मानव सभ्यता के आदि काल से पत्नी के धर्म और मर्यादा का महत्व स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार पुरुष के लिए एक पत्नी-व्रत की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है, उसी प्रकार पातिव्रत्य को पत्नी का परम धर्म माना गया है। वेद, पुराण और शास्त्रों में पत्नी के पातिव्रत्य का नाना प्रकार से बखान किया गया है। पत्नी पति की शक्ति है, उसका गर्व है। अपनी योग्यता, कुशलता और सेवा से दाम्पत्य जीवन को निरन्तर सुचारू रूप से चलाना पत्नी का धर्म है।

महादेवी वर्मा कहती है कि हमारे यहाँ असंख्य पत्नियाँ हैं, परन्तु जीवन की प्रत्येक दशा में साथ देनेवाली, अपने जीवन-संगी के हृदय के रहस्यमय कोने-कोने से परिचित सौभाग्य-गर्विता सहधर्मचारिणियों की संख्या उँगलियों पर गिनने योग्य हैं।[1] पुरुष के समान बनने के परिश्रम में 'आज की विद्रोहशील नारी व्यावहारिक जीवन में अधिक कठोर, घर में अधिक निर्मम, आर्थिक दृष्टि से अधिक स्वाधीन और सामाजिक क्षेत्र में अधिक स्वच्छंद बन गई है।"[2]

उपनिवेशकालीन उपन्यास लिखने का लक्ष्य ही स्त्री को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने और उन्हें पतिव्रता नारियाँ बनाना था। वामा शिक्षक में पत्नी का धर्म बताया गया है - 'पुरुषों का पद भगवान ने स्त्रियों से बडा रखा है - शास्त्र में लिखा है कि जहाँ तक हो सके स्त्रियाँ अपने पुरुषों की टहल करें और उनके अधीन रहे

---

1. श्रृंखला की कडियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 15
2. वही, पृ. 15

उनकी सम्मति के विरुद्ध काम करना अपना जन्म भ्रष्ट करना है देखो धर्मशास्त्र के 185वें श्लोक का यह तात्पर्य है कि मदिरा पान करना - खोटों की संगति पति से वियोग इधर-उधर फिरना-कुसमय सोना-दूसरे के घर रहना यह छै बातें स्त्रियों के लिए बुरी हैं स्त्रियों का बड़ा धर्म वही है कि अपने पुरुष के कहने में चलें किसी बात में उनसे हठ न करें - यह भी लिखा है जहाँ तक हो सके अपने पुरुष की टहल करें यही स्त्रियों का पूजन और पाठ नित्य नियम है और धर्म है इससे स्त्रियों को बैकुंठ प्राप्त होता है"[1]

सीताराम अपनी पत्नी से प्रसन्न होकर कहता है - "जब मैं किसी के मुँह से तुम्हारी बड़ाई और उपमा सुन्ता हूँ तो मैं प्रसन्न होता हूँ और जब से लालाजी ने तुम्हारी प्रशंसा की है मैं बहुत ही मग्न हूँ और जब तक मेरे माँ बाप तुमसे प्रसन्न रहेंगे मैं भी तुमसे प्रसन्न रहूँगा मैं जान्ता हूँ यह सब गुण तुम में पढने लिखने का है"[2]

प्रेमचंद ने 'सेवासदन' में बाल-विवाह के कारण गार्हस्थ जीवन के संबंध में बेसुध पत्नी की चर्चा की गई है - "हम अपने गार्हस्थ जीवन की ओर से कितने बेसुध है, उसके लिए किसी तैयारी, किसी शिक्षा की ज़रूरत नहीं समझते। गुड़िया खेलनेवाली बालिका, सहेलियों के साथ विहार करनेवाली युवती, गृहिणी बनने के योग्य समझी जाती है। अल्हड बछड़े के कन्धे पर भारी जुआ रख दिया जाता है। ऐसी दशा में यदि हमारा गार्हस्थ जीवन आनन्दमय न हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।"[3]

---

1. वामा शिक्षक, मुंशी ईश्वरीचंद, मुंशी कल्याणराय, पृ. 50
2. वही, पृ. 57
3. सेवासदन, प्रमचंद, पृ. 19

'गबन' की जालपा में एक अच्छी पत्नी का लक्षण हम देख सकते हैं। जालपा अपने पति की गलती का साथ नहीं देती है। वह अपने पति को सुधारने के लिए अपनी ओर से सबकुछ करती है - "मैं यह किसी तरह नहीं बरदाश्त कर सकती कि वह अपने स्वार्थ के लिए झूठी गवाही दे। अगर उन्होंने खुद अपना बयान न बदला, तो मैं अदालत में जाकर सारा कच्चा चिठ्ठा खोल दूँगी, चाहे नतीजा कुछ भी हो। वह हमेशा के लिए मुझे त्याग दें, मेरी सूरत ना देखें, यह मुझे मंज़ूर है, पर यह नहीं हो सकता कि वह इतना बड़ा कलंक माथे पर लगावें।"[1] जैनेन्द्र की कल्याणी सोचती है कि अंग्रेज़ी पढ़ी, मोटर चलानेवाली स्त्री सती शीलवन्ती पत्नी नहीं हो सकती है।

कल्याणी वकील की पत्नी से कहती है - "....शास्त्रों में जैसी सती शीलवन्ती भार्या लिखी है मैं वैसी कहाँ हूँ? अंग्रेज़ी पढी हूँ, मोटर चला सकती हूँ। क्या ऐसी नारी शीलवन्ती हो सकती है?"[2]

'त्यागपत्र' में मृणाल पतिव्रता स्त्री का धर्म समझाती है। वह प्रमोद से कहती है - "पति को मैंने नहीं छोड़ा। उन्होंने ही मुझे छोड़ा है। मैं स्त्री धर्म को पतिव्रत धर्म ही मानती हूँ। उसका स्वतंत्र धर्म मैं नहीं मानती। क्या पतिव्रता को यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता तब भी वह अपना भार उसपर डाले रहे? वे मुझे नहीं देखना चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आँखों के आगे से हट जाना स्वीकार

---

1. गबन, प्रेमचंद, पृ. 179
2. कल्याणी, जैनेन्द्र, पृ. 65

कर लिया। उन्होंने कहा, "मैं तेरा पति नहीं हूँ।" तब मैं किस अधिकार से अपने को उनपर डाले रहती? पतिव्रता का यह धर्म नहीं है...."[1]

'सुनीता' उपन्यास में हरिप्रसन्न सोचता है कि विवाह और पत्नीत्व ऐसी क्या वस्तु है कि स्त्री अपना नाम भी खो दे और अमुक एक पुरुष के नाम को अपने ऊपर छत्र की भाँति लेकर उसके नीचे उसकी संपत्ति हो रहे। वह अपने मित्र श्रीकांत को समझाता है - ".....आदर्श मैं भी जानता हूँ पर इससे किसी को अधिकार नहीं मिल जाता कि वह दूसरे को पीसे। नौकर तुम्हें ज़रूर रख लेना चाहिए। पत्नी दासी नहीं है।"[2] सुनीता पतिव्रता नारी है। हरिप्रसन्न उसे राष्ट्र के लिए उसका स्वत्वदान माँगता है लेकिन वह अपना स्वत्व पति की सेवा में अर्पण करना चाहती है। सुनिता के पातिव्रत्य के सामने हरिप्रसन्न लज्जित और पराजित हो जाता है। सुनीता ने हरिप्रसन्न के सामने पूर्ण रूप से वस्त्रहीन होकर यह साबित कर दिया कि स्त्री सिर्फ देह नहीं है। उस देह को पाकर उसका आग्रह समाप्त नहीं होगा।

नवउपनिवेशकालीन पत्नी अपने पति से प्यार और सम्मान चाहती है। शाल्मली पढी-लिखी है, ऊँचे ओहदेदार है, आर्थिक रूप से स्वतंत्र है, फिर भी पत्नी के रूप में उसे तिरस्कार, अपमान और घृणा ही मिलती है। शाल्मली कहती है - "मैं दूसरी औरत बनने की प्रताड़ना से घबराकर पहली औरत बनी थी, मगर धर्म-पत्नी बनकर इतना तिरस्कार, इतना अपमान, इतनी घृणा, इतना अंकुश...।

---

1. त्यागपत्र, जैनेन्द्र, पृ. 58
2. सुनीता, जैवेन्द्र, पृ. 36

यह अनुभव, यह कड़वापन मैंने कभी झेलना नहीं चाहा था। इसी प्रताड़ना के भय से मैं सब कुछ पीछे छोड़ आई थी कि समाज में सर उठाकर जीऊँगी। सर झुकाना मैंने कभी नहीं स्वीकारा था। समाज के नियम को अपनाकर और उसकी मर्यादा का पालन करके मुझे क्या मिला है? न मान, न सम्मान!"[1]

स्त्री को पत्नी के रूप में हमेशा बेडियां हैं। घर, पति, बच्चे आदि से मुक्त होकर वह कुछ भी नहीं कर सकती। अगर पति उसे सहयोग दे तो वह आसमान तक छू सकती है। लेकिन पति अपने अहं से उसे पीछे खींच लेती है। नरेन्द्र प्रिया से कहती है - ".....देखो प्रिया! जिस दिन तुमने काम शुरू किया था, उसी दिन मैंने कह भी दिया था - काम करो पर यह मत भूलो कि तुम विवाहिता हो, एक बच्चे की माँ हो, अग्रवाल हाउस की बहू हो।"[2]

'आपका बेटी' का शकुन अपने पति से समझौता न कर सकने के कारण उसे तलाक देती है। 'एक ज़मीन अपनी' की अंकिता को अपने स्वत्व का एहसास होता है। वह अपने लिए भी जीना चाहती है। इसलिए वह अपने पति सुधांशु से अलग हो जाती है।

'चाक' उपन्यास में सारंग श्रीधर मास्टर के साथ अनैतिक संबंध रखती है। अपने पति को छोड़कर किसी गैर आदमी के साथ संबंध रखने में उसे बिल्कुल अपराध बोध नहीं होता है। आधुनिक स्त्री पतिपरायणता में विश्वास नहीं रखती है।

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 112
2. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 11

नवउपनिवेशकालीन स्त्री अपने पति के प्रताड़न, घृणा और अपमान सहकर उसके पैरों तले रहना नहीं चाहती। वह पढ़ी-लिखी है, आर्थिक रूप से स्वतंत्र है, इसलिए अपनी इच्छा से स्वतंत्र होकर जीना चाहती है।

माँ

स्त्री के नाना रूपों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण और गौरवशाली रूप माता का है। वेदों में माता को पृथ्वी स्वरूपा बताया गया है। पृथ्वी के समान वह संतान को धारण करती है, उसका लालन-पालन करती है और आजीवन धैर्य एवं सहिष्णुता के साथ संतान के सुख की कामना करती है। इसलिए माता के ऋण से उऋण होना असंभव माना गया है। जीवन भर की साधना और तपस्या से माता अपने वात्सल्य को चरितार्थ करती है।

हिन्दी उपन्यासों में माँ के इस शाश्वत रूप के सभी पक्षों का भरपूर चित्रण हुआ है। पूर्व प्रेमचंदकालीन उपन्यास 'भाग्यवती' में भाग्यवती की माँ स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करनेवाली स्त्री है। वह कहती है - "....मेरी समझ में वे लोग मूर्ख हैं जो अपने लडके-लड़की को विद्या से हीन रखते हैं। विद्या एक ऐसा अभ्यास है कि उससे मन को कभी अवसर नहीं मिलता कि और किसी विकार में प्रवृत्त हो सके। विद्यावान् को यदि कोई आपदा भी आ जाती है तो शीघ्र व्याकुल नहीं होता और न कभी उसकी निवृत्ति के साधन में आलस्य करता है। इसी कारण अब मैं अपनी भाग्यवती को सारा दिन पढने में जोड़ रखती हूँ।...."[1]

---

1. भाग्यवती, श्रद्धाराम फिल्लौरी, पृ. 12

निर्मला की माँ कल्याणी बच्चों के खातिर सबकुछ सह लेने के लिए तैयार होती है - "निरादर-अपमान, जली-कटी खोटी-खरी, घुड़की-झिड़की सब तुम्हारे लिए सहूँगी।"[1]

'पचपन खंभे लाल दीवारें' में सुषमा की माँ बहुत ही स्वार्थी स्त्री है। वह अपनी बेटी सुषमा के विवाह की बात इसलिए नहीं सोचती क्योंकि वह अर्थोपार्जन कर रही है। सुषमा को लगती है कि वह परिवार के लिए धन कमाने की यंत्र मात्र है।

माँ को कभी भी बच्चों की तुलना नहीं करनी चाहिए। 'छिन्नमस्ता' में प्रिया की माँ बेटियों की तुलना करने से प्रिया विद्रोही हो जाती है। शायद यह उसके मन में हीन भावना भरी दी जिसने उसके वैवाहिक जीवन को भी प्रभावित किया। 'अम्मा प्रायः सल्लो जीजी से कहती - "सरोज के तो कोई 'ना' नहीं करेगा पर यह प्रिया! भगवान ही मालिक है... कौन ले जाएगा इसे?" मेरा मन विद्रोह कर उठता न ले जाए कम्बख्त, कोई न ले जाए। मुझे किसी की ज़रूरत नहीं। अब मैं विद्रोही होती जा रही थी।'[2] प्रिया को कभी ऐसा लगता कि 'स्त्री होना मात्र अम्मा की नज़र में पाप है, एक हीन स्थिति है, गुलामों का जत्था है जो बिना मालिक के जी नहीं पाएगा।'[3]

'एक ज़मीन अपनी' की अंकिता अपने पति से अलग होकर घर लौटने पर जब कोई उसपर टीका-टिप्पणी करता, तो माँ धीरज और साहस से बोल पड़ती

---

1. निर्मला, प्रेमचंद, पृ. 12
2. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 70
3. वही, पृ. 44

- "उसकी! उसकी क्या बिसात? मेरी बेटी ही छोड़ आई उसे। क्यों घुटती जीवन-भर उसके साथ? पढ़ी-लिखी है। अपने पांवों पर खडी रह सकती है.... यह तो तैयार ही नहीं होती वरना कर करवा दूँ दूसरा विवाह। कौन कमी है हमारी बिट्टी में?"[1]

गीतांजलिश्री की 'माई' एक आदर्श माता है। वह पर्दा करनेवाली, बच्चों के लिए सबकुछ निःशब्द सहनेवाली, समाज सेवा करनेवाली, लेने से भी देने में खुशी महसूस करनेवाली, बड़ों की इज्ज़त करनेवाली, जातिभेद न रखनेवाली, निःशब्द प्रतिशोध करनेवाली माँ है। माई के बच्चे उसके इन परंपरागत आदर्शों से लडते रहे। लेकिन बाद में माई की बेटी सुनैना उसे समझ पाती है और अपने भाई से कहती है - "....माई मिटी नहीं थी, हमने उसे मिटा रखा था। मुझे माई नहीं बनना, मैं माई वैसे भी नहीं बनूँगी, माई खुद मुझे माई नहीं बनाती, मैं चाहूँ भी तो माई नहीं बन सकती, वह सिफत नहीं मुझमें, मैं माई को झकझोड़के झटक देती हूँ अलग, मुझे त्याग बुरा लगता है, मुझे उसकी तरह दे-देके देने को ही लेना नहीं बनाना है, मुझे उसकी तरह शहादत में मकसद नहीं पाना है, मुझे उसकी तरह नम्रता और उदारता को अपराध नहीं बना देना है, उसके इतिहास से लड़ना है, उसे नकारना है और इसीलिए लेना है, लेके पाना है, उसके बाद दूँगी, लेने के साथ दूँगी, पर तब तक लडूँगी, उसी से लडूँगी, माई जो शाश्वत है, जो मुझमें है, जो आग में, राख में हमेशा रहेगी, जिसके आगे मैं शीष नवाती हूँ, उससे लडूँगी।"[2]

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 25
2. माई, गीतांजलिश्री, पृ. 152

माई का निःशब्द प्रतिरोध, उसका व्यक्तित्व सुनैना को बहुत अधिक प्रभावित करती है। वह माई के सामने नतमस्तक होती है।

शाल्मली की माँ पुराने विचारों वाली स्त्री है। 'वह सोचती है कि औरत की सार्थकता केवल माँ बनने में है। गृहस्थी का बोझ ढोने में हैं, मगर वह यह नहीं जानती कि जीवन-साथी की आवश्यकता मन-मस्तिष्क के धरातल पर किसी भी स्त्री के लिए कितनी ज़रूरी होती है, वह न मिले तो बच्चा और गृहस्थी किस काम की। उसे लेकर करना भी क्या है?"[1]

मृदुवचन क्रोधी को भी शांत करता है। कभी-कभी स्त्री के बोल इतने ज़हरीले होते हैं कि लोग जीते जी मर जाते हैं।

कठगुलाब की मारियान अपनी माँ के संबंध में कहती है - "आपको याद होगा, हैमलट के पिता को उसकी माँ और चाचा ने ऐसे ही मारा था, कान में ज़हर डालकर, मेरी माँ होती तो ज़हर की ज़रूरत ही न पड़ती, उसके बोल काफी होते। मुझे वे नहीं मार पाये तो इसलिए कि जॉर्ज की स्नेहिल वाणी एंटीडोट का काम करती रही और मैं मर-मरकर जिलाई जाती रही। बरसो तक उन ज़हरीले वाक् बाणों का शिकार केवल मैं रही।"[2]

असीमा की माँ आधुनिक विचारोंवाली स्त्री नहीं थी। फिर भी वह असीमा को विपिन के साथ सहजीवन (Live-in-relationship) के लिए प्रोत्साहित

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 117
2. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 67

करती है। आज की माताएं परंपरागत मान्यताओं को टुकराने के लिए भी तैयार होती हैं।

'स्त्री के व्यक्तित्व में कोमलता और सहानुभूति के साथ साहस तथा विवेक का एक ऐसा सामंजस्य होना आवश्यक है जिससे हृदय के सहज स्नेह की अजस्र वर्षा करते हुए भी वह किसी अन्याय को प्रश्रय न देकर उसके प्रतिकार में तत्पर रह सके। ऐसा एक भी प्राणी न मिलेगा जिसका जीवन माता, पत्नी, भागिनी, पुत्री आदि स्त्री के किसी न किसी रूप से प्रभावित न हुआ हो। इस दशा में उसके व्यक्तित्व को कितने गुरु उत्तरदायित्व की छाया में विकास पाना चाहिए, यह स्पष्ट है।"[1] इसलिए परंपरागत मान्यताओं को तोड़कर आधुनिक बनने की कामना करनेवाली आज की नारी को यह ध्यान देना ज़रूरी है कि वह इसी दौड़ में अपने व्यक्तित्व को खो न दे।

कामकाजी महिला

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही ज्यादातर महिलाएं कामकाज की ओर उन्मुख होने लगी थीं। इसके पहले स्त्रियों को शिक्षा और नौकरी का अवसर प्राप्त नहीं था। उच्च-मध्यवर्ग की महिलाओं द्वारा घर पर रहकर या घर के बाहर जाकर अर्थोपार्जन करना उसकी परिवार की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल माना जाता था। इसलिए पूर्व प्रेमचंदकालीन उपन्यासों में कामकाजी महिलाओं का उदाहरण नहीं मिलता है।

---

1. श्रृंखला की कडियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 17-18

जैनेन्द्र की कल्याणी इंग्लैंड से डाक्टरी पास करके अपने पति के साथ दवाखाना खोलकर प्रैक्टिस करती है। वास्तव में प्रैक्टिस कल्याणी की प्रतिभा के बल पर चलती है, पति का बस नाम ही है। पढ़ी-लिखी और आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने पर भी कल्याणी को अपने कुंठाग्रस्त पति के प्रताडन का शिकार बनना पड़ता है, किन्तु वह उसे अत्यंत सहज भाव से लेती है। पति की इस अमानुषिकता के प्रति वह कोई विद्रोह भी नहीं करती है।

'पचपन खंभे लाल दीवारें' की सुषमा अपने परिवार की सहायता करने के लिए कॉलेज में प्राध्यापिका की नौकरी करती है। कमाऊ बेटी जब परिवार का दायित्व अपने कंधों पर लेती है, तो माता-पिता स्वार्थी हो जाते है और सुषमा की ओर से निश्चिंत भी। सुषमा को लगता है कि वह पैसा कमाने की मशीन मात्र बनकर रह गई है।

'छिन्नमस्ता' की प्रिया रुपये के लिए व्यवसाय नहीं करती है, उसका व्यवसाय उसकी आइडेंटिटी है। लेकिन प्रिया के पति नरेन्द्र उससे कहता है - "....देखो प्रिया! जिस दिन तुमने काम शुरू किया था, उसी दिन मैंने कह भी दिया था - काम करो पर यह मत भूलो कि तुम विवाहित हो, एक बच्चे की माँ हो, अग्रवाल हाउस की बहू हो।"[1]

'एक ज़मीन अपनी' की नीता और 'मुझे चाँद चाहिए' की वर्षा को अपने काम के क्षेत्र में दैहिक शोषण का शिकार बनना पड़ता है। दोनों ऊँचाई तक पहुँचने

---

1. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 11

के लिए अपने साथ वर्जनाएँ नहीं रखती हैं, किन्तु अंकिता अपनी प्रतिभा और कठिन परिश्रम के बल पर ज़िन्दगी में विजय हासिल करती है।

'शाल्मली' उपन्यास में शाल्मली के पति नरेश उसे कोई इज्ज़त नहीं देता, उसकी सहायता नहीं करता, उसे सिर्फ धन कमाने की मशीन समझता है।

कामकाजी औरत को घर और बाहर दोहरे काम का भार उठाना पड़ता है। किन्तु समाज उसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाता है, सब कुछ उसका उत्तरदायित्व समझता है।

सौंदर्य मिथक

पुराने ज़माने में सौंदर्य की संकल्पना आज से बहुत भिन्न थी। स्त्री का सच्चा सौंदर्य उसके गुण और शील माना जाता था। 'नए सौंदर्य का यह मिथक नया पूँजीवादी मिथक है। यह मिथक तब फला-फूला जब औरतों के भौतिक बंधन भयानक रूप से ढीले कर दिए गए। औद्योगिक क्रांति से पहले तक की आम औरत सौंदर्य के प्रति वैसा भाव नहीं रखती थी जैसा कि आधुनिक औरत रख सकती है।"[1]

बाइबिल के अनुसार सौंदर्य झूठा और व्यर्थ है। वह स्त्री जो नम्रता और मन की दीनता की अविनाशी सजावट से सुसज्जित रहे, उसका मूल्य परमेश्वर की दृष्टि में बड़ा है। "गाँधीजी के लिए स्त्री का सौंदर्य उसके चरित्रबल और शील में

---

1. पितृसत्ता के नये रूप, स्त्री और भूमंडलीकरण, सं. राजेन्द्र यादव, प्रभा खेतान, अभयकुमार दुबे, पृ. 35

था। वे नहीं चाहते थे कि स्त्रियाँ पुरुषों के मन-बहलाव के साधन बनकर रहे। इसलिए वे कीमती कपडों, आभूषणों एवं कामोत्तेजक श्रृंगार प्रसाधनों से उनके सजने-सँवरने के खिलाफ रहें।"[1]

नाओमी वुल्फ ने अपनी पुस्तक ब्यूटी मिथ (सौंदर्य मिथक) में "ब्यूटी को एक मर्दवादी पूँजीवादी मिथ सिद्ध कर दिया है। लेकिन उनकी समस्या यह है कि वे ब्यूटी मिथ के ज़रिए औरत को पुरानी परिभाषाओं से बाहर निकालने की पूँजीवाद की क्षमता और फिर औरतों के लिए नई गुंजाइश की सार्थकता को रेखांकित नहीं कर पाती।"[2] ब्यूटी मिथ ने औरत की आज़ादी को मोड कर उसे चेहरे और देह में बदल दिया। अब स्त्री को यह सवाल पूछना चाहिए कि युवा और सुन्दर दिखना क्यों ज़रूरी है? क्या सुन्दरता वाकई सेक्स है? क्या एक स्त्री की यौनता उसके रूप में निहित है? इन सवालों का उत्तर पाने के लिए हमें पहले इस ब्यूटी मिथ को तोड देना चाहिए। जब औरत को अधूरा बताया जाता है तब ब्यूटी मिथ शुरू होता है। कोस्मेटिक्स आते हैं। कपडे लत्ते और फैशन उसकी पहचान के नाम पर आते हैं। ब्यूटी मिथ ने औरत को झूठी चयनशीलता दी है। 'मैं कैसी लगती हूँ', 'क्या मैं सेक्सी लगती हूँ' का भाव दिया है। जब हमें विश्वास हो जाएगा कि हम ईश्वर की सुन्दर सृष्टि हैं और हम जैसे भी हैं, पूर्ण हैं, तभी हम ब्यूटी मिथ से निकल पाएँगे। लेकिन व्यावहारिक जीवन में ब्यूटी मिथ से बाहर जाना आसान नहीं है।

---

1. नया ज्ञानोदय, जुलाई 2015, सं. लीलाधर मंडलोई, पृ. 32
2. पितृसत्ता के नए रूप, स्त्री और भूमंडलीकरण, पृ. 40

सीमोन द बउवा ने लिखा था - "स्त्री को यदि मुक्ति चाहिए तो पहले गहने-कपडों से, प्रसाधन से मुक्ति ले। ये तो बेडियाँ हैं जिन्हें अब तक अज्ञानवश वह पहनती रही और वस्तु रूप में स्वयं को पेश करती रही।"[1]

'नाओमी वुल्फ का कहना है कि स्त्री को जैसे ही गृहस्थी से मुक्ति मिली तो सौंदर्य प्रसाधन ने जकड लिया।"[2]

उपनिवेशकालीन उपन्यासों में स्त्री-सौंदर्य के संबंध में कहा गया है। प्रेमचंद ने 'सेवासदन' में लिखा है - "स्त्रियों का सौंदर्य उनका पति प्रेम है। इसके बिना उनकी सुन्दरता इन्द्रायण का फल है, विषमय और दग्ध करनेवाला।"[3] इसी उपन्यास में विट्ठलदास कहता है - "स्त्रियों को अगर ईश्वर सुन्दरता दे, तो धन से वंचित न रखे। धनहीन, सुन्दर चतुर स्त्री पर दुर्व्यसन का मन्त्र शीघ्र ही चल जाता है।"[4] जैनेन्द्र के 'सुनीता' उपन्यास में सौंदर्य का प्रदर्शन हम देख सकते हैं। हरिप्रसन्न ने सुनीता से कहा - "भाभी, हमारे दल के युवक भी देखें कि उनकी देवी चौधरानी सौंदर्य की भी देवी है। सौंदर्य ईश्वर के ऐश्वर्य का एक रूप है भाभी। सौंदर्य शक्ति है, सौंदर्य आदर्श है। वह स्फूर्ति देता है, पवित्रता देता है, बलि की प्रेरणा देता है। जो असुन्दर है वह फिर सत्य भी कैसे है?"[5]

---

1. बाज़ार के बीच, बाज़ार के खिलाफ, प्रभा खेतान, पृ. 228
2. वही, पृ. 209
3. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 24
4. वही, पृ. 94
5. सुनीता, जैनेन्द्र, पृ. 162

कठगुलाब उपन्यास में मारियान की माँ वरजिनया ने तमाम उम्र विख्यात ब्यूटिशनों के हाथों से ही श्रृंगार करवाया था। लेकिन उनका अंतिम श्रृंगार मारियान के हाथों से किया गया था। फिर भी तमाम कोशिशों के बावजूद उनका चेहरा बीभत्स और विरूप लगता रहा था।

सौंदर्य का बहुत अधिक महत्व देकर उसके लिए ज़्यादा पैसे और समय बर्बाद करना बेवकूफी है। फिल्मों और विज्ञापनों में स्त्रियों के अंगों का प्रदर्शन इतना खुला और अश्लील होने लगा है कि परिवार के साथ यह देखना कठिन होता जा रहा है। ऐसे अंग प्रदर्शन करनेवाली तथाकथित सुंदर युवतियाँ न केवल अपार धन कमा रही हैं, बल्कि सामाजिक प्रतिष्ठा भी अर्जित कर रही है।

'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में कम कपडों में विज्ञापन में अभिनय करनेवाली नीता से अंकिता पूछती है - "…..तुम खूबसूरत हो, सेक्सी हो, यह कपड़ों के बावजूद छिप नहीं पाता …. ज़रूरी है रातोंरात नंबर वन का दर्जा हासिल करने के लिए वह सब करना जो एक स्त्री के लिए ही नहीं, संपूर्ण स्त्री समाज के लिए अशोभनीय और लज्जा का विषय है? किन जीवन मूल्यों को जीना चाहती हो तुम? किनकी वकालत कपडे उतारकर कर रही हो तुम?"[1]

'यह मात्र संयोग नहीं है कि आर्थिक उदारीकरण के बाद विश्व सौंदर्य प्रतियोगिताओं में भारतीय सुंदरता के झंडे लहराने लगे। इसमें भारत में अपना

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 114

माल खपाने की बहुराष्ट्रीय कंपनियों की नीति का भी पर्याप्त योगदान माना जा रहा है।"[1] इसलिए यह बहुत ही आवश्यक है कि शारीरिक सौंदर्य को चारित्रिक गुणों से अधिक महत्वपूर्ण बनानेवाली व्यापारिक कंपनियों की इस साजिश को स्त्री पहचाने और इस सौंदर्य जाल से अपने को बचाएँ।

प्रकृति में स्त्री अस्मिता की खोज

औद्योगीकरण और भूमंडलीकरण के इस दौर में प्रकृति और स्त्री समान रूप से शोषित हैं। आज मनुष्य प्रकृति पर निर्भर होने के बजाय, यंत्रों पर आश्रित होने के कारण, वह उसे नष्ट कर रहा है। वह प्रकृति को अपना दास बनाना चाहता है। प्रकृति से जुडे उसके जीवों का शोषण भी बड़े पैमाने पर हो रहा है। पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रखना ही आज की सबसे बड़ी माँग है। पारिस्थितिकी को बचाने की सबसे पहली ज़िम्मेदारी स्त्री की है। वह स्वयं हाशियेकृत है, इसलिए अपने को बचाने के साथ-साथ वह शोषित हो रहे दमित लोगों को तथा प्रकृति को बचाना चाहती है। इसके लिए वह अहिंसा का मार्ग अपनाती है। अहिंसा के मार्ग पर चलकर वह संपूर्ण मानव राशी को बचाने का लक्ष्य रखता है।

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में स्त्री और प्रकृति का पारस्परिक मेलमिलाप अवश्य प्रकट है। जयशंकर प्रसाद के 'तितली' उपन्यास में विदेशी स्त्री शैला भारत आकर एक चतुर भारतीय गृहिणी बनकर प्रकृति का उद्धार करती है। शैला की तत्परता से धामपुर का ग्राम-संगठन अच्छी तरह हो गया था।

---

1. स्त्री अस्मिता के प्रश्न, सुभाष सेतिया, पृ. 93

इन्हीं कई वर्षों से धामपुर एक कृषि प्रधान छोटा-सा नगर बन गया। सड़कें साफ-सुधरी, नालों पर पुल, करघों की बहुतायत, फूलों के खेत, तरकारियों की क्यारियाँ, अच्छे फलों के बाग, वह गाँव कृषि प्रदर्शिनी बन रहा था। खेतों के सुन्दर टुकड़े बड़े रमणीय थे। कोई भी किसान ऐसा न था, जिसके पास पूरे एक हल की खेती के लिए पर्याप्त भूमि नहीं थी। परिवर्तन में इसका ध्यान रखा गया था कि एक खेत कम-से-कम एक हल से जोतने-बोने लायक हो।"[1]

समकालीन उपन्यासों में भी स्त्री ओर प्रकृति की पारस्परिक संबंध दृष्टिगोचर होता है। शाल्मली को प्रकृति में अपना ही जीवन नज़र आता है - "बचपन से देखती आई इस ऋतु (पतझड) में आज शाल्मली को अपनी छवि नज़र आती। अपने अन्दर की उदासी उसे हर पेड से झलकती नज़र आती और एक सुरक्षा का भाव उसे गर्माई देने लगता कि मेरी तरह और भी बहुत कुछ है, जिसमें मैं अपनी छाया देख सकती हूँ, अपने को बांट सकती हूँ, अपने को पा सकती हूँ। जब गिरते पत्तोवाले बड़े-बड़े वृक्षों के बीच चौडी सड़क पर वह कार चलाती, तो उसे हर वृक्ष एक दर्पण लगता।"[2] अपने मन को हल्का करने के लिए शाल्मली बागवानी में समय बिताता है। 'शाल्मली अपने अन्दर-अन्दर घुमड़ता आक्रोश खाली करने के लिए अपना मन बागवानी में लगाना आरंभ कर दिया। इससे वह कुछ हल्कापन महसूस करने लगी।"[3]

---

1. तितली, जयशंकर प्रसाद, पृ. 177
2. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 122
3. वही, पृ. 135

'कठगुलाब' उपन्यास में कभी न खिलनेवाला बंजर फूल कठगुलाब स्त्री के पास आने पर खिल उठता है। स्मिता विपिन से कहती है - "गोधड में मैंने कठगुलाब दुबारा देखे।"

"कठगुलाब"

"चालीस साल बाद। कुछ ठहरा नहीं रहता पर कुछ बदलता भी तो नहीं। मैं समझती हूँ, मिस्टर मजूमदार, बूढा सिर्फ शरीर होता है। मन तो कठगुलाब की तरह है, सदाबहार। पर... कितना नष्टप्राय! सूखता नहीं, बुढाता नहीं पर जरा हाथ लगने पर, टूटकर बिखर जाने को तैयार रहता है।"[1]

मृदुला गर्गजी के अनुसार स्त्री का मन कठगुलाब की तरह सदाबहार है। प्रकृति से मिलने पर उसको अतिरिक्त शक्ति मिल जाती है। विपिन प्रकृति और स्त्री के संबंध को स्पष्ट करते हुए नीरजा से कहता है - "मार्च महीने में प्रकृति तुम्हारी तरह तर्कातीत हो उठती है, यानी सांगोपांग स्त्री। तर्कातीत और श्रृंगाररत। जन्म देने को आकुल। जिद्दी और प्रचंड। भूले-बिसरे, सूखे-अधमरे पौधे भी अचानक जी जाते हैं। जीवित होने का सबूत देने के लिए, दो-चार कोंपल, पत्ती, फूल चटखा ही लेते हैं।"[2]

स्त्री प्रकृति के साथ मिलकर एक नवीन मूल्य की स्थापना करता है, जो मानव को प्रकृति की ओर ले जाती है और सिखाती है कि प्रकृति मानव के करीब

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 235
2. वही, पृ. 247

है। आज जब हम प्रकृति को मात्र उपभोग के लिए अपनाते हैं और विकास के नाम पर उसका नाश करते हैं, तब स्त्री प्रकृति को बचाने के लिए सबसे आगे रहती हैं। वह स्वयं हाशियेकृत है, इसलिए वह अपने को बचाने के साथ-साथ सभी शोषित, दमित और लाचार चराचरों को बचाने की कोशिश करती है।

मूल्य और आस्था

स्त्री नवीन मूल्यों का निर्माण करने के साथ-साथ ज़िंदगी के प्रति आस्थावादी दृष्टि भी रखती है। अपनी अस्मिता को बनाए रखने के लिए व्यवस्था का विरोध करते हुए उसे शोषण और ताडन-प्रताडन सहना पड़ता है, लेकिन वह आस्था नहीं खो देती है। वह स्वयं शोषण का विरोध करती है और दूसरे शोषितों के प्रति हमदर्दी भी दिखाती है। स्त्री की सबसे बड़ी विशेषता उसकी मानवीयता है। मानवीयता ही उसे दूसरों के दुख-दर्द को समझने और उनकी सहायता करने के लिए प्रेरित करती है। स्त्री का सबसे बड़ा हथियार प्रेम है। प्रेम के ज़रिए समाज में सकारात्मक परिवर्तन लाना उसका लक्ष्य है।

उपनिवेश और नवउपनिवेशकाल में स्त्री शोषण का शिकार रही है। लेकिन इससे वह अपनी आस्था नहीं छोड़ती और शोषकों का प्रतिकार भी नहीं करती है। वह भलाई से बुराई पर जीत हासिल करती है। 'भाग्यवती' उपन्यास में परिवारवालों द्वारा घर से निकाल दिए जाने पर वह पूरी आस्था के साथ अपनी शिक्षा के बल पर बहुत पैसा कमाती है। पास पड़ोस के लोग भी उसे और उसकी विद्या को सराहने लगते हैं। बाद के ससुरालवालों को विपत्ति आने पर भाग्यवती

उनके पास वापस जाने और उनकी सहायता करने के लिए तैयार होती है। इस प्रकार भाग्यवती अपने स्त्रोयोचित गुणों और मूल्यों से अपने ससुरालवालों की भी प्रशंसा का भाजन बन जाती है।

'सेवासदन' में सुमन जब पूरी आस्था के साथ अपने दूषित वेश्या जीवन को सुधारने के लिए तैयार हो जाती है, तब पत्रों में भी उसकी और 'सेवासदन' की प्रशंसा छपती है। उसे पढ़कर सुभद्रा के हृदय में सुमन के प्रति भक्ति उत्पन्न हो गई थी।

'गबन' उपन्यास में वेश्या जोहरा को अपने जीवन से घृणा हो गई थी। जालपा की विश्वासमय उदारता ने उसे आत्मशुद्धि के पथ पर ला दिया। रतन के पवित्र, निष्काम जीवन ने उसे प्रोत्साहित किया था। जब पूरा संसार वेश्या को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, तब जालपा और रतन उससे बहनापा निभाने के लिए तैयार होती है, जिससे वह सुधर जाती है। उसके विलासमय जीवन सेवा में बदल जाती है।

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों के ज़रिए वेश्या को एक मानवी का दर्जा दिया। उसे घृणा का पात्र नहीं, सहानुभूति का पात्र बना दिया गया।

'त्यागपत्र' उपन्यास में अपने घरवालों और ससुरालवालों द्वारा त्याग कर दी गई मृणाल, अनेक विपरीत परिस्थितियों से जूझकर भी आखिर समाज सेवा में जुट जाती है। प्रमोद उसे अपने घर ले जाने की बात करता है लेकिन मृणाल उसे स्पष्ट शब्दों में मना कर देती है और कहती है - "जिन लोगों के बीच बसी हूँ वे

समाज की जूठन है और कौन जानता है कि वे जूठन होने के योग्य भी नहीं हैं, लेकिन आखिर तो इंसान हैं और यह बात, जबकि उनके बीच आ पड़ी हूँ, मैं किसी भी और बात पर अब जिन्दा नहीं रहना चाहती, उनकी बुझती और जगती इन्सानियत के भरोसे ही रहना चाहती हूँ। दर-दर भटकी हूँ और मैंने सीखा है कि दुर्जन लोगों की सद्भावना के सिवा मेरी कुछ और पूँजी नहीं है।"[1]

जैनेन्द्र ने यहाँ मृणाल के द्वारा स्त्री की मानवीयता का परिचय दिया है। वह समाज की भलाई के लिए खुद टूटने के लिए तैयार होती है। प्रसाद के 'तितली' उपन्यास में तितली अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच चलकर भी टूटती नहीं। वह एक कन्या पाठशाला चलाने का दृढ़ निश्चय करती है। वह कहती है कि यदि सब लड़कियाँ पढ़ना बन्द कर दे, तो वह साल भर में ही ऐसी छोटी बड़ी अनाथ लड़कियों को एकत्र कर लेगी, जिनसे उसकी पाठशाला और खेती-बारी बराबर चलती रहेगी। तितली स्त्री शिक्षा के महत्व को समझकर त्यागपूर्वक समाज की सेवा में अपना जीवन समर्पित करती है।

नासिरा शर्मा की शाल्मली भारतीय आदर्श स्त्री है। मानवीय संबन्धों को तोड़ना उसके लिए अत्यधिक मुश्किल बात होती है। संवेदनशील स्त्री अपनी आस्था और मूल्य को नकार करके जी नहीं सकती। वह सरोज से कहती है - "औरतों के पास दो ही अभिव्यक्तियाँ है या सर झुका देना या समस्या को अधूरा छोड़, सर कटा लेना। मेरा विश्वास न घर छोड़ने पर है, न तोडने पर, न आत्महत्या

---

1. त्यागपत्र, जैनेन्द्र, पृ. 86

पर है, न अपने को किसी एक के लिए स्वाहा करने में है। मैं तो घर के साथ औरत के अधिकार की कल्पना भी करती हूँ और विश्वास भी। अधिकार पाना यानी 'घर निकाला' नहीं और घर बना रहने का अर्थ 'सम्मान' को कुचल फेंकना नहीं है। यह जो हमारे मन-मस्तिष्क में अति का भूत सवार हो गया है, वही जीवन के लिए विष समान है।"[1]

शाल्मली पुरुष विरोधी न होकर, पुरुषसत्तात्मक संस्कृति के अत्याचार विरोधी है। वह अच्छी तरह जानती है कि अपने पति से मुक्त होकर वह पितृसत्तात्मक समाज के अत्याचारों से मुक्त नहीं हो पाएगी। उसे अपनी अस्मिता पर पूरा भरोसा है और वह अंत तक अपने वैवाहिक संबंध को बनाए रखने की कोशिश करती है। शाल्मली तलाक का मार्ग अपनाकर परिस्थिति से भागना नहीं चाहती, बल्कि अपने जीवन में परिवर्तन लाकर स्थितियों को कुछ हल्का बनाने में सफल होती है।

'इदन्नमम' उपन्यास में 'मंदा' कर्तव्य और प्रेम के द्वन्द्व से कर्तव्य को अपनाती है। सगुना की माँ को जमानत पर छुडवाले के लिए वह मकरन्द के प्रेम को त्याग करने के लिए तैयार होती है। उपन्यास के अंत में मंदा बस में बैठकर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए निकल पड़ती है। अपनी खुशी की आहुति देकर वह ग्राम सेवा करने का निर्णय लेती है।

'माई' उपन्यास में सुनैना न चाहते हुए भी अपने मौन से प्रतिरोध करनेवाली माई की आस्थाओं और जीवन मूल्यों को अपनाती है। वह कहती है - "आप ही

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 164

झुक जाती हूँ उस अथाह कमज़ोरी के आगे जिसने मुझ ताकतवर को आड़ दी। मेरी बेडियाँ खुलने दी, आग लटकने दी, गति आने दी। उसकी अथाह कमजोरी ने ही मुझे लड़ा दिया। .....आत्म-पीड़न शक्ति का स्रोत है, त्याग कुछ पाने का मार्ग है, ऐसी-ऐसी आस्थाएँ कितने निरीह, गुपचुप कदमों से मुझमें भी चली आई।"[1]

'मुझे चाँद चाहिए' में वर्षा हर्ष की मृत्यु पर टूटती नहीं। वह पूरी आस्था के साथ ज़िंदगी को आगे बढ़ाने की तैयारी करती है। वह मानती है कि जगत विसर्जन (आत्महत्या) कोई समाधान नहीं है। वह कहती है - "यह दुर्बलों और कायरों की अपनी बौनी क्षमता को पहचानने की स्वीकृति है। सच्चे और महान वे हैं, जो अपनी असफलता की कचोट के साथ जिंदा रहते हैं। अपने निकृष्टतम रूप में भी जिंदगी मौत के सर्वश्रेष्ठ ढंग से बेहतर है।"[2] वह आगे कहती है - "....वे पीछे छूटे लोग वंदनीय है, जो पीडा के देश से चीखते हुए फिर अपने कर्मपथ पर वापस लौटते हैं।"[3]

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'मित्रो मरजानी' में मित्रो बेझिझक अपनी देह की माँग और बच्चे की चाह को अपनी सास के सम्मुख व्यक्त करती है। पूरे उपन्यास में पति रूपी तथाकथित पुरुष के पुरुषत्व पर मित्रो बार-बार चोट करती है। परन्तु अन्त में उसी पौरुषहीन ठण्डे पति के साथ रहकर वह पारंपरिक भारतीय पत्नी का आदर्श प्रकट करती है।

---

1. माई, गीतांजलिश्री, पृ, 61
2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 493
3. वही, पृ. 494

'कठगुलाब' में स्मिता कई बार शोषण की शिकार हुई, लेकिन वह टूटती नहीं, वह अंत में गोधड गाँव में समाज सेवा का व्रत लेकर शोषित स्त्रियों की सहायता करने के लिए तैयार होती है।

इस प्रकार समकालीन उपन्यासों से यह सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ शोषित होने पर निराश होकर न आत्महत्या करती है और न चुपचाप सबकुछ सह लेती है, वह अन्याय के प्रति अपना प्रतिशोध व्यक्त करते हुए दूसरे शोषितों के प्रति अपनी सहानुभूति दिखाती है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि उपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में स्त्रियाँ अपनी अस्मिता के प्रति सजग थीं लेकिन वे पुरुष सत्ता के शोषण को चुपचाप सहती थीं। इसका कारण यह था कि पुरषसत्तात्मक समाज ने उन्हें यही सिखाया था कि स्त्री की गरिमा सब कुछ सहने में है। प्रतिशोध करनेवाली स्त्री कुल्टा मानी जाती थी।

नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित उपन्यासों की स्त्री पुरुष के शोषण और अत्याचारों को चुपचाप सहने के लिए तैयार नहीं है। वह पुरुषसत्तात्मक संस्कृति के अन्यायों का विरोध करती हुई, समाज के सभी शोषितों जैसे प्रकृति, स्त्री, आदिवासी, दलित आदि के निरर्थक जीवन को अर्थ दिलाने के लिए कर्मशील रहती है। वह मूल्यवादी जीवन दर्शन को पेश करती है। उसमें निहित स्त्रियोचित गुणों के बूते पर वह दुनिया भर के शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाने के लिए तैयार हो जाती है। अपने विवेक एवं सूझबूझ से उन्होंने यह पहचान लिया कि दुनिया में

मानवीयता को बरकरार रखने के लिए अपना दायित्व बड़ा है। अपने इर्द-गिर्द पर घूमने के बजाय अपना विस्तार अवश्य करना है। आज की व्यवस्था को तोडने के लिए पुरुषों के कंधे से कंधे मिलकर रणक्षेत्र में उतरना है। वह अपनी शक्ति पर विश्वास करती है। इसलिए आज स्त्री अपनी अस्मिता से सामाजिक उन्नयन की हिमायती बनना चाहती है।

अध्याय पाँच

उपनिवेश और नव उपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों का शिल्प विधान

अध्याय पाँच
उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों का शिल्प विधान

शिल्प : अर्थ एवं स्वरूप

शिल्प का शाब्दिक अर्थ - 'किसी वस्तु के बनाने या रचने का ढंग अथवा पद्धति' है। शिल्प को अंग्रेज़ी के 'टेकनीक' (Technique) के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है। अंग्रेज़ी में टेकनीक के अतिरिक्त इसके लिए फार्म (Form), स्ट्रक्चर (Structure), आर्ट (Art) और क्राफ्ट (Craft) शब्द भी प्रचलित है। ऑक्सफोर्ड अंग्रेज़ी-हिन्दी शब्दकोश के अनुसार टेकनीक, "विशेष कौशल से संपन्न कराने की विधि है।"[1] अतः शिल्प किसी रचना के कौशलपूर्ण निर्माण की एक प्रक्रिया है। इसमें रचनाकार की अनुभूति की सच्चाई और गहराई होती है। शिल्प रचनाकार की प्रतिभा, कल्पना शक्ति और अविराम साधना का परिणाम होता है, जिसके द्वारा वह अपने रचनात्मक लक्ष्य को प्राप्त करता है।

उपन्यास का शिल्प कथावस्तु, पात्र-परिकल्पना, कथोपकथन या संवाद, थलकाल एवं वातावरण, भाषा शैली तथा उद्देश्य जैसे तत्वों के मेल से बना है।

---

1. ऑक्सफोर्ड अंग्रेज़ी-हिन्दी शब्दकोश, पृ. 709, एस.के. शर्मा, आर.एन. सहाय (संपादक)

शिल्प विधान उपन्यास के सृजन-पक्ष से जुड़ा हुआ है। शिल्प विधान के संबंध में प्रत्येक उपन्यासकार की अपनी दृष्टि होती है। प्रत्येक उपन्यासकार की सक्षमता अलग-अलग है। शिल्प तो वृत्ति की अभिव्यक्ति देने का सबसे अधिक सफल माध्यम है। एक अच्छे प्रभावशाली शिल्प के ज़रिए उपन्यासकार अपनी बात को अधिक तीखे एवं प्रबलता के साथ रख सकता है। इसके अभाव में उपन्यास की भाव-वस्तु अर्थहीन हो जाती है।

प्रारंभिक उपन्यासों में शिल्प को एक अतिरिक्त वस्तु के रूप में परखा जाता था। वस्तु पक्ष को अधिक सार्थकता दी जाती थी। शिल्प यदि अनगढ़ भी हो गया हो, यदि उसका वस्तु पक्ष सशक्त है तो उपन्यास के महत्व में कोई कमी नहीं होती थी। किन्तु आज स्थिति बदल गई है। आज की समृद्ध आलोचना में यह दिखा दिया गया है कि जितना उपन्यास की वस्तु मूल्यवान है, उतना ही उसका शिल्प भी। बदलते हुए जीवन मूल्यों और दृष्टिबोधों को संप्रेषित करने के लिए युग-युग से नवीन शिल्प रूपों की माँग होती रही है। एक युगशिल्प कुछ ऐसी विशिष्टताओं और विशेषताओं को रूपायित करता है, जो उस पूरे युग का शिल्प हो जाता है। अतः शिल्प एक कृति का भी हो सकता है और पूरे युग का भी।

कथानक सृष्टि : विविध प्रयोग

पूर्व प्रेमचंदकालीन उपन्यास

प्रेमचंद-पूर्व उपन्यासों की सबसे प्रमुख विशेषता उनका घटना प्रधान होना है। ये उपन्यास घटना-चमत्कार का प्रदर्शन कर या तो मात्र मनोरंजन करना चाहते

हैं या कोई उपदेश देना चाहते हैं। इस काल में सामाजिक, तिलस्मी-ऐयारी, जासूसी और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए थे।

उपदेशप्रधान सामाजिक : यह युग सांस्कृतिक पुनर्जागरण का था। राष्ट्रीय और सामाजिक जागृति की चेतना धीरे-धीरे विकसित होने लगी थी। तत्कालीन उपन्यासकारों को सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियाँ और पाश्चात्य संस्कृति की अन्धी अनुकृतियाँ बुरी तरह सालने लगी थी। अतः सामाजिक जागरण के साथ-साथ उपदेशात्मक उपन्यास लिखे गए। इस काल के सामाजिक उपन्यासों में 'वामा शिक्षक' (ईश्वरीप्रसाद, कल्याण राय), 'भाग्यवती' (श्रद्धाराम फिल्लौरी), 'परीक्षा गुरू' (श्रीनिवासदास), 'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान : एक सुजान' (बालकृष्ण भट्ट), 'निस्सहाय हिन्दू' (राधाकृष्णदास), 'विधवा विपत्ति' (राधाचरण गोस्वामी, देवकीप्रसाद शर्मा), 'श्यामा स्वप्न' (ठाकुर जगमोहन सिंह), 'लवंग लतिका', 'कुसुम कुमारी', 'लीलावती व आदर्शसती', 'पुनर्जन्म वा सौतिया डाह', 'अँगूठी का नगीना' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'सास पतोहू', 'बड़ा भाई', 'नए बाबू' (गोपालराम गहमरी), 'धूर्त रसिकलाल', 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (लज्जाराम मेहता), 'अधखिला फूल', 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध), 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकान्त' (व्रजनन्दन सहाय), 'रामलाल' (मन्नन द्विवेदी) आदि का नाम ध्यातव्य है। वास्तव में इन सामाजिक उपन्यासों में समाज के बुनियादी सत्यों की पकड़ नहीं है। इस काल के सारे सामाजिक उपन्यास उपदेश और समाधान प्रधान हैं। हर उपन्यास में समस्या का समाधान दिया गया है, वह समाधान मानो पाठकों के लिए उपदेश है - बुरे से बचने और भले में प्रवृत्त होने का इन उपन्यासों में यथार्थ की संश्लिष्टता और

चरित्रों की मनोवैज्ञानिक गहनता का सर्वथा अभाव है। इसीलिए इन उपन्यासों में से कोई भी हिन्दी साहित्य की स्थायी निधि नहीं बन सका।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास : जनता के मनोरंजन को ध्यान में रखकर इस काल में तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास लिखे गए। इन उपन्यासों में समाज का यथार्थपरक चित्रण नहीं मिलता। वैभव संपन्न सामंती समाज ही इन उपन्यासों में प्रमुख रूप से आया है। इसलिए नारी का रूप भी इन उपन्यासों की विषयवस्तु से दूर नहीं हटा है। स्त्री के स्थूल दैहिक सौंदर्य वर्णन में रीतिकालीन वर्णन पद्धति का ज़बरदस्त प्रभाव देखा जा सकता है। तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासकारों में प्रमुख नाम देवकीनन्दन खत्री का है जिनके उपन्यास 'चंद्रकांता', 'चंद्रकांता संतति', 'कुसुम कुमारी', 'वीरेन्द्र वीर', 'कटोरा भरा खून' और भूतनाथ में स्त्री अत्यंत स्थूल रूप में आई है। तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास लेखकों ने जो विषय वस्तु, देशकाल, वातावरण का चित्रण किया, वह पूरी तरह से सामंती था। इन लेखकों का उद्देश्य मनोरंजन था और स्त्री भी इनके लिए मनोरंजन से बढ़कर नहीं थी। खत्रीजी के अलावा तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी, देवीप्रसाद शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी आदि उल्लेखनीय हैं।

जासूसी उपन्यास : यह शुद्ध मनोरंजनात्मक श्रेणी में आता है। जासूसी उपन्यासों में अनेक पेचीदगियों से भरी हुई घटनाएँ बहती रहती है और पाठक इस घटना-जाल में उलझी हुई असली बात को जानने के लिए तड़पता रहता है। चोरी-डकैती या अन्य प्रकार के अपराधियों की खोज जासूसी उपन्यासों में होती है। इसमें

घटनाएँ इतनी उलझी होती हैं कि असली अपराधी का पता लगा पाना बड़ा मुश्किल होता है। जासूस अनेक प्रकार के कौशल द्वारा अंत में अपराधी को पकड़ लेता है। विस्मयजन्य आनंद की सृष्टि करना ही तो इन उपन्यासों का लक्ष्य होता है। किन्तु जासूसी उपन्यास तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होते हैं। जहाँ तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों मे जादुई तत्वों का प्रयोग होता है, वहाँ जासूसी उपन्यासों में बुद्धि-कौशल और वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग होता है। जासूसी उपन्यासकारों में गोपालराम गहमरी का नाम सबसे आगे है। इन्होंने जासूस नाम का एक अखबार निकाला, जिसमें जासूसी उपन्यास और कहानियाँ प्रकाशित होती रही। 'अद्‌भुत लाश, 'बेकसूर की फाँसी', 'सरकती लाश', 'खूनी कौन', 'बेगुनाह का खून', 'जासूस की भूल', 'अद्‌भुत खून', 'खूनी का भेद', 'गुप्तभेद', इनके प्रमुख उपन्यास है। जासूसी उपन्यासकारों में शिवनारायण द्विवेदी, शेरसिंह, रुद्रदत्त शर्मा, जयरामदास गुप्त आदि उल्लेखनीय हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास : पूर्व प्रेमचंद काल में गौरवमय अतीत की ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक था। तत्कालीन सामाजिक स्थिति दयनीय थी। हम विदेशी सत्ता के अधीन थे। हम अपनी सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों में भी जकड़े रह गए थे। विदेशी सत्ता ने हमें पराभूत तो किया, किन्तु जीवन को यथार्थवादी दृष्टि से देखने के लिए प्रेरित भी किया। इससे कुछ लोग विदेशी संस्कृति की ऊपरी चकाचौंध में जा उलझे। ऐसे अवसर पर अपने इतिहास के गौरव की याद आना और उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास करना स्वाभाविक था। ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर लेखकों ने मानो अपनी सांस्कृतिक विरासत को

पुनःजागृत करना चाहा। लेकिन इन उपन्यासों में तत्कालीन समाज का यथार्थ-बोध नहीं प्राप्त होता है, सामान्य ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह भी नहीं लक्षित होता। कल्पना और इतिहास का समन्वय भी दृष्टिगत नहीं होता। अर्थात् ये उपन्यास न तो इतिहास का जीता-जागता चित्र ही उपस्थित कर पाते हैं और न तो ये सफल साहित्यिक कृति ही बन पाते। इस काल के ऐतिहासिक उपन्यासों में किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'हदयहारिणी वा आदर्श रमणी', 'लवंगलता वा आदर्श बाला', 'तारा', 'राजकुमारी', 'कनक कुसुम का मस्तानी', 'लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा', 'रज़िया बेगम' आदि, गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'पृथ्वीराज चौहान', 'कुमार सिंह सेनापति', 'हम्मीर', श्यामसुन्दर वैद्य कृत 'पंजाब पतन', कृष्णप्रसाद सिंह अखौरी कृत 'वीर चूडामणि', मथुरा प्रसाद शर्मा कृत 'नूरजहाँ', व्रजनन्दन सहाय कृत 'लाल चीन', मिश्रबन्धु कृत 'वीरमणि' आदि उल्लेखनीय है।

इस प्रकार पूर्व प्रेमचंदकालीन उपन्यासों का अनगढ़ शिल्प है। उपन्यास के दो ही तत्व कथानक और चरित्र, इन रचनाओं में मिलते हैं, चाहे उनकी संयोजना केवल मनोरंजन और उपदेश देने के लिए की गई है।

प्रेमचंदकालीन उपन्यास

प्रेमचंदकालीन उपन्यासकारों ने उपन्यास को सस्ती मनोरंजकता, तिलस्म और ऐयारी की संकुचित दुनिया से निकालकर जीवन की सच्चाइयों, छटपटाती हुई मानवीय पीडा जैसी गहरी उच्च भावभूमि में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने मनुष्य जीवन के व्यापक एवं विस्तृत चित्रफल को सूक्ष्म एवं गहरे यथार्थ के माध्यम से उजागर

किया। प्रेमचंद के उपन्यासों की यथार्थ चेतना ही उनकी मूल शक्ति है। उनके पूर्ववर्ती उपन्यासकार यथार्थ को गहराई से नहीं पकड़ सके और शिल्प भी नहीं सँवार सके।

प्रेमचंदकालीन उपन्यास यथार्थवादी है। इन उपन्यासों की प्रमुख विशेषताएँ सोद्देश्यता, सामाजिकता, आदर्शपरकता, मनोवैज्ञानिकता और राष्ट्रीयता हैं। प्रेमचंद के अनुसार साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्शों को प्रतिष्ठित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम-कदम पर आनेवाली कठिनाइयों का सामना कर सकें। इस काल के उपन्यासों के कई स्वरूप मिलते हैं-

सामाजिक उपन्यास : इनमें जीवन की विविध समस्याओं का यथार्थ चित्रण हुआ है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में समाज के साधारण से साधारण लोगों जैसे मज़दूरों, किसानों, वेश्याओं, विधवाओं आदि का जीवन संघर्ष दिखाया है। प्रेमचंद के 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'वरदान', 'गोदान'; निराला के 'अप्सरा', 'निरुपमा', 'अल्का' आदि इस कोटि के उल्लेखनीय उपन्यास है।

आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास : प्रसाद के 'तितली' और 'कंकाल', विश्वम्भरनाथ कौशिक के 'माँ' और भिखारिणी आदि उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थ को उद्‌घाटित किया गया है।

राष्ट्रीय उपन्यास : प्रेमचंद का 'रंगभूमि' राष्ट्रीय उपन्यास है। इसमें एक विराट् राष्ट्रीय मंच पर उसकी बहुआयामी परिस्थितियों और चेतना को उपस्थित किया गया है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास : प्रेमचंद के उपन्यासों में प्रयुक्त मनोविज्ञान मानव-चरित्र के स्वाभाविक व्यवहार पर आधारित है। किन्तु जैनेन्द्र जोशी, आदि उपन्यासकारों ने मनुष्य की छिपी हुई परतों को उघाडते हुए अंदर के यथार्थ को प्रकट किया है। प्रेमचंद का 'गबन', जैनेन्द्र के 'सुनीता', 'परख', 'त्यागपत्र', इलाचन्द्र जोशी के 'घृणामयी' आदि मनोवैज्ञानिक उपन्यास है।

प्रकृतिवादी उपन्यास : तत्कालीन समाज की कुरीतियों के नग्न और साहसपूर्ण चित्रण करने के कारण बेचन शर्मा 'उग्र' को प्रकृतिवादी उपन्यासकार माना गया है। उनके 'दिल्ली का दलाल', 'चन्द हसीनों के खतूत', 'बुधुआ की बेटी' आदि प्रकृतिवादी उपन्यास हैं। ऋषभचरण जैन और जयशंकर प्रसाद अपने प्रकृतिवादी रुझान के लिए उल्लेखनीय हैं।

दार्शनिक उपन्यास : भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' एक दार्शनिक या वैचारिक समस्या 'पाप क्या है' - पर आधारित उपन्यास है। अन्त में समाधान यह निकलता है कि संसार में पाप कुछ भी नहीं है, यह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।

ऐतिहासिक उपन्यास : प्रेमचंदकालीन ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके 'गढ़कुंडार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' मशहूर ऐतिहासिक उपन्यास हैं। इस काल के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में गोविन्द वल्लभ पन्त कृत 'सूर्यास्त', रामचन्द्र मिश्र कृत 'प्रेमपथिक', चतुरसेन शास्त्री कृत 'खवास का ब्याह', सूर्यकांत त्रिपाठी निराला कृत 'प्रभावती' आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी उपन्यास के इतिहास में प्रेमचंद की शिल्प संबंधी उल्लेखनीय उपलब्धि यह है कि उन्होंने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की तरह पाठकों को संबोधित करने की परंपरा का परित्याग कर दिया। वे अपने उपन्यासों में पाठकों के साथ विद्यमान तो अवश्य रहते हैं; पर उनकी उपस्थिति अप्रत्यक्ष हो जाती है। प्रेमचंद की परंपरा में आनेवाले उपन्यासों में कथा तत्व अधिक सुगठित और प्रभावशाली रहा है।

प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यास

प्रेमचंदोत्तर काल में कथा से अधिक महत्व समस्या और चरित्र को मिला। अतः वर्णनात्मकता कम हुई। विश्लेषण की पद्धति को नया रूप मिला। हिन्दी उपन्यासों में सर्वप्रथम यह क्रांतिकारी मोड़ जैनेन्द्र के उपन्यासों से आया। चरित्र की प्रधानता, वातावरण की सजीवता, जीवन खण्ड को प्रकाशित करने की ललक ने कथानक का स्थान ग्रहण कर लिया। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों ने इस परंपरा को विकसित किया।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास : इसमें उपन्यासकार मनुष्य के बाहरी जीवन की अपेक्षा अंतर्जगत की गुत्थियों को सुलझाता है। उसकी दृष्टि में मनुष्य की बाह्य परिस्थितियाँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं होती, जितना कि मानसिक जगत। इस विधान के उपन्यासों के मनुष्य अपने अव्यक्त एवं उलझे हुए मानसिक संसार में भटकते हुए देखे जाते हैं। लेखक उस उलझती हुई दुनिया का प्रकाशन करता है। व्यक्ति समाज से लड़ता हुआ नहीं देखा जाता और न सामाजिक यथार्थ के अनुरूप उसमें बदलाव आता है, बल्कि अपने से अपनी ही आन्तरिक दुनिया से लड़ता हुआ देखा जाता है। जैनेन्द्र

ने 'परख' से 'जयवर्धन' तक, इलाचन्द्र जोशी ने 'लज्जा' से 'प्रेत और छाया' तक, अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' से 'अपने-अपने अजनबी' तक इस परंपरा को अग्रसर किया है। यहाँ कथानक अपनी परंपरागत स्थिति को छोड़कर नए रूपों में आया है। आधुनिक वैज्ञानिक युग के दो प्रमुख चिन्तकों मार्क्स और फ्रायड़ ने जीवन को दो भिन्न कोनों से देखने की दिशा दी। मार्क्स ने जीवन को सामाजिक परिवेश में उसके शुद्ध बाह्य रूप में देखा। मार्क्स ने समाज का और फ्रायड ने मानव मन का वैज्ञानिक अध्ययन किया। इन दोनों विचारकों से प्रभावित एक धारा सामाजिक यथार्थ की चली, दूसरी धारा वैयक्तिक यथार्थ की।

मार्क्सवादी उपन्यास : हिन्दी उपन्यास लेखन परंपरा में मार्क्सवादी विचारधारा को विकसित करनेवाला उपन्यासकार यशपाल रहा है। इनके 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'झूठा सच' आदि उपन्यासों में प्रगतिशील शक्तियों को सहानुभूति देने और उसका समर्थन करने में यशपाल सर्जनात्मकता की चरितार्थता मानता है। अपने यथार्थवादी उपन्यासों में यशपाल ने दार्शनिक पृष्ठभूमि का निर्वाह अपेक्षाकृत अधिक किया पर रचनात्मक स्तर पर इस विचारधारा को अपनानेवाले अन्य उपन्यासकार भी हैं, जिनमें अश्क, अमृतलाल नागर, भैरवप्रसाद गुप्त, रांगेय राघव आदि उल्लेखनीय हैं।

आगे चलकर आंचलिक उपन्यासकारों ने इसी परंपरा को शिल्पगत समृद्धि में सम्पृक्त किया है।

आंचलिक उपन्यास : आंचलिकता अंचल विशेष के यथार्थ को उकेरने का कलात्मक प्रयास है। आंचलिक उपन्यासों ने शिल्पगत नया आयाम खोला। आंचलिकता

अंचल के रीति रिवाज़, समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति, पर्व, उत्सव, रूढ़ि, परंपरा, नृत्य, भाषा आदि के सम्मिलित प्रस्तुतीकरण से उभरती है। आंचलिकता भी एक प्रकार का शिल्प ही हैं, आंचलिक शब्दों, आंचलिक मुहावरों तथा आंचलिक दृश्यों से कथा की सम्पूर्ति होती है। 'मैला आंचल' से यह परंपरा शुरू हुई, साठ के बाद इसका समुचित विकास हुआ। 'अलग-अलग वैतरणी', 'रागदरबारी', 'आधा गाँव', 'जल टूटता हुआ', पानी के प्राचीर आदि उल्लेखनीय आंचलिक उपन्यास है। फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, उदयशंकर भट्ट, रामदरश मिश्र आदि आंचलिक उपन्यासकारों में उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक उपन्यास : आधुनिकता वह वैज्ञानिक दृष्टि है जो तर्क पर आधारित है। आधुनिकता को एक मानसिकता माना गया है जो बन्द आँखों से कुछ भी स्वीकार नहीं करती। यह एक गंभीर जीवन दृष्टि है। अज्ञेय के अनुसार आधुनिक उपन्यास नया उपन्यास है लेकिन उसका नयापन न तो विषयवस्तु का नयापन है, न विधान का, न कथानक का, न रूपाकार का, वह मूलतः जीवन के प्रति दृष्टिकोण का नयापन है। हिन्दी आधुनिक उपन्यासों की शुरुआत हम 'गोदान' से मान सकते हैं। 'गोदान' में पहली बार प्रेमचंद ने अंत को अंत न बनाकर प्रश्न चिह्न बना दिया। 'शेखर एक जीवनी' में अज्ञेय ने पुराने अनेक मूल्यों को तोड़ा, भयंकर विरोध की आंधी का भी सामना किया पर संवेदनाओं की गहराई का अहसास अवश्य दिला गया।

1960 के बाद आधुनिकता का बोध और भी अधिक होने लगा, बल्कि वह उपन्यास की आवश्यकता बन गया। अज्ञेय के 'अपने-अपने अजनबी' में

जीवन-मरण संबंधी पुराने सभी मत-मतान्तरों को चुनौती दी गई हैं। इस उपन्यास में मृत्यु के माध्यम से जीवन को पहचानने की कोशिश है। 'अंधेरे बंद कमरे' के माध्यम से मोहन राकेश किसी तरह महानगरी में अकेलेपन की उस गहरी अनुभूति को अभिव्यक्ति देना चाहते हैं जिसके मूल में मानव संबंधों की अर्थहीनता है। यहाँ संबंधों के अजनबीपन में आधुनिकता का बोध है। मोहन राकेश का 'अन्तराल' भी पति-पत्नी के संबंधों में अकेलेपन का सशक्त उदाहरण है जिसमें श्यामा अपने मृत पति को भी उस उदासीन संबंधों के लिए क्षमा नहीं करती है। एक अलग तरह की आधुनिकता निर्मल वर्मा के 'वे दिन' में दिखाई देती है। इस उपन्यास में सब पात्र खाली-खालीपन, उदासीनता लिए हुए है, कोई भी बेकार की बातें में दुखी नहीं होना चाहता। रमेश बक्षी के उपन्यास 'अठारह सूरज के पौधे' का 'मैं' पत्नी के होते हुए भी बेहद अकेला है। इतना अकेला, इतना सुस्त है कि रेल की खड़-खड़ भरी यात्रा सा उसका जीवन बताया गया है। इसी तरह राजकमल चौधरी ने भी अपने उपन्यासों में महानगरीय भीड़ के अकेलेपन को, हर व्यक्ति के खोखलेपन को, गुमराह होते युवकों को काफ़ी महत्व दिया है। अपने उपन्यास 'नदी बहती थी', 'शहर था शहर नहीं था' आदि में उन्होंने विघटन, विसंगति, संत्रास, अकेलेपन और अजनबीपन को उजागर किया है। चौधरीजी की रचनाओं में आधुनिक बोध का कारण बहुत कुछ नगर बोध से जुड़ा है।

साठोत्तरी युग में हिन्दी उपन्यास जगत में स्त्री दृष्टि से स्त्री का चित्रण करनेवाले महिला उपन्यासकारों का प्रवेश भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उषादेवी मित्रा, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, राजी सेठ आदि इस कोटि

के प्रमुख उपन्यासकार हैं। उस काल तक पुरुष की दृष्टि से ही स्त्री की समस्याओं को उपन्यासों में विवृत किया गया था। भारतीय स्त्री को, नए बदले हुए परिवेश में प्रतिष्ठित करके उसके अन्तर्मन की पहचान-परख करने में इन महिला उपन्यासकारों की निपुणता ज़रूर प्रशंसनीय है।

भारतीय शिक्षित नारी की दुविधा ही उषा प्रियंवदा के उपन्यासों की कथावस्तु है। सदियों की शोषण की परंपरा एवं आत्म-दमन के इतिहास के पश्चात आधुनिक नारी स्वयं को अनेक संदर्भों में परख कर देख रही है। इस संघर्ष में नारी बुरी तरह पिस रही है, टूट रही है। मन्नू भंडारी के उपन्यासों में भी शिक्षित स्त्री के जीवन संघर्ष को व्यक्त किया गया है।

कथावस्तु में प्रयोग की वृत्ति ने आधुनिकता को सेक्स के आधार पर भी प्रकट किया है। महेन्द्र भल्ला के 'एक पति के नोट्स' में सेक्स की समस्या उभरी हुई है। इसमें पति-पत्नी के आपसी शारीरिक संबंधों में शिथिलता आ जाती है। ममता कालिया के 'बेघर' में सेक्स पति-पत्नी में संदेह के रूप में आया है। मृदुला गर्ग के चित्तकोबरा में मनु अपने पति होते हुए भी दूसरे पुरुष रिचर्ड से वह शारीरिक संबंध रखती है क्योंकि उसे वह प्रेम करती है। दीप्ति खंडेलवाल के उपन्यास 'प्रतिध्वनियाँ' में नीलकांत और उसकी पत्नी में एक समझौता है कि वे अपने प्रेमी-प्रेमिका से संबंध रखेंगे। संभोग की असफलता को ही राजकमल चौधरी ने अपने उपन्यास 'मछली मरी हुई' का विषय बनाया है।

समकालीन उपन्यास

समकालीन उपन्यासों में विविध विषयों को लेकर नए-नए प्रतीकों, बिम्बों और संकेतों का प्रयोग करके उपन्यासों की संवेदना को संप्रेषित किया गया है। समकालीन स्त्री केन्द्रित उपन्यासों में स्त्री की मनःस्थिति, सोच और आज के समय में उसके विचारों में आए परिवर्तन को भी उपन्यासकारों ने रेखांकित किया है।

स्त्री चेतना के निर्माण में पुरुष उपन्यासकारों के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। उन्होंने इस मुद्दे पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। जैनेन्द्र के उपन्यास 'दशार्क' (1985) में रंजना आत्मबल पर अपनी दुनिया का निर्माण करती है। वह जीवन की सार्थकता की तलाश करते हुए मानवीय अन्तर्संबन्धों को एक नया आयाम देती है। विष्णु प्रभाकर का उपन्यास 'अर्धनारीश्वर' (1992) में स्त्री पात्र सुमिता केन्द्र में है। इसमें कहा गया है कि स्त्री मुक्ति के लिए बीड़ा तो स्त्रियों को ही उठाना पडेगा। रामदरश मिश्र का उपन्यास 'थकी हुई सुबह' (1992) एक अलग तरह का उपन्यास है। इसमें पुरुष नहीं, स्त्री ही स्त्री के अधिकार को हडप लेती है। मनोहर श्याम जोशी का उपन्यास 'हमजाद' (1996) में बाज़ार और उपभोक्तावाद के संदर्भ में स्त्री की स्थिति का चित्रण किया गया है, जहाँ स्त्री मात्र वस्तु बनकर रह गई है। राजकिशोर के उपन्यास 'तुम्हारा सुख' (1995) में दिखाया गया है कि बौद्धिक वर्ग में भी स्त्री भोग्य वस्तु से ज़्यादा कुछ नहीं है। इनके अलावा भगवानदास मोरवाल के 'बाबल तेरा देस में', सुरेन्द्र वर्मा के 'मुझे चाँद चाहिए', रूपसिंह चंदेल की 'रमला बहू' आदि उल्लेखनीय उपन्यास है।

समकालीन उपन्यास साहित्य में लेखिकाओं द्वारा स्त्री पर लेखन एक महत्वपूर्ण आयाम बनकर उभरा है। स्वानुभूत होने के कारण अपनी वैचारिक स्थिति को लेखिकाओं ने बहुत प्रामाणिकता के साथ रखा है। सहानुभूति के बदले स्वानुभूति का प्रश्न ज़्यादा प्रासंगिक है। स्त्री सामाजिक रूप से पितृसत्तात्मक समाज द्वारा शोषित होती रही हैं। पितृसत्ता ने उसे वस्तु के रूप में प्रयुक्त किया। उसके नाम, रूप, जाति, पहचान सब अपने संदर्भ में परिभाषित किये गये स्त्री को दोयम दर्जे का नागरिक माना गया और वैसा ही व्यवहार भी किया गया। स्त्री की दुनिया का सच, स्त्री से बेहतर कोई नहीं लिख सकता। स्त्री को अपनी लड़ाई खुद लडनी होगी। महिला उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में स्त्री की भीतरी-बाहरी तकलीफों द्वन्द्वों और छटपटाहट को जिस तरह अभिव्यक्त किया है, उस तरह इससे पहले किसी ने कभी सोचा भी नहीं था। स्त्रियाँ ही संभवतः स्त्री जीवन के उस भीतरी क्षेत्रों में जा सकती थीं और ऐसी सशक्त भाषा में उनकी यंत्रणाओं और बेड़ियों के बारे में लिख सकती थीं। इस दौर में महिला उपन्यासकारों द्वारा महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे गए हैं। खास तौर से कृष्ण सोबती का 'दिलोदानिश', मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब', मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम्', 'चाक', 'अल्मा कबूतरी' और 'झूला नट', चित्रा मुद्गल के 'एक ज़मीन अपनी' और 'आवाँ', नासिरा शर्मा के 'शाल्मली' और 'ठीकरे की मंगनी', राजी सेठ का 'तम् सम्', गीतांजलिश्री का 'माई', प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' और 'पीली आंधी', अलका सरावगी का 'कलिकथा वाया बाईपास' आदि ऐसे उपन्यास है जिनमें आधी दुनिया से जुड़ी हुई समस्या को बड़ी सूक्ष्मता और गहराई से प्रस्तुत किया गया है। इनमें स्त्री शोषित

होते हुए भी अपनी मानवीयता को न छोड़कर दूसरे शोषितों जैसे दलित, आदिवासी और प्रकृति की भी मुक्ति की कोशिश करती है।

पात्र-परिकल्पना

उपन्यास में पात्र प्रमुख होते हैं। उपन्यासकार प्रत्यक्ष अथवा नाटकीय रूप में पात्रों के ही जीवन का यथार्थ वर्णन करता है। पात्रों के क्रिया कलापों से ही कथावस्तु का निर्माण होता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता, मौलिकता, सप्राणता एवं मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वन्द्वात्मकता भी आवश्यक है। पात्र हमारे जीवन की सामाजिक घटनाओं के साथ जुड़ा रहेगा तो अकृत्रिम नहीं लगेगा।

उपनिवेशकालीन उपन्यास

उपनिवेशकालीन उपन्यासों में पात्रों की संख्या कम है और पात्रों का चरित्र चित्रण भी किस्सागोई शैली में लेखक द्वारा किया गया है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' में लेखक पात्रों को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने में सफल नहीं हुआ है। यद्यपि उपन्यास के अधिकतर पात्र यथार्थ और हमारे बीच के व्यक्ति हैं, पर उच्च कोटि के चरित्र सृजन के लिए जिस संवेदनशीलता और मनोवैज्ञानिक दृष्टि की आवश्यकता होती है, उसका उपन्यास में सर्वथा अभाव है। प्रमुख पात्र देवरानी आदर्श स्त्री है, पर उसके चरित्र में कोई संघर्ष नहीं है। उसे अपनी ज़िंदगी में जटिल और संघर्षपूर्ण परिस्थितियों से गुज़रना नहीं पड़ता है। जेठानी का चरित्र अधिक विश्वसनीय है क्योंकि तत्कालीन भारतीय ग्रामीण स्त्रियों की हालत ऐसी ही थी। 'वामा शिक्षक' 'देवरानी जेठानी की कहानी' की अनुकृति ही है। पात्रों और स्थानों

की नवीनता तथा नारी आदर्श संबंधी कुछ अधिक उदाहरणों के अतिरिक्त इसमें और कोई नवीनता नहीं है। 'भाग्यवती' उपन्यास में भाग्यवती का चरित्र अविश्वसनीय होने पर भी स्वावलंबन का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार लड़का-लड़की भेद को मिटाकर, उन्हें समान महत्व देकर उपन्यासकार ने ऐसी जागरूकता का परिचय दिया है, जिसकी आज भी सार्थकता महसूस की जा रही है। 'भाग्यवती' उपन्यास में लेखक का सारा बल और ध्यान उसकी नायिका भाग्यवती पर ही केन्द्रित है। थोड़ा बहुत ध्यान पंडित उमादत्त पर दिया गया है, खासतौर से उनके सुधारवादी आग्रहों के प्रसंग में। 'श्यामास्वप्न' के पात्र काल्पनिक हैं और स्वप्न के व्यक्ति हैं, जिनके जीवन में केवल भोगविलास की प्रधानता है। ये पात्र मध्यकालीन प्रेमाख्यानों की छायामूर्तियाँ हैं, जिनका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है।

प्रेमचंद अपने उपन्यासों में पाठकों के सामने अपने पात्रों का ऐसा जीता-जागता, शब्द चित्र प्रस्तुत करते हैं कि प्रथम दर्शन में ही उसे पहचाना जा सकता है। पात्रों का परिचय देते समय वे उनकी रूप-रेखा, वेश-भूषा, आयु आदि का सूक्ष्मतम वर्णन करके अपने काल्पनिक पात्रों को ठोस शरीर और विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने में समर्थ होते हैं। 'सेवासदन' में पहली बार प्रेमचंद ने पति से विद्रोह करनेवाली और प्रतिक्रिया में वेश्यावृत्ति अपना लेनेवाली सुमन नामक स्त्री पात्र के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। सुमन को कोई ज़बरदस्ती वेश्या नहीं बनाता, वह खुद वेश्यावृत्ति अपनाती है। सामाजिक मज़बूरियाँ उसे वेश्या बनाती है और वह अपने पति से ही नहीं, पूरे समाज से प्रतिशोध करती है। प्रेमचंद के स्त्री पात्र अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति बेचैन तो हैं, पर वे विद्रोह की दिशा में बहुत दूर तक नहीं

जा पाते। रंगभूमि की सोफिया, गबन की जालपा, कर्मभूमि की सुखदा और गोदान की मालती जैसी विद्रोहिणी स्त्रियाँ भी अंत में परंपरागत आदर्शों की शिकार बन जाती हैं। इन सब के बावजूद प्रेमचंद हिन्दी के पहले उपन्यासकार हैं जिसने विश्वसनीय और पाठकों को आत्मीय लगनेवाले पात्रों का संसार खड़ा कर दिया।

जयशंकर प्रसाद के उपन्यासों में आदर्शपूर्ण पात्रों की आत्मसम्मान के लिए मर मिटने की आकांक्षा, अविचल कर्तव्यनिष्ठा और अनन्य प्रेम के चित्रण देखे जा सकते है। 'कंकाल' में शैला और इन्द्रदेव का विवाह, हिन्दी उपन्यास में शायद पहली बार, अंतर्राष्ट्रीय विवाह का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

निराला के उपन्यासों में साहसपूर्ण और सशक्त कथापात्रों का अंकन है। 'अप्सरा' के वेश्यापुत्री कनक का विवाह अभिजातकुलीन राजकुमार से होता है जो उस काल में एक साहसी कदम है। 'निरुपमा' में निरुपमा और कुमार के अंतरप्रांतीय विवाह भी तत्कालीन समाज में साधारण नहीं था।

भगवतीचरण वर्मा ने विश्लेषणात्मक विधि द्वारा पात्रों के चरित्र-चित्रण किया है। 'चित्रलेखा' में न केवल चित्रलेखा का चरित्र अपनी समस्त जटिलताओं में उभरता है, बल्कि बीजगुप्त, कुमारगिरी, श्वेतांक आदि का चित्र-चित्रण भी उतना ही प्रभावशाली बन पड़ा है। 'तीन वर्ष' में रमेश का चरित्र उसके आचार-विचार के साथ जिस परिवर्तनशीलता का विश्लेषण प्रस्तुत करता है, बहुत उत्तम है। 'रेखा' में रेखा के चरित्र के साथ प्रोफेसर प्रभा शंकर का चरित्र मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर किया गया है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में कथापात्रों के मानसिक व्यापारों का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। 'त्यागपत्र' में एक सुन्दर संस्कारशील हिन्दू स्त्री मृणाल की मानसिक व्यथा है जिसके लिए हिन्दू समाज की रूढ़िग्रस्त मानसिकता बहुत कुछ ज़िम्मेदार है। 'सुनीता' उपन्यास में केन्द्रीय पात्र सुनीता विवाहित और अपने पति के प्रति ईमानदार होते हुए भी, अपने प्रेमी के समक्ष आक्रामक समर्पण की मुद्रा में निर्वस्त्र हो जाती है। कामातुर पुरुष के प्रति स्त्री की यह आक्रामक मुद्रा तत्कालीन समाज के लिए बिल्कुल चौंका देनेवाली थी।

यशपाल ने दिव्या नामक कथापात्र के द्वारा स्त्री स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया है। दिव्या कुलीन कन्या से भी स्वतंत्र स्त्री बनकर रहना चाहती है। बौद्धकालीन समाज में केवल वेश्या के रूप में स्त्री को स्वतंत्रता प्राप्त थी। पर उस रूप में उसकी अलग तरह की त्रासदी थी। अन्त में दिव्या अपने अभिजात वर्ग के प्रेमियों का तिरस्कार करके चार्वाकधर्मी मारिश को आत्मसमर्पण करती है जो स्त्री-पुरुष के मुक्त, नैसर्गिक संबन्ध में विश्वास करता है।

नवउपनिवेशकालीन उपन्यास

नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित उपन्यासों में उपन्यासकारों ने स्त्री को आत्मनिर्भर होकर अपनी जागरूकता का प्रमाण देते हुए चित्रित किया हैं। जिन साहित्यकारों ने स्त्री के इस रूप को उभारा है, उनमें उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, कृष्ण सोबती, चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा, नासिरा शर्मा आदि प्रमुख हैं।

'रुकोगी नहीं राधिका' में उषा प्रियंवदा ने राधिका के द्वारा उच्च मध्यवर्गीय संस्कारों में पली युवतियों की मानसिकता, अंतर्द्वन्द्व और अकेलापन को यथार्थ रूप में चित्रित किया है। राधिका भारतीय संस्कार और नैतिक मान्यताओं की कोई परवाह नहीं करती। आधुनिक शिक्षा से उसकी पारिवारिक मान्यताओं में भी बहुत कुछ परिवर्तन आया है।

'आपका बंटी' में मन्नू भंडारी ने एक शिक्षित और स्वावलंबी स्त्री शकुन के मानसिक व्यापारों का सुन्दर चित्रण किया है। शकुन अपने पति अजय से समझौता नहीं कर पाती है और तदनन्तर वह तलाक लेने का निर्णय करती है।

चित्रा मुद्गल के 'एक ज़मीन अपनी' में नीता और अंकिता के चरित्र को लेकर स्त्री स्वतंत्रता के दोनों पक्षों पर विचार किया गया है। पश्चिमी सभ्यता का अंधानुकरण लेखिका को पसंद नहीं है। वह स्त्री को उसकी मर्यादित सीमा में रखकर ही स्वतंत्रता तथा अधिकार दिलाने के पक्ष में है। नीता से आत्महत्या करवाकर चित्राजी मुक्त जीवन के अंतर्विरोधों को ही व्यक्त करती हैं।

'मुझे चाँद चाहिए' का प्रमुख पात्र वर्षा एक महत्वाकांक्षी स्त्री है। इसी कारण से वह नाटक के रंगमंच से लेकर फिल्म जगत तक पहुँचती है। उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता दृढ़-निश्चयी होना है। उसने जो ठान लिया, उसे वह हर हाल में पूरा करके ही छोडती। वर्षा मध्यवर्गीय ब्राह्मण स्त्री होने के बावजूद आधुनिक विचारों से ओतप्रोत है। दिव्या के साथ रहकर वह सिगरेट और शराब पीती है। तीन पुरुषों के साथ उसके भावनात्मक संबंध होते हैं। हर्ष के साथ उसका

यौन संबंध भी होता है। आधुनिकता के साथ-साथ उसमें पारंपरिक गुण भी दिखाई देते हैं। हर्ष से बिना शादी करके वह उसके बच्चे की माँ बन जाती है। बाद में हर्ष के मरने पर वह उसके बच्चे को जन्म देकर बड़ा करती है। वह परिवार और समाज की बिल्कुल परवाह नहीं करती।

इदन्नमम् की मंदा, छिन्नमस्ता की प्रिया और कठगुलाब की स्मिता बलात्कार की शिकार बन जाती हैं। लेकिन वे हताश होकर टूटती नहीं हैं। वे इस दुरावस्था को पार करके, अतीत को भूलकर आगे की जिंदगी में सक्रिय होकर लड़ती हैं।

'समय-सरगम' उपन्यास में कृष्णा सोबती ने आरण्या और ईसान जैसे पात्रों के माध्यम से वृद्ध जीवन की समस्याओं को व्यक्त किया है। उपन्यास के अंत में आरण्या समाज और परंपरा की परवाह न करके ईशान के साथ ज़िंदगी बिताने का निर्णय लेती है।

उपनिवेशकालीन उपन्यासों से नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों तक आते-आते स्त्री पात्रों के चरित्र में बहुत अंतर दिखाई पड़ता है। उपनिवेशकालीन स्त्रियाँ पतिपरायण आदर्श स्त्रियाँ थीं, जो अपने पुरुषों से बहस नहीं करती थीं। बहस करनेवाली स्त्री को कुल्टा समझी जाती थी। ये स्त्रियाँ सदैव अपने गृहकार्य में व्यस्त और परदे में कैद स्त्रियाँ थीं। इन्हें शिक्षित होने की ज़रूरत तो थी लेकिन स्वतंत्रता नहीं दी जाती थी। प्रारंभिक उपन्यासों में स्त्रियों के कर्तव्य तो बार-बार दोहराए गए, लेकिन उनके अधिकारों की बात दबी ही रही। प्रेमचंद ने अपने स्त्री पात्रों के द्वारा सामाजिक रूढ़ियों और कुरीतियों का प्रतिरोध तो करवाया, लेकिन

यह विद्रोह ज़्यादा दूर तक नहीं जा पाए। नवउपनिवेशकालीन स्त्रियाँ ज़्यादातर शिक्षित और स्वावलंबी हैं। वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हैं। वे आधुनिकता को अपनाती हैं, साथ-साथ पारंपरिक गुणों को छोड़ती भी नहीं। वे शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध करनेवाली और दूसरे शोषितों को भी अपनानेवाली स्त्रियाँ हैं।

कथोपकथन एवं संवाद

कथोपकथन उपन्यास के शिल्प का महत्वपूर्ण अंग है। पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप या संवाद को कथोपकथन कहा जाता है। उपन्यास को मनोरंजक, स्वाभाविक और सजीव बनानेवाला तत्व कथोपकथन है। कथोपकथन से उपन्यास में न केवल संक्षिप्तता, प्रभावोत्पादकता एवं रोचकता की वृद्धि होती है, बल्कि पात्रों की मनोवैज्ञानिकता का भी सफल चित्रण संभव होता है। कथोपकथन में उपन्यास के अन्य तत्वों की अपेक्षा कलात्मकता की आवश्यकता होती है। कथोपकथन वास्तविक प्रतीत होना चाहिए। कथोपकथन का उद्देश्य कथानक को गति देना, नाटकीयता लाना, पात्रों के चरित्र का उद्‌घाटन करना, वातावरण की सृष्टि कराना आदि है। कथोपकथन पात्रों के भावों, विचारों, संवेदनाओं, मनोवृत्तियों आदि को व्यक्त करने में सहायक होते हैं। कथोपकथन पात्रों के अनुकूल होना चाहिए। एक सफल उपन्यास के कथोपकथन कौतूहलवर्धक, नाटकीयता से पूर्ण और स्वाभाविक होते हैं।

उपनिवेशकालीन उपन्यास

उपनिवेशकालीन प्रारंभिक उपन्यासों में सशक्त कथोपकथन का अभाव है। किस्सागोई शैली में लिखे गये उपन्यास के पात्रों के संवाद को कथा का हिस्सा

बनाकर ही प्रस्तुत किया गया है, न उन्हें उद्धरण चिह्नों में रखकर लिखा गया है, न ही पात्र के नाम के आगे डैश लगाकर।

प्रेमचंद के उपन्यासों में सरल और सहज भाषा से युक्त संवाद पाठक के सामने अनायास ही पात्रों का चरित्र-चित्रण खींच देता है। प्रेमचंद ने पात्रों के सहज, स्वाभाविक संवाद के द्वारा तत्कालीन समाज की कुरीतियों का विरोध भी किया है। सेवासदन में वेश्याओं के नाच के विरुद्ध पद्मसिंह विट्टलदास से कहता है - "अगर दुर्भाग्य से आजकल यही उल्टी प्रभा चल पड़ी है, तो क्या यह आवश्यक है कि हम भी उसी लकीर पर चले? शिक्षा का कम-से-कम इतना प्रभाव तो होना चाहिए कि धार्मिक विषयों में हम मूर्खों की प्रसन्नता को प्रधान न समझे।"[1]

प्रसाद के 'तितली' उपन्यास में भी अनवरी और शैला के सरल और स्वाभाविक संवाद से तत्कालीन मुसलमान स्त्रियों की दयनीय स्थिति का चित्र व्यक्त होता है। अनवरी शैला से कहती है - "हम मुसलमानों को तो मालिक की मर्जी पर अपने को छोड़ देना पड़ता है, फिर सुख-दुख की अलग-अलग परख करने की किसको पड़ी है।" शैला ने जैसा चौंककर कहा - "तो क्या स्त्रियाँ अपने लिए कुछ भी नहीं कर सकती? उन्हें अपने लिए सोचने का अधिकार भी नहीं है?"[2]

भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास में संवादों की भाषा काव्यमय और पात्रानुकूल है। चित्रलेखा कुमारगिरी से कहती है - "मैं यहाँ आई हूँ तुममें

---

1. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 114
2. तितली, जयशंकर प्रसाद, पृ. 27

अपने को डुबा देने के लिए, सेवा और भक्ति, स्वयं का विस्मरण और अतृप्त प्यास - ये प्रेम के द्योतक है।"[1]

बाणभट्ट की आत्मकथा में हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने संवेदनात्मक और आलंकारिक भाषा में स्त्री की दारुण स्थिति का चित्रण किया है। एक स्थान पर निपुणिका बागभट्ट से पूछती है - "मेरी ही शपथ करके तुम सत्य-सत्य कहो, मेरा कौन सा ऐसा पाप चरित्र है जिसके कारण मैं निदारुण दुख की भट्टी में आजीवन जलती रही? क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है?"

'त्यागपत्र' उपन्यास में कथोपकथन स्वाभाविक तथा यथार्थ है। मृणाल के भाई का कथन देखिए - "मिनी, देखो अब ऐसा मत करना। वह आदमी भले हैं इससे बात बन भी गई। नहीं तो बेटा ऐसा किया करते हैं? थोड़ी रगड़-झगड़ होती है, पर पति के घर के अलावा स्त्री को क्या आसरा है? यह झूठ नहीं है मृणाल कि पत्नी का धर्म पति है। घर पति-गृह है। उसका धर्म-कर्म और उसका मोक्ष भी वही है।"[2]

यशपाल के 'दिव्या' और 'अमिता' उपन्यासों के संवाद में बौद्ध धर्म का प्रभाव लक्षित होते हैं। 'अमिता' उपन्यास में अमिता घायल सैनिकों के पास जाकर उन्हें समझाती है - "तुम युद्ध मत करना.... किसी से छीनो मत। किसी को डराओ मत। किसी को मारो मत! कोई युद्ध में न जाये। अम्मा कहती है, युद्ध और हिंसा पाप है।"[3]

---

1. चित्रलेखा, भगवतीचरण वर्मा, पृ. 71
2. त्यागपत्र, जैनेन्द्रकुमार, पृ. 27
3. अमिता, यशपाल, पृ. 150

नवउपनिवेशकालीन उपन्यास

नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में संवाद संक्षिप्त और प्रवाहपूर्ण होने के साथ-साथ भावात्मक, मनोविश्लेषणात्मक एवं भाषा की श्लीलता एवं अश्लीलता की परवाह भी होती है। कथोपकथन में अंग्रेज़ी का प्रयोग भी ज्यादात्तर होता है। 'रुकोगी नहीं राधिका' में ज़्यादातर संवाद संक्षिप्त, संयत तथा सरल है। वार्तालाप के छोटे-छोटे वाक्यों से उनकी स्वाभाविकता और बढ़ गई है। पापा और राधिका के बीच के इस वार्तालाप को देखिए -

"विनय, लोग कल जा रहे हैं?"

"कह तो रहे हें।"

"और तुम?"

"और आप?"

"मैंने अपने बारे में कुछ सोचा नहीं है। चाहता हूँ, तुम यहाँ रहो राधिका, पहले की तरह।"

"नहीं पापा, मैं जाना चाहती हूँ। मनीश... मेरे एक बंधू....."[1]

'रुकोगी नहीं राधिका' में ऐसे एक कथोपकथनों का भी निर्वाह हुआ है जिनके द्वारा लेखिका ने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को पाठकों के सम्मुख व्यक्त किया है। मनीश राधिका से कहता है - "जब हम अपना देश छोड़कर बाहर जाते हैं, तो

---

1. रुकोगी नहीं राधिका, उषा प्रियंवदा, पृ. 116

पहले छः महीने हम एक कल्चरल शॉक के दौरान बिताते हैं, जब कि हर कदम पर हमें अपना देश, अपनी संस्कृति ऊँची दिखाई देती हैं। फिर हम उस देश में रहने के आदी हो जाते हैं। दो साल, ढाई साल, उस नए देश में रहकर उसके रीति-रिवाज के आदी होकर हम अपने देश में वापस आते हैं, तो हमें एक धक्का दुबारा लगता है, रिवर्स कल्चरल शॉक।"[1]

आपका बंटी उपन्यास में संवाद सरल, संक्षिप्त, स्वाभाविक, पात्रानुकूल तथा व्यंग्यात्मक भी है। इस उपन्यास में मन्नू भंडारी ने पात्रों की मनःस्थितियों का विश्लेषण किया है। इस कारण से संवादों में व्यंग्यात्मकता का निर्वाह भी हुआ है। बंटी और उसकी मम्मी के मध्य का एक संवाद देखिए-

"ममी, पापा हम लोगों के साथ क्यों नहीं रहते?" (ममी चुप)।

"आज टीटू कह रहा था।"

"क्या कह रहा था टीटू?" ममी एकदम बंटी पर झुक आई। आवाज़ की सख्ती से बंटी जैसे एक क्षण को सहम गया।

"बता, क्या कह रहा था टीटू?"

"टीटू कह रहा था कि तेरे ममी-पापा का तलाक हो गया है। अब पापा कभी हमारे साथ नहीं रह सकते।"

बंटी ने जैसे-तैसे कह दिया।

---

1. रुकोगी नहीं राधिका, उषा प्रियंवदा, पृ. 86

"क्यों रे, तू और टीटू ये ही सब बातें करते रहते हो?" (ममी की आवाज़ में गुस्सा था या दुख पता नहीं चला।) "मैं नहीं करता ममी, टीटू ही कह रहा था। मुझे तो तलाक का मतलब भी नहीं मालूम। उसी ने बताया कि ममी-पापा की लड़ाई को तलाक कहते हैं। जब देखो, उनके घरवाले पापा की बात ज़रूर करते हैं।"[1]

बंटी रुआँसा हो आया।

ममी एकाएक ढीली हो आई। ठंडी साँस खींचकर बोली, "करने दो। इन लोगों के पास ये बातें न हो तो ये जिएँ कैसे बेचारे?"

समकालीन उपन्यासों में कथोपकथनों का खूब इस्तेमाल हुआ है। उपन्यासकार संवादों के द्वारा पात्रों की मानसिक स्थिति को सामने ले आते हैं। 'चाक' उपन्यास में सारंग रंजीत से कहती है - "रंजीत तुम अकेले हो, झाड़ू की अकेली सींक बच्चा भी तोड़ ले। यह जानते हुए भी पराई आग में हाथ जला लेना कहाँ तक जायज है? दरोगा तेरी जान-पहचान का न होता तो डोरिया को हवालात की हवा छू सकती थी?"[2] उसी प्रकार 'माई' उपन्यास में सुबोध और सुनैना के बीच का संवाद देखिए - "यहाँ मर जाओगी। हम समाज में जी नहीं सकती। सुनी-सुनी" - उसकी चीख ड्योढ़ी की दीवारों से टकराने लगी - "यहाँ सिर्फ मिट सकती हो।" "तो मिट जाऊँगी।" मैं ज़िद में बोल गई। हालांकि मेरा ऐसा कोई मतलब नहीं था। और सुबोध बनैले जीव की तरह गरज उठा - "हाँ, तुम भी मिट जाना, माई की तरह, जीतेजी कोई अपनी हस्ती मत रहने देना।"[3] कथोपकथन पात्र को पहचानने और बड़े-बड़े विचारों की अभिव्यक्ति के लिए बहुत मददगार सिद्ध होते हैं।

---

1. आपका बंटी, मन्नू भंडारी, पृ. 16, 17
2. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 50
3. माई, गीतांजलिश्री, पृ. 152

एक ज़मीन अपनी में अंकिता का तिलक से कथन देखिए - "……गौर कीजिए, स्त्री ही क्या किसी भी व्यक्ति को आप एक कमरे में सालों-साल बंद रखिए, मात्र उसे खाना-पानी देते रहिए। खुली हवा - पानी - प्रकृति से वंचित वह व्यक्ति एक रोज़ निश्चित ही असंतुलित हो उठेगा.... उसकी संवेदना कुंद हो जाएगी, उसकी निर्णय - क्षमता छीज जाएगी.... वह सिर्फ अपने बारे में सोचेगा या उस कमरे में दाना - पानी पहुँचानेवाले के विषय में। उसकी पूरी दुनिया सिमटकर उस कमरे तक सीमित हो उठेगी.... वही हाल स्त्री का हुआ है। उसे सदियों से एक कमरे में बंद रखा गया है..... अब जब नाममात्र को दरवाज़े - खिडकियाँ खोली जा रही हैं - आप उससे एकदम कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि वह अपनी दुनिया कमरे की हदें तोड़ वहाँ तक विस्तृत कर ले जहाँ तक पुरुषों के लिए वह उपलब्ध है....."[1]

कठगुलाब में कथोपकथन की शैली के द्वारा उपन्यास को एक विशेष रोचकता प्राप्त हुई है। विपिन और नीरजा के बीच का संवाद देखिए - "मैं तुम्हारे लिए स्पर्म से ज़्यादा कुछ नहीं हूँ? मेरे मुँह से निकला। "मिस्टर विपिन मजूमदार", उसने कहा, "असीमा ने आपको ज़रूर बतलाया होगा कि कोई भी मर्द इससे ज़्यादा कुछ नहीं होता।" "बन्द करो यह खेल। प्लीज़।" मैं बिनती कर उठा, कितनी बार कह चुका, मुझे बच्चा नहीं चाहिए। यह ठीक है, कभी मैंने बच्चा चाहा था.... वह क्या इतना बड़ा अपराध था कि उसकी सजा कभी खत्म नहीं होगी।"[2]

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 102
2. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 250

कठगुलाब में जारविस और स्मिता के संवाद से हमें सेक्स का खुला चित्रण मिलता है - "तो तुम्हारे पिता तुम्हारे सामने उस औरत को चूमते थे?" उसने पूछा।

"हाँ।"

"ओंठों पर?"

"हाँ।"

"वक्ष पर।"

"हाँ।"

"तुमने उन्हें उसे.... पूरी तरह.... प्यार करते देख था?"

"हाँ।"

"डर लगा था?"

"हाँ।"

"उसके दाँत बड़े-बड़े थे?"

"हाँ।"

"ड्रेकुला की याद दिलाते थे?"

"हाँ।"

"याद करो, क्या उसने तुम्हारे सामने पिता की गर्दन पर चूमा था?"

"हाँ।"

"कसकर?"

"हाँ।"

"खून निकल आया था?"

"हाँ।"[1]

वैसे ही 'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास में सेक्स को खुलकर चित्रित किया गया है। वर्षा और हर्ष के बीच का संवाद देखिए - "घर आये अतिथि का वस्त्राहरण आपको शोभा नहीं देता श्रीमान।" सिलबिल ने कृत्रिम प्रतिरोध किया।"

जो प्रेमी चुंबन-श्रृंखला तोड़ता है, वह गौवध के पाप का भागी बनता है।" हर्ष गंभीरता से बोला।

"भूल हुई। 'कामसूत्र' का मेरा अध्ययन आपके जैसा गहन नहीं।" मुस्कान दबाते हुए सिलबिल ने कहा।

हर्ष ने उसके एक कान की लौ अपने होंठो में ली, चुभलाई और हल्के-से काट ली।

"तुम कैसे भारतवासी हो?" सिलबिल कराही, "गणतंत्र दिवस पर नवनिर्माण के बजाय ऐसी ह्रासोन्मुख हरकत....." अब दृढ़ आलिंगन में वर्षा की नग्न पीठ पर हर्ष के चपल हाथ का स्पर्श था। जहाँ-जहाँ हाथ फिसलता, त्वचा रोमांचित होती जाती।"[2]

छिन्नमस्ता के कथोपकथन में एक विशेष कलात्मकता दिखाई पड़ती है। प्रिया से जूड़ी का कथन देखिए - "क्रूर मैं नहीं, क्रूर तुम्हारे भीतर बैठा हज़ारों साल

---

1. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 39-40
2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 107

की परंपरा से ग्रसित एक रुग्न मानस है जो तुम्हें कभी चैन नहीं लेने देता, तुम्हारी उपलब्धियों से खुश नहीं होता। तुम अपने प्रति इतनी आक्रामक क्यों हो प्रिया? क्यों सलीब पर लटककर खुद की हथेलियों में कीलें ठोकती रहती हो? क्या मिलता है इस आत्मपीड़न से?"[1]

मनुष्य जीवन की उलझन, मानसिक द्वन्द्व, अकेलेपन की त्रासदी आदि की अभिव्यक्ति, मनोविश्लेषणात्मक संवादों द्वारा प्रकट की जाती है। 'कठगुलाब' में वर्षा का अंतरंग सहेली और मार्गदर्शक दिव्या के लखनऊ जाने की खबर वर्षा को मानसिक आघात पहुँचाती है। उसका संवाद द्रष्टव्य है - "मुझे छोड़कर मत जाना.... मैं घुट-घुटकर मर जाऊँगी।" वह जैसे उन्माद में आ बार-बार उनका माथा, आँखें, कपोल व होंठ चूम रही थी और प्रलाप-सा किये जा रही थी, "मैं तुम्हारे बिना नहीं जी सकती.... मुझे मंझधार में मत छोडो....."[2]

नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में अंग्रेज़ी में गालियाँ देते हुए संवाद भी मिलते हैं, जो भूमंडलीकरण के इस दौर में स्वाभाविक है। 'एक ज़मीन अपनी' में नीता सुधीर के संबंध में अंकिता से कहती है - "दैट बास्टर्ड..... उसने मुझे छला है..... प्रेम-व्रेम कुछ नहीं..... काम संबंधों का भूखा भेडिया..... आई हेट हिम....."[3]

---

1. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 184
2. कठगुलाब, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 51
3. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 190

इस प्रकार उपनिवेशकालीन संवाद से भिन्न नवउपनिवेशकालीन संवाद बहुत ही सशक्त, संक्षिप्त स्वाभाविक, भावात्मक, मनोविश्लेषणात्मक आदि गुणों से युक्त है।

थलकाल

उपन्यासकार उपन्यास में आये स्थानों एवं समय को जितना अधिक विशिष्ट बनाने में समर्थ होता है, वह अपने कल्पित संसार में उतना ही यथार्थ और विश्वसनीय बना पाता है। थलकाल के अंतर्गत समाज की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज़ आदि का चित्रण होता है। बिना थलकाल के पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं होता है और घटनाक्रम को समझने के लिए भी इसकी आवश्यकता होती है।

उपनिवेशकालीन उपन्यास

हिन्दी के आरंभिक उपन्यासों में थलकाल का चित्रण बहुत ही कम हुआ है, परंतु कथानक और पात्रों के चित्रण से हमें थलकाल एवं वातावरण का अहसास मिल जाता है। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास कुसुमकुमारी में थलकाल का वर्णन देखिए - "ठीक दोपहर का वक्त और गर्मी का दिन है। सूर्य अपनी पूरी किरणों का मजा दिखा रहे हैं। सुनसान मैदान में दो आदमी खूबसूरत और तेज घोड़ों पर सवार साये की तलाश और ठंडी जगह की खोज में इधर-उधर देखते घोडा फेंके चले जा रहे हैं। ये इस बात को बिल्कुल नहीं जानते कि शहर किस तरफ है या आराम लेने

के लिए ठंडी जगह कहाँ मिलेगी, घड़ी-घड़ी रूमाल से अपने मुँह का पसीना पोंछते और घोडों को एड़ लगाते बढ़े जा रहे हैं।"[1]

प्रेमचंद के उपन्यासों में जब किसी स्थान का वर्णन किया जाता है, तो उसे उसकी संपूर्ण विशेषताओं के साथ प्रस्तुत किया जाता है। उपन्यासकार वर्ण्य स्थान की छोटी से छोटी वस्तुओं का भी उल्लेख करते हैं। 'गबन' उपन्यास में थलकाल का सुन्दर वर्णन किया गया है - "बरसात के दिन हैं, सावन का महीना। आकाश में सुनहरी घटाएँ छाई हुई हैं। रह-रहकर रिमझिम वर्षा होने लगती है। अभी तीसरा पहर है; पर ऐसा मालूम हो रहा है, शाम हो गयी। आमों के बाग में झूला पडा हुआ है। लड़कियाँ भी झूल रही हैं और उनकी माताएँ भी दो-चार झूल रहीं हैं, दो चार झुला रही हैं। कोई कजली गाने लगती है, कोई बारहमासा। इस ऋतु में महिलाओं की बाल-स्मृतियाँ भी जाग उठती हैं। ये फुहारें मानो चिंताओं को हृदय से धो डालती हैं। मानो मुरझाए हुए मन को भी हरा कर देती है। सबके दिल उमंगों से भरे हुए हैं। घानी साड़ियों ने प्रकृति की हरियाली से नाता जोड़ा है।"[2]

प्रसाद ने 'तितली' उपन्यास में प्राकृतिक वातावरण की सुन्दर सृष्टि की है - "पूस की चाँदनी गाँव के निर्जन प्रान्त में हल्के कुहासे के रूप में साकार हो रही थी। शीतल पवन जब घनी अमराइयों में हरहराहट उत्पन्न करता, तब स्पर्श न होने पर भी गाढ़े के कुरते पहननेवाले किसान अलावों की ओर खिसकने लगते।...."[3]

---

1. कुसुमकुमारी, देवकीनन्दन खत्री, पृ. 5
2. गबन, प्रेमचंद, पृ. 2 www.hisdustanbooks.com
3. तितली, प्रसंद, पृ. 43

वातावरण के विविध रूपों को साकार करने की क्षमता भगवतीचरण वर्मा में है। वर्माजी ने 'चित्रलेखा' में राजाप्रासाद का भव्य वातावरण, बीजगुप्त द्वारा हिमालय के वातावरण का वर्णन, कुमारगिरि की कुटी का शांत वातावरण आदि को सफल रूप में प्रस्तुत किया है।

नवउपनिवेशकालीन उपन्यास

नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में थलकाल वर्णन से कथागति की सही पहचान एवं कथानक की सफलता एवं गहनता की कठोर वास्तविकता जाहिर होती है। नवउपनिवेश का उपन्यास घोर यथार्थ का है। वह यथार्थ थलकाल की रूपायति से लक्ष्य तक पहुँचता है।

'पचपन खंभे लाल दीवारे' उपन्यास में थलकाल वर्णन से हमें नायिका की मानसिक स्थिति का अहसास मिल जाता है - "बरामदे में सोई हुई भौंरी खाँसी - सुषमा ने पाया कि वह अपनी चारपाई पर उठकर बैठी हुई है और नील कही नहीं है। सब ओर सन्नाटा है, भयावह, अकेला सन्नाटा। वह अकुलाकर खडी हुई और उसने खिड़की पूरी खोल दी। बाहर से प्रकाश की एक फाँक आकर उसके पैरों पर लोटने लगी और सुषमा छड़ो का ठण्डा स्पर्श अनुभव करती हुई, अनझिप आँखों से बाहर ताकने लगी। रात्रि के वह मौन स्वर उसके चारों ओर मंडरा रहे थे। टहनियों और पत्तों का मन्द स्वर में वार्तालाप, दूर बजते रात के घण्टे, चौंककर जागे किसी पक्षी का आर्त्त चीत्कार ! सुषमा को लगा कि उसके प्राणों और रात्रि की आत्मा में घना साम्य है। वैसे ही कुछ मद्विम स्वरों की प्रतिध्वनियाँ गूँजती हैं, मन

में कुछ करवट लेता है और चुप हो जाता है; ऐसा ही अभेद्य, सर्वग्रासी अन्धकार जीवन में सिमटता आता है।"[1]

'समय-सरगम' में प्रकृति के सुन्दर चित्रण से कथा में यथार्थता और विश्वसनीयता आ गई है - सुबह से बादल छाए थे। दुपहर बाद पानी बरसने लगा। पहाड़ों पर बर्फ पडी लगती है। आरण्या बालकनी से बौछार और हवा की जुगलबंदी निहारती रही। ऊँचे तले से नीचे की तारकोली सड़क गहरी और चिकनी दीखती थी। बरखा की बूँदों तले पेड़ों के लहराते पत्ते जैसे हरे मंडप हों। धरती की ओर झुकते और आकाश की ओर खुलते पत्ते। अपनी ही छटा पर मोहित। बौछार का यह दृश्य-श्रव्य जाने कितना प्राचीन और नित-नित नया। सब अपनी लय में समय को तिरोहित करता है। हम हैं तो समय है। समय तो हमारे बाहर भी है और आगे भी। वही है जो हमें आतंकित करता है। पर इस समय ऐसे बरसाती दिन में यह दुविधा क्यों और नर्मालाप भी क्यों! "आगे बढ़कर क्षण को पकड़ लो जो तुम्हारा है। यह शाम, यह क्षण, यह बारिश लपककर हथेली में समेट लो। एक बार चूकी तो हमेशा के लिए खिसक जाएगी।"[2]

'रुकोगी नहीं राधिका' में राधिका के बचपनवाले कमरे का चित्रण उल्लेखनीय है। इस चित्र के द्वारा कमरे के लोग, उनका रहन-सहन, उनकी मानसिक स्थिति, निष्क्रियता आदि प्रकट होते हैं - "उसी तरह का, एक वातावरण हीन, व्यक्तित्वहीन कमरा, बीच में बिना बिस्तर का लोहे का पलंग, एक पुराने स्टाइल की मेंढ़क -

---

1. पचपन खंभे लाल दीवारें, उषा प्रियंवदा, पृ. 5
2. समय - सरगम, कृष्णा सोबती, पृ. 17

आरामकुर्सी, दीवार पर दो साल पुराना धूमिल पडा कैलेंडर, केवल घडौंची पर ताज़ा भरा घड़ा रखा था, नीचे साफ़ धुली चिलम थी और स्टैंड पर तौलिया।"[1]

'इदन्नमम' उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा ने होली के समय में प्रकृति का सुन्दर चित्रण करके नायिका की मानसिक उल्लास को भी व्यक्त किया है - "फाग है। होली है रंगों का त्योहार। धरती पर वसन्त है। जन-जन उल्लसित है। मन्दाकिनी के मन में सरसों फूल उठी है। तितली उड़ती हैं, चिडियाँ चहकती है। पौधे हरे रंग पर पीली चादर ओढ़े खड़े हैं। आकाश निर्मल नीला। सूरज गुनगुना। चन्द्रमा शीतल। भोर सुनहरी, रातों श्यामा। होली है। फाग है। वसन्त है।"[2]

उपनिवेशकालीन उपन्यासों में हमें थलकाल के वर्णन से बाह्य स्थितियों का अहसास मिल जाता है तो नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों में थलकाल के चित्रण से कथापात्रों के आंतरिक स्थितियों का अहसास मिलने के साथ दुनिया के घोर यथार्थ को उसी परिमाण एवं अनुपात में मिलता है और वह उपन्यास की सफलता को रेखांकित करता है।

भाषा

भाषा विचारों की वाहिनी है। इसी के सहारे व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अनुभवों एवं विचारों का आदान-प्रदान करता है। भाषा मानव हृदय के भावों को मूर्त्त रूप देकर उन्हें स्थायित्व प्रदान करती है।

---

1. रुकोगी नहीं राधिका, उषा प्रियंवदा, पृ. 46
2. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 146

उपनिवेशकालीन उपन्यास

दैनन्दिन बोलचाल की खडीबोली भाषा

पूर्व प्रेमचंदकालीन उपन्यासों में दैनन्दिन बोलचाल की खडीबोली भाषा का प्रयोग किया गया है, जिसमें तत्भव शब्दों के साथ क्षेत्रीय बोलियों के शब्द भी मिलते हैं। बोलचाल की खडीबोली की उच्चारण प्रकृति के अनुरूप लिखित शब्द में मिलते हैं जैसे - इस्से, कर्ते, उत्ते, सक्ता आदि शब्द। इन उपन्यासों में विराम चिह्नों का अभाव है। खडी पाई की जगह (-) का प्रयोग किया गया है। शब्द के दोहराव के लिए (2) का प्रयोग और अनुस्वार की जगह चंद्रबिन्दु का प्रयोग किया गया है। आरंभिक काल के उपन्यासों में उन्नीसवीं सदी की हिन्दी भाषा का प्रयोग किया गया है, जैसे - बनडा (पति), भनेली (अंतरंग सहेली, मिश्रानी (भोजन बनानेवाली) आदि। ये शब्द वर्तमान हिंदी से लुप्त-से हो गए हैं।

'वामा शिक्षक' में सीधी-सादी भाषा में अभिव्यक्ति का यह उद्धरण देखिए - "आजकल के समय ही पर पत्थर पड़े हैं अब किस्का भरोसा किया जाए और सच है कि पैसे के सब बैरी होते हैं और एक यह भी बात है कि सदा आदमी की नीति एक सी नहीं रहती - पल भर में आदमी की नीति बिगड जाती है"[1] 'वामा शिक्षक' में संयुक्त वर्णों की भी विशिष्ट स्थिति दिखाई देती है। जैसे स्वरों के संयुक्त रूपों में 'ए' और 'ऐ' के स्थान पर 'अे' और 'अै' या 'प्रे' और 'प्रै' का प्रयोग किया गया है।

---

1. वामा शिक्षक, मुंशी ईश्वरीप्रसाद और मुंशी कल्याणराय, पृ. 85

मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों के प्रयोग

पूर्वप्रेमचन्दकालीन लगभग सभी उपन्यासों में मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों के प्रयोग भी किए गए हैं।

मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रचुर प्रयोग से भाषा की व्यंजनात्मकता में वृद्धि आ गयी है। उदाहरण के लिए - "पढ़ा अच्छा व मरा अच्छा', 'अब पछताए होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत', 'फूले न समाते', 'रस्सी जल जाए पर उस्का बल न जाय', 'जाढा जाय रूई कि दुई' आदि।

पूर्वप्रेमचंदकालीन उपन्यासों में सूक्तियों के प्रयोग भी मिलते हैं। जैसे-

रूपलक्षणसंपन्नाः सुशीलः कुलसम्भवाः।
विद्याहीन न शोभन्ते निर्गन्धा डूव किशुकाः।। (भाग्यवती, पृ. 79)

'आशा वै परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम' (श्यामा स्वप्न, पृ. 23)

काव्यात्मक भाषा

'श्यामास्वप्न उपन्यास में काव्यात्मक भाषा का प्रयोग किया गया है जिसमें अलंकारों का प्रचुर मात्रा में उपयोग दिखाई पड़ता है। उपन्यास के आरंभ में ही अनुप्रास अलंकार से युक्त काव्य भाषा है। "आज भोर यदि तमचोर के रोर से, जो निकट की खोर ही में जोर से सोर किया, नींद न खुल जाती तो न जाने क्या-क्या वस्तु देखने में आती।"[1]

---

1. श्यामा स्वप्न, ठाकुर जगमोहन सिंह, पृ. 19

पात्रानुकूल भाषा

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। उन्होंने भाषा को अपने पात्रों के व्यक्तित्व का अंग बना दिया है। यह भाषा पात्रों की शिक्षा-दीक्षा, संस्कार एवं मनःस्थिति के अनुकूल है। जहाँ प्रेमचंद ग्रामीण पात्रों की कहानी कहते हैं, वहाँ की भाषा, नागरिक पात्रों की कथा की भाषा से भिन्न होती है। ग्रामीण पात्रों की कहानी कहते समय प्रेमचंद तत्भव शब्दों का ही व्यवहार करते हैं। नागरिक पात्रों की कहानी कहते समय वे तत्सम और अंग्रेज़ी शब्दों के उपयोग अधिक करते हैं। 'सेवासदन' उपन्यास में सुमन का शांता से कथन देखिए - "कौन शान्ति? तू हट जा, मुझे मत छू, मैं पापिनी हँ, मैं अभागिनी हूँ। तू देवी है, तू साध्वी है, मुझसे अपने को स्पर्श न होने दे। इस हृदय को वासनाओं ने, लालसाओं ने, दुष्कामनाओं ने मलिन कर दिया हैं।"[1]

वैसे ही निराला के उपन्यासों में शिक्षित पात्रों के द्वारा अंग्रेज़ी का प्रयोग देख जा सकता है। 'निरुपमा' उपन्यास में कमल ने कुमार से पूछा - "Sir, sleeping; or thinking?"[2] यशपाल के बौद्धकालीन उपन्यास 'दिव्या' में पात्रों की भाषा काल के अनुरूप है। भिक्षु बने पृथुसेन से दिव्या का कथन देखिए - "भन्ते, अपने निर्वाण धर्म का पालन करें। नारी का धर्म निर्वाण नहीं, सृष्टि है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें।"[3]

---

1. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 192
2. निरुपमा, सूर्यकांत त्रिपाठी निरारा, पृ. 118
3. दिव्या, यशपाल, पृ. 163

प्रेमचंद भाषा को विशेषणों, अलंकारों और मुहावरों के कुशल प्रयोग से प्राणवान बना देते हैं। वे ऐसे सटीक उपमानों का प्रयोग करते हैं कि वर्णनों में विशेष प्रकार का चमत्कार आ जाता है। 'निर्मला' उपन्यास में कल्याणी कहती है - "लड़के हल के बैल है; भूसे-खली पर पहला हक उनका है।"[1] 'सेवासदन' में गजाधर कहता है - "स्त्रियों का सौंदर्य उनका पति प्रेम है। इसके बिना उनकी सुंदरता इन्द्रायण का फल है, विषमय और दग्ध करनेवाला।"[2]

प्रेमचंद के समकालीन उपन्यासकारों में बेचन शर्मा उग्र जयशंकर प्रसाद और निराला उल्लेखनीय है। निराला की औपन्यासिक भाषा प्रसाद और उग्र की तुलना में अधिक सर्जनात्मक है। विषय और भाषा दोनों की दृष्टि से निराला की यथार्थवाद की ओर प्रगति द्रष्टव्य है।

भगवतीचरण वर्मा ने प्रेमचंद के समान पात्रानुकूल जनभाषा का प्रयोग किया है। उन्होंने भाषा के द्वारा युग की समस्त चेतना को मूर्तिमान कर दिया है। वर्माजी ने अपने उपन्यासों में मुहावरे, लोकोक्ति और अलंकारों का प्रयोग भी किया है। चित्रलेखा उपन्यास में देखिए - "चित्रलेखा का यौवन उन्माद का प्रतिबिम्ब था। उसके अरुण कपोलों पर लाली थी। उसके अधर मन्द मुस्कान के पराग से भीगे थे।"[3] 'चित्रलेखा' में मुहावरे का प्रयोग भी किया गया है। बीजगुप्त मृत्युंजय से

---

1. निर्मला, प्रेमचंद, पृ. 28
2. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ. 24
3. चित्रलेखा, भगवतीचरण वर्मा, पृ. 23

कहता है - "आर्यश्रेष्ठ, कितनी ही आश्चर्यजनक बातें मैंने वहाँ देखी है, पर एक घटना को मैं कभी नहीं भूल सका। उसे सुनकर दांतो तले उंगली दबानी पड़ती है।"[1]

प्रेमचंद के लेखन काल के उत्तरार्द्ध में जैनेन्द्र ने उपन्यास को एक नयी कथा भाषा दी। कल्याणी और त्यागपत्र में उनकी कथा-भाषा और अधिक अन्तरंगता में प्रवेश करती है। यह आत्मालाप की भाषा है जो किसी पात्र की संवेदना से जुडी हुई है। जैनेन्द्र ने सरल वाक्य योजना और बोल-चाल के शब्दों का प्रयोग अपने उपन्यासों में किया है। मुहावरे, लोकोक्ति और अलंकारों का प्रयोग भी इनके उपन्यासों में देखा जा सकता है। 'कल्याणी' उपन्यास में कल्याणी का कथन देखिए - "तुम जानते नहीं भाई, ऐसी बातों में तिल का ताड बनते देर नहीं लगती।"[2]

प्रेमचंद और जैनेन्द्र के बाद अज्ञेय ने ही हिन्दी भाषा को एक साथ परिनिष्ठित और सर्जनात्मक भाषा के उत्कर्ष पर पहुँचाने का काम किया। अज्ञेय की संस्कृतिनिष्ठ, पर स्वाभाविक और प्रौढ़ भाषा हिन्दी गद्य को उत्कर्ष पर पहुँचाती है। शेखर : एक जीवनी इस दृष्टि से एक श्रेष्ठ रचना है। 'मौन की भाषा' इस उपन्यास में बहुत सफलता से प्रयुक्त हुई है।

नवउपनिवेशकालीन उपन्यास

नव उपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित उपन्यासों की भाषा अत्यंत सुगठित है। इनकी भाषा पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप तो है, साथ ही इसमें संक्षिप्तता,

---

1. चित्रलेखा, भगवतीचरण वर्मा, पृ. 78
2. कल्याणी, जैनेन्द्र, पृ. 57

सहजता, सार्थकता, स्वाभाविकता एवं सजीवता आदि गुण भी है। इनमें तत्सम, उर्दू तथा अंग्रेज़ी शब्दों की भरमार दिखाई पड़ती है। यौन संदर्भित भाषा, स्त्री भाषा तथा हरित भाषा भी नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों की भाषिक विशेषताएँ हैं।

1. सहज, स्वाभाविक और पात्रानुकूल भाषा - 'आपका बंटी' उपन्यास की भाषा स्वाभाविक, पात्रानुकूल तथा वातावरण के अनुकूल है। भाषा में सजीवता एवं रोचकता भी विद्यमान है। शकुन वकील चाचा से कहती है - "आप क्यों इतना गिल्टी फील कर रहे हैं....? इसमें नया तो कुछ नहीं हुआ? जो था उसे ही तो कानूनी रूप दिया जा रहा है।"[1]

2. सांकेतिक भाषा - 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में सांकेतिकता का अच्छा प्रयोग किया गया है। प्रिया का स्वप्न - "सपने में स्वयं को एक बडे कमरे में बंद पाती है। वहाँ कोई उसकी ओर झपटता है। वह एक छलांग में कमरे से बाहर लॉबी में पहुँच एक्ज़िट की घुमावदार दस मंज़िलों की सीढ़ियाँ एक मिनट में पार कर लेती है। लगता है मानों सीने को कोई रस्सियों से बाँध रहा हो। फिर आगे एक स्विमिंग पूल नहीं, गंगा नहीं..... नहीं पद्मा में पहुँच जाती है, जहाँ उसे एक चार वर्ष की डूब रही छोटी-सी लड़की दिखती है और प्रिया उसे तैरना सिखा देती है।"[2] यह स्वप्न प्रिया के अतीत की ओर संकेत करता है और उसे एक महाशक्ति के रूप में दूसरों को डूबने से बचानेवाली के रूप में प्रस्तुत करता है।

---

1. आपका बंटी, मन्नू भंडारी, पृ. 34
2. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 40

3. मुहावरे और लोकोक्तियाँ - 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में मुहावरे और लोकोक्तियाँ का खूब प्रयोग किया है, जैसे - "नीता की स्थिति फिर भी हाथी मरा तो सवा लाख वाली थी।"[1] "सुनवाएगी! चाहे कितने ही पापड़ बेलने पड़ें।"[2] 'चाक' उपन्यास में भी मुहावरे और लोकोक्तियाँ देख सकते हैं - "हमारी बिल्ली हमसे ही म्याऊँ।"[3] ".....अब दामन बचाकर भी आग से नहीं बच पाओगे।"[4]

4. प्रतीकात्मक भाषा - उपन्यासों में अधिकांश स्थलों पर पात्रों की मानसिक स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए और भाषाभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रतीकात्मक भाषा का सहारा लिया जाता है। आपका बंटी उपन्यास में 'शीशियाँ' संपूर्ण उपन्यास में एक प्रतीक बन गई है। बंटी महसूस करता है कि उन शीशियों का प्रयोग मम्मी को बदल देता है, सख्त बना देता है, अतः शीशियों के प्रति उसके मन में आक्रोश पैदा करता है। 'मुझे चाँद चाहिए' में प्रतीकात्मक भाषा अर्थ छवियों को प्रकट करने में अत्यंत सक्षम है। जैसे - "बरसाती बावडी गंगा की ओर देखेगी, तो मलिन ही होगी।"[5]

5. अलंकृत भाषा - छिन्नमस्ता में अलंकृत भाषा का प्रयोग किया गया है। प्रिया की माँ कहती है - "बिणनी तू फालतू बात मत कर। मेरा सरवण कुमार सा बेटा।

---

1. एक ज़मीन अपनी, चित्रा मुद्गल, पृ. 205
2. वही, पृ.183
3. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 174
4. वही, पृ. 184
5. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 34

तुम्हें तो इस बात की जलन है कि मायत की सेवा क्यों करता है? तुम्हारे इशारे पर क्यों नहीं नाचता?"[1]

6. यौन संदर्भित भाषा - स्त्री-पुरुष और संबंधों के चित्रण की भाषा मुझे चाँद चाहिए, कठगुलाब, चाक जैसे अनेक उपन्यासों में मिलता है। 'मुझे चाँद चाहिए' में वर्षा और हर्ष के बीच का यौन संबंध द्रष्टव्य है - "बिस्तर पर वर्षा हर्ष के ऊपर थी। साँसें तेज। नसों में उन्माद की भाप। उसने हर्ष को कोने का लैंप नहीं बुझाने दिया था। उसकी ऊष्मा पर हर्ष मुस्कराकर रह गया।"[2]

7. स्त्री भाषा - यह स्त्री की अपनी भाषा है। इसमें स्त्री के हृदय की अभिव्यक्ति है। अपने वैयक्ति संबंधों और अनुभवों को भाषा के माध्यम से उभारने के साथ ही वे सामाजिक मुद्दों और संघर्षों की तरफ भी मुडी हैं। लेखिकाओं ने स्त्री को अपने साहित्य में एक नए नज़रिए से देखा है। अब तक की स्त्रियाँ पुरुष लेखकों की कल्पना की सृष्टि थी, अब वह लेखिकाओं की अनुभूत यथार्थ की अभिव्यक्ति बन रही हैं। स्त्री की भाषा पुरुष भाषा के मानकों को तोड़कर ही बन पाती है और उसमें स्त्री का व्यक्तित्व, पाठ और भाषा आंतरिक रूप से जुड़ी रहती है। स्त्रियों की स्वतंत्र और शालीन भाषा है, उनमें सांकेतिक भाषा अधिक होती है और वे पुरुषों से ज़्यादा क्रियाओं का प्रयोग करती हैं। 'शाल्मली' उपन्यास में स्त्री भाषा का उदाहरण दिखाई पड़ता है - "बताओ, हम औरतें क्या है? गीली मिट्टी? कितनी

---

1. छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृ. 78
2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 357

बार हम अपने को मिटाकर नए-नए रूप में ढले? यानी हमारा कोई अस्तित्व नहीं, अधिकार नहीं, विवाह का अर्थ है, अपना जन्म स्थान भुला देना और एक मनुष्य की इच्छा और रुचि का दास बन जाना?"[1]

स्त्री अभी तक की सारी परंपराओं को तोड़कर स्वानुभूतिपूर्वक भाषा के द्वारा मौजूदा व्यवस्था पर कठोर आघात पहुँचा देती है।

'चाक' उपन्यास में रेशम अपनी सास से कहती है - "मैं जो पुन्न कर रही हूँ अम्माँ, उसे पाप न कहो। बिना बाप के बालक को भगवान पाप मानता तो कुँवारी विधवा की कोख सुखा डालता।"[2]

'मुझे चाँद चाहिए' में पुरुषसत्ता का विरोध करती हुई वर्षा हर्ष से कहती है - "मैं इस दुनिया में तुम्हारी अपेक्षाएँ पूरी करने के लिए नहीं हूँ।"[3]

हरित भाषा

यह प्रकृति की भाषा है, समाज कल्याण एवं मूल्यबोध की भाषा है। प्रकृति का निरंतर शोषण हो रहा है। उसे बचाने की भावना सब हरित भाषा में निहित है। स्त्री द्वारा स्त्री के साथ प्रकृति तथा शोषण के शिकार बननेवाले अन्यों के बचाने में जो कोशिश है, वह प्रकृति की भाषा है। डॉ. के. वनजा का कहना है कि - "संसार

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 75
2. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 19
3. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 404

के सभी जीव-जन्तुओं और पर्यावरण व्यवस्थाओं तथा मनुष्य एवं मनुष्य के बीच में सन्तुलन को बनाए रखने की ज़रूरत है। उनके बीच में एक पारस्परिक मेल-जोल होता ही है। वह भाषा के ज़रिए अभिव्यक्त किया जाता है। उस भाषापरक संतुलन को जाँचने की प्रक्रिया है इको-लिंग्विस्टिक्स, यानि कि हरित भाषा विज्ञान।"[1]

'कठगुलाब' उपन्यास में यह हरित भाषा दृष्टिगोचर होता है - "गोधड जाकर ज़मीन में बीज रोपेगा और कुछ दिन बाद.... बन्द आँखों से उसने देखा.... बीज अंकुरित हुआ और बढ़ता चला गया। ज़रा देर में उसकी शाखाएँ आसमान को छूने लगीं। किस दैत्य के घर जा पहुँची? एक-एक टहनी पर हज़ार-हज़ार पीले फूल खिल आये। सीधे-सादे, चार पंखुडियों में सीमित, एकसार पीले फूल। मामूली, पर एक सुकूनदेह आभा लिये। बिला शोखी या ताप, सूरज का रंग बिखेरता आच्छादन। पत्तों का खड़ताल बजाते, हवा के द्रुत और विलम्बित सुर। इतनी सरल-सहज-सादा कब हो गई है जिन्दगी? या प्रकृति?"[2]

मनुष्यता एवं प्रकृति साथ-साथ चलती है। इन दोनों के निर्माण के लिए स्मिता के नेतृत्व में जो कोशिश हुई, वह मनुष्य और प्रकृति की बंजरता को दूर करने लायक है। प्रकृति में विश्वास रखनेवाली स्मिता गाँव की आदिवासी औरतों को दिल से लगाया। वेश-भूषा, हाव-भाव और व्यवहार में अलग होने पर भी, उनके लगाव से वे उनका विश्वास करने लगे। इस प्रकार गोधड गाँव को एक नई दृष्टि मिलने लगी।

---

1. हरित भाषा वैज्ञानिक विमर्श, डॉ. के. वनजा, पृ. 31, 32
2. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. 264

उपन्यास 'धार' में मैना हुबंई रोग से पीडित तुरिया को जनखदान में काम दिलवाने के साथ-साथ डाक्टर से उसका इलाज भी करवाती है। तुरिया के साथ-साथ मैना उन सब औरतों का भी इलाज करवाना और काम दिलवाना चाहती है जो चकलाघर छोड़ चुके है।

नासिरा शर्मा के 'शाल्मली' में हरित भाषा देखिए - "आज आंधी इन्हें जाने कहाँ-कहाँ उड़ा कर ले गई है। इनके बीजों को जहाँ-वहाँ बिखरेगी, सेमल के दरख्तों को रोपेगी। बिना किसी संवाद के, बिना किसी पूर्व निर्णय के, परंतु मनुष्य से मनुष्य का संबन्ध इतना सरल कहाँ और उनके संवाद का अंत कहाँ।"[1]

शैली

शैली भाषा से अलग वस्तु नहीं है। वह भाषा की चाल और गति ही है। शैली भाषा को भाषानुकूल रूप प्रदान कर उसकी अभिव्यंजक शक्ति को महत्ता प्रदान करती है। शैली के द्वारा ही कोई भी लेखक अपनी अलग पहचान बना सकता है। साहित्य की सौंदर्यात्मकता को परखने का माध्यम शैली ही है। प्रत्येक उपन्यासकार की स्वतंत्र शैली के अनुरूप उपन्यास की भाषा में भी विविधता दर्शित होती है।

उपनिवेशकाल

1. किस्सागोई शैली - हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में ज़्यादातर किस्सागोई शैली अपनाई गई हैं। वामा शिक्षक में लेखकद्वय ने किस्से की शैली में पहले लाला

---

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. 172

भगवानदास और फिर उनके दो बेटों और उन बेटों की चार बेटियों का किस्सा बना दिया है। सारी कथा एक परिवार से संबद्ध होने के कारण उसमें आंतरिक सूत्रबद्धता बनी रहती है।

2. स्वप्न कथा शैली - 'श्यामा स्वप्न' उपन्यास एक अद्‌भुत ढंग की अपनी अनूठी शैली में कलात्मक फैंटसी है। लेखक की कल्पना में सच और स्वप्न के बीच किसी प्रकार का विभाजन संभव नहीं। श्यामा सच भी है और स्वप्न भी।

3. वर्णनात्मक शैली - इसमें प्रमुख रूप से घटनाओं, कार्यों और परिस्थितियों के साथ-साथ पात्रों का वर्णन होता है। प्रेमचंद और उसके काल के ज्यादातर उपन्यासों में वर्णनात्मक शैली का प्रयोग मिलता है।

4. आत्मकथात्मक शैली - किशोरीलाल गोस्वामीजी के कुछ उपन्यासों में आत्मकथात्मक शैली के उपयोग द्वारा औपन्यासिक शिल्प में नवीनता लाने का प्रयास दिखाई पड़ता है। आत्मकथात्मक शैली में पात्र की आपबीती का भ्रम होने से कथा में विश्वसनीयता का बोध होता है। स्वर्गीय कुसुम, लखनउ की कब्र और माधवी माधव में इस शैली का प्रयोग किया गया है लेकिन इस शैली के सफल निर्वाह में गोस्वामीजी को पूरी सफलता नहीं मिली है। इसके बाद हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने बाणभट्‌ट की आत्मकथा में कथा को विश्वसनीय और आत्मीय बनाने के लिए आत्मकथात्मक शैली अपनाई।

5. पत्रात्मक शैली - प्रेमचंद युग में पत्रात्मक शैली में उपन्यास लिखने के प्रयास हुए। यह एक विकसित शैली है जिसमे विभिन्न पात्रों के अवलोकन बिन्दुओं से

कथा प्रस्तुत की जाती है और पाठक पात्रविशेष के मस्तिष्क में अभिनीत होते नाटक का प्रत्यक्ष द्रष्टा होता है। पत्रात्मक शैली में पहला उपन्यास बेचन शर्मा उग्र ने 'चन्द हसीनों के खतूत' शीर्षक से लिखा। 1927 से 1936 तक इस शैली में लगभग 18 उपन्यास लिखे गए लेकिन इसका अच्छा निर्वाह नहीं हो सका।

6. पात्र किस्सागो शैली - इस शैली में किस्सागो या नरैटर लेखक न होकर कथापात्र होता है। कथा कहनेवाला पात्र ही उपन्यास का महत्वपूर्ण पात्र होता है, जिसके इर्द-गिर्द सारी कथा घूमती है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों कल्याणी और त्यागपत्र में इस शैली को अपनाई है। त्यागपत्र में प्रमोद ने अपनी बुआ मृणाल की कथा प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त की है। कल्याणी में कथा दो पात्रों वकील साहब और प्रो. श्रीधर के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, जो त्यागपत्र के शिल्प का ही अनुगमन है।

नवउपनिवेशकालीन उपन्यास

1. वर्णनात्मक शैली - पहले की वर्णनात्मक शैली में लिखे गए उपन्यासों की तुलना में इस काल के उपन्यासों में स्थूलता के स्थान पर सूक्ष्मता का आधिक्य है। रुकोगी नहीं राधिका, इदन्नमम, शाल्मली आदि उपन्यासों में इसी शैली को अपनाया गया है।

2. आत्मकथात्मक शैली - प्रभा खेतान के चार उपन्यासों 'छिन्नमस्ता', 'आओ पेपे घर चले', 'तालाबंदी' और 'अग्निसंभवा' में इसी शैली को अपनाया गया है। इनमें स्त्री के जीवन की घुटन एवं पीड़ा का सूक्ष्म अंकन मिलता है। इस शैली में लिखने से स्वाभाविकता ज़्यादा होती है।

3. पूर्व दीप्ति शैली (फ्लैशबैक शैली) - यह शैली मुख्यतः फिल्म शिल्प से संबंधित है, जिसमें घटनाओं को पात्र की स्मृति में लौटा कर दिखाया जाता है। इससे कथानक में गति और गंभीरता आती है। 'कठगुलाब' में स्मिता की कथा पूर्व दीप्ति शैली में कहा गया है। 'छिन्नमस्ता' और 'पीली आँधी' में प्रभा खेतान ने पूर्व दीप्ति शैली का प्रयोग किया है। 'मुझे चाँद चाहिए' में भी इस शैली का प्रयोग देखा जा सकता है।

4. नाटकीय संवाद शैली - वस्तुतः यह शैली कथा-साहित्य की परंपरागत शैलियों में से एक है। नाटकीय तत्वों से युक्त संवाद-योजना कथा-साहित्य को सजीव एवं प्रभावपूर्ण बनाती है। इस शैली का प्रभावपूर्ण प्रयोग 'मुझे चाँद चाहिए' और 'अंधेरे से परे' उपन्यासों में प्राप्त है।

5. मनोविश्लेषणात्मक शैली - पात्रों की मनःस्थिति एवं मनोवेगों के आधार पर चित्रण इस शैली की विशेषता है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह शैली हिन्दी की सर्वप्रमुख शैली कही जा सकती है। 'आपका बंटी' उपन्यास में शकुन की मनःस्थिति का मनोविश्लेषणात्मक स्तर पर किया गया चित्रण देखिए - "एकाएक शकुन फूट-फूटकर रो पड़ी। यह आवेग एक या दो दिन का नहीं था, कई दिनों का आवेग था, जिसे वह साधे-साधे घूमती थी, कभी भय से तो कभी अपराध से। अब उसे किसी के सामने डरना नहीं है, किसी के सामने अपराधी चेहरा लिए नहीं घूमना है। पर मन है कि इस बात से हलका और आश्वस्त नहीं हो रहा, सिर्फ रो रहा है, बिजूर-बिसूरकर। अपने को कोस रहा है।"[1]

---

1. आपका बंटी, मन्नू भंजारी, पृ. 181

6. आंचलिक भाषा शैली - 'इदन्नमम' उपन्यास में आंचलिक भाषा शैली में इस संघर्षगाथा को अंकित किया गया है। विंध्या की पहाड़ियों में बसे अंचल विशेष की भाषा में कथा को व्यक्त करने के कारण उपन्यास सजीव हो उठा है।

7. पत्रात्मक सैली - इस शैली का प्रयोग 'इदन्नमम', 'समय-सरगम' आदि उपन्यासों में देखा जा सकता है। 'समय-सरगम' में आख्या और ईसान के बीच पत्र-व्यवहार के द्वारा दोस्ती बढती है।

8. मिथक, प्रतीक एवं रूपक का प्रयोग - 'छिन्नमस्ता' उपन्यास का शीर्षक मिथक पर आधारित है। प्रभा खेतान ने उपन्यास की नायिका प्रिया को मिथकीय रूपक दिया है। पौराणिक सूत्रों के अनुसार छिन्नमस्ता दस महाविधाओं में पाँचवीं देवी है। वह अपना कटा हुआ सिर अपने बाएँ हाथ में लेकर, अपने ही गले से निकलती रक्तधारा को चाटती है। उनका यह रूप भयंकर अवश्य है लेकिन इसमें शक्ति का पूर्ण प्रतिरूप झलकता है। छिन्नमस्ता वह शक्ति है जो संसार बनाती है और उसका नाश भी करती है। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास की प्रिया भी अपने विषम जीवन के मार्ग में आनेवाली सभी बाधाओं का नाश कर एक नई शक्ति बनकर उभरती है, ऐसी शक्ति जो नया विकल्प, नई व्यवस्था, तथा नया सच बनाने की क्षमता रखती हो।

'मुझे चाँद चाहिए' में 'चाँद' वर्षा की महत्वाकांक्षा का प्रतीक है। वर्षा चाँद तक छूने की कोशिश करती है, पर कामयाब नहीं होता।

चित्रा मुद्गल के 'आवाँ' उपन्यास में 'आवाँ' का रूपक चित्राजी ने कुम्हार के उस भट्टे से लिया है, जिसमें कच्चे बर्तन पकाए जाते हैं। यानी स्त्री भी इस भूमंडलीकरण के आवाँ में पक रही है।

उपर्युक्त विवेचन से यह साबित होता है युगीन भावबोध के अनुसार कलात्मक उपादानों का प्रयोग हुआ है। प्रत्येक युग के बदलने जीवनानुभवों, जीवन रीति एवं मूल्यों को संप्रेषित करने के लिए नए-नए शिल्प रूपों का प्रयोग हो रहा है। उपनिवेशकालीन उपन्यासों के शुरुआती दौर में कथानक कमजोर था, इसलिए तदनुकूल शिल्प का प्रयोग हुआ। आदर्श को सामने रखने मात्र उनका लक्ष्य रहा था। लेकिन प्रेमचंद का उपन्यास शिल्प की दृष्टि से तथा कला की दृष्टि से नया तेवर लेकर आया। उपन्यासोचित सशक्त शिल्प प्रेमचंद के उपन्यास की सबसे बडी विशेषता है। विशेषकर थलकाल एवं भाषा से उद्देश्य की संपूर्ति करने में प्रेमचंद का उपन्यास सफल बन गया है। प्रेमचंद ने उपन्यास की जो परिभाषा चरित्रचित्रण केंद्रित कर दी सो बाद के उपन्यासों में पात्रगत मनोव्यापारों को खूब स्थान दिया गया। उपन्यास आधुनिकता में जटिल जीवनानुभवों को प्रस्तुत करने की सशक्त विधा बन गया। तब कलापक्ष भी जटिल बनता दिखाई पडा। व्यक्ति स्वातंत्र्य एवं अस्मिता तत्कालिक मुख्य विषय बना। व्यक्ति के जटिल एवं उलझे हुए मानसिक संवेगों को सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत करना उसके समय के शिल्प का मुख्य लक्ष्य रहा था। चाहे वह स्त्री का हो या पुरुष का, स्त्री केंद्रित उपन्यासों में स्त्री स्वातंत्र्य की कामना में कभी कभी उच्छृंखलता की ओर उन्मुख होती दिखाई देती है। लेकिन समकालीन स्त्री केंद्रित उपन्यासों की शुरुआती दौर में स्त्री की

भाषा स्त्री-अस्मिता के लिए संघर्ष करने की है। धीरे-धीरे अस्मिता प्राप्त स्त्री सामाजिक मूल्यों एवं विकास को लक्ष्य करके प्रयत्नरत दिखाई देती है। अस्मिता प्राप्त विवेकी स्त्री अपनी सूझबूझ से स्वयं निर्णय लेती है और खुद अपने द्वारा निर्मित भाषा लिखती है, बोलती है। स्त्री का संप्रेषण वह खुद अपने शिल्प के द्वारा ज़्यादा कलात्मक, यथार्थपरक एवं जीवंत बना देती है। उससे नए मुहावरों एवं प्रतीकों का जन्म होता है। उदाहरण के रूप में छिन्नमस्ता, कठगुलाब, इदन्नमम, एक जमीन अपनी, जैसे व्यंजनात्मक एवं प्रतीकात्मक अर्थों के शीर्षकों का इस्तेमाल स्त्री-भाषा का सौन्दर्य है। आज के जटिल जीवन यथार्थों को चित्रित करने के लिए कितना विषय वैविध्य नव औपनिवेशिक स्त्री केंद्रित उपन्यासों में दिखाई देता है। विज्ञापन जगत का खुरदरा यथार्थ, ट्रेडयूनियन, वेश्याजीवन, दलित जीवन, आदिवासी जीवन, भूमंडलीकरण से उत्पन्न विकास योजनाएँ, बाज़ारू संस्कृति, स्त्री शोषण, पारिस्थितिक विनाश, न जाने कितने वैविध्यपूर्ण जटिल जीवनानुभव एवं उनके बीच में पिस जानेवाले व्यक्तियों का संघर्षपूर्ण जीवन को उपन्यास पेश करता है। उपन्यास हमेशा देश से ऐतिहासिक एवं राष्ट्रीय चरित्र को उद्‌भासित करता है। उसके लिए योग्य कालानुसार शिल्पसौन्दर्य में फरक आना स्वाभाविक है।

उपसंहार

उपसंहार

विकासशील देश भारत में उपनिवेश और नवउपनिवेश दोनों में पश्चिमी आधिपत्य द्रष्टव्य होता है। दोनों में आर्थिक शोषण ही उपनिवेशकों का लक्ष्य रहा है। उपनिवेश में प्रत्यक्ष शोषण है तो नवउपनिवेश में गूढ़ तंत्रों द्वारा अप्रत्यक्ष शोषण है। स्वतंत्रता के पूर्व ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश शासकों ने भारत की अपार संपत्ति को हड़पने के लिए जिस तंत्र का प्रयोग किया था, उसी तंत्र (बाज़ारीकरण) का आज भी प्रयोग किया जा रहा है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण और बाज़ारीकरण के तहत बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने देश की आर्थिक व्यवस्था को अपने अनुकूल बना दिया है। विश्वबैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन जैसी संस्थाएँ आज भी देश का शोषण कर रही हैं। पुराने धर्म और संस्कारों से रूढ़िग्रस्त भारतीय समाज को नए रूप में ढालने के लिए उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के समाज सुधारकों ने भरसक कोशिश की जिसके फलस्वरूप राष्ट्र में अभूतपूर्व जनजागृति हुई और राष्ट्रप्रेम तथा मानवतावादी भावनाएँ सुदृढ़ हुईं। लेकिन नवउपनिवेशकालीन भूमंडलीकरण की कूटनीति से भारतीय जनता संवेदनहीन और अमानवीय बन गए। महात्मा गाँधी द्वारा आह्वान किया गया राष्ट्रबोध और मानवीयता का संदेश समकालीन साहित्यकार अपने साहित्य के ज़रिए जनता के मन में जगाना चाहते हैं।

उपनिवेशकालीन रूढ़िग्रस्त भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। समाज में वह अनेक बंधनों में जकडी हुई थी। तत्कालीन स्त्री

केन्द्रित हिन्दी उपन्यास जैसे देवरानी जेठानी की कहानी, वामा शिक्षक, भाग्यवती आदि में स्त्री को पति परायण और पुरुष के अधीन रहने की शिक्षा दी जाती है। स्वतंत्रता की कामना करनेवाली स्त्री को कुल्टा समझी जाती थी। यद्यपि वह घर के चारदीवारों के भीतर से बाहर आई है, अपने पैरों पर खड़ी हो गई है, पारंपरिक रूढ़ मान्यताओं को तोड़कर उसने नई जीवन शैली अपनाई है, तो भी अंदर ही अंदर वह अकेलापन, अजनबीपन और रिक्तता बोध से ग्रस्त है। नवजागरणकाल के समाज-सुधारवादी आंदोलनों और बाद के नारीवादी आंदोलनों ने भारतीय स्त्री के जीवन में थोडा-बहुत हलचल तो मचा दिया है, लेकिन आज भी वह इस पितृसत्तात्मक समाज में भूमंडलीय अपसंस्कृति की विकृतियों से दुखी और पीड़ित है। भारत की बुनियादी कृषि संस्कृति में जो मानवीयता थी, वह औद्योगीकरण और भूमंडलीकरण से लुप्त हो गई। पैसे पर केन्द्रित पूँजीवादी सभ्यता में स्त्री पण्य वस्तु बन गई। नवउपनिवेशकालीन उपन्यासों जैसे कठगुलाब, एक ज़मीन अपनी, चाक, इदन्नमम आदि में पितृसत्तात्मक पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध सशक्त प्रतिरोध दिखाई पड़ता है। समाज की ज़रूरतों को स्त्री अच्छी तरह पहचानती है। स्त्री शोषण के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द करने के साथ-साथ दूसरे शोषित वर्ग जैसे दलित, आदिवासी, प्रकृति आदि की भी मुक्ति की कोशिश करती है।

किसी भी देश में अर्थ और राजनीति का ध्येय समाज-सेवा तथा लोक कल्याण होना चाहिए। दुर्भाग्यवश भारत की स्त्री उपनिवेशकाल से लेकर आज तक शोषित और त्रस्त है। उपनिवेशकाल में अंग्रेजों की पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था और साम्राज्यवादी ताकतों से भारतीय जनता का शोषण हो रहा था। स्वतंत्रता

प्राप्ति के बाद स्त्री को राजनीति में स्थान मिला। विधान सभा और संसद में उन्हें बड़ी संख्या में प्रतिनिधित्व प्रदान करने की घोषणाएँ की गईं। लेकिन जब वह चुनाव लड़ने के लिए अपना पर्चा दाखिल करती, तब उसे एक तरफ धकेलने की कोशिशें होती हैं। आज़ादी मिलने से सत्ता अवश्य बदल गई, परन्तु, परिस्थितियों में बदलाव नहीं आया। शोषित वैसे के वैसे ही रहे। अर्थ शक्ति का पर्याय बन गया। राजनीति सेवा का व्रत न होकर, स्वार्थ, शक्ति और सुविधा पाने की साधन बन गई। उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित उपन्यासों में उपन्यासकारों ने स्त्री को शिक्षा प्राप्त करके समाजसेवा में प्रवृत्त होने का आह्वान दिया है।

स्त्री की क्षमता अपार है। ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं, जहाँ उसने प्रवेश न किया हो, जहाँ उसकी शक्ति, इच्छा और स्वानुभूति को प्रकट न किया हो। उपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित उपन्यासों में स्त्रियाँ अपनी अस्मिता के प्रति सजग थीं, लेकिन वे पुरुषसत्ता के शोषण को चुपचाप सहती थीं। पुरुषों द्वारा पुरुषों की दृष्टि से लिखे गए उपन्यासों में स्त्री की गरिमा सब कुछ सहने में है। प्रतिरोध करनेवाली स्त्री कुलीन नहीं है। नवउपनिवेशकालीन स्त्री पुरुष के शोषण और अत्याचारों को चुपचाप सहने के लिए तैयार नहीं है। वह पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर हर क्षेत्र में, शिक्षा के क्षेत्र में, विज्ञान के क्षेत्र में, विज्ञापन और फिल्मी क्षेत्रों में, राजनीति में, हर कहीं अपनी अस्मिता को प्रकट करती है। नवउपनिवेशकाल में ही स्त्री की अस्मिता रूपायित हुई है। उपनिवेशकाल की अशिक्षित, अंधविश्वासी स्त्री नवउपनिवेशकाल में शिक्षा प्राप्त करके विवेकी बन गई है। वह मूल्यवादी जीवन-दर्शन को पेश करती है। उसमें निहित स्त्रीयोचित गुणों के बूते पर वह

दुनियाभर के शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाने के लिए तैयार हो जाती है। अपने विवेक एवं सूझ-बूझ से उन्होंने यह पहचान लिया है कि दुनिया में मानवीयता को बरकरार रखने के लिए अपना दायित्व बड़ा है। इसके लिए उसे अपना विस्तार अवश्य करना है। वह अपनी शक्ति पर विश्वास करती है। इसलिए आज स्त्री अपनी अस्मिता से सामाजिक उन्नयन की हिमायती बनना चाहती है।

प्रत्येक युग के बदलते जीवनानुभवों, जीवन-रीति एवं मूल्यों को संप्रेषित करने के लिए नए-नए शिल्प विधानों का प्रयोग उपन्यासों में होता रहता है। उपनिवेशकालीन उपन्यासों के शुरुआती दौर में कथानक कमज़ोर था, इसलिए तदनुरूप शिल्प का प्रयोग हुआ। आदर्श को सामने रखना मात्र उनका लक्ष्य था। लेकिन प्रेमचंद का उपन्यास शिल्प की दृष्टि से तथा कला की दृष्टि से नया तेवर लेकर आया। उपन्यासोचित सशक्त शिल्प प्रेमचंद के उपन्यास की सबसे बडी विशेषता है। थलकाल एवं भाषा से उद्देश्य की संपूर्ति करने में प्रेमचंद का उपन्यास सफल बन गया है। व्यक्ति के जटिल, सूक्ष्म एवं उलझे हुए मानसिक संवेगों को सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत करना तत्कालीन शिल्प का मुख्य लक्ष्य रहा था। स्त्री केन्द्रित उपन्यासों में स्त्री स्वातंत्र्य की कामना में कभी-कभी उच्छृंखलता की ओर उन्मुख होती दिखाई देती है। लेकिन समकालीन स्त्री केन्द्रित उपन्यासों की शुरुआती दौर में स्त्री की भाषा स्त्री अस्मिता के लिए संघर्ष करने की है। धीरे-धीरे अस्मिता प्राप्त स्त्री सामाजिक मूल्यों एवं विकास को लक्ष्य करके प्रयत्नरत दिखाई देती है। वह अपना विवेक और सूझ-बूझ से खुद अपने द्वारा निर्मित भाषा लिखती है। वह खुद अपने शिल्प के द्वारा स्त्री का संप्रेषण ज्यादा कलात्मक, यथार्थपरक

एवं जीवंत बना देती है। उससे नए मुहावरों एवं प्रतीकों का जन्म लेता है। उदाहरण के तौर पर कठगुलाब, छिन्नमस्ता, इदन्नमम जैसे व्यंजनात्मक एवं प्रतीकात्मक अर्थों के शीर्षकों का इस्तेमाल स्त्री-भाषा का सौंदर्य है। आज के जटिल जीवन यथार्थों को चित्रित करने के लिए विषय वैविध्य भी नव उपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित उपन्यासों में दिखाई देता है। विज्ञापन जगत का खुरदरा यथार्थ, ट्रेड यूनियन, वेश्याजीवन, दलित जीवन, आदिवासी जीवन, भूमंडलीकरण से उत्पन्न विकास योजनाएं, बाज़ारू संस्कृति, स्त्री शोषण, पारिस्थितिक विनाश, न जाने कितने वैविध्यपूर्ण जीवनानुभव एवं उसके बीच में पिस जानेवाले व्यक्तियों का संघर्षपूर्ण जीवन को समकालीन उपन्यास पेश करता है।

उपनिवेश और नवउपनिवेशकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों के तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि स्त्री हर काल और परिवेश में पराधीन और शोषित है। उसकी आंतरिक शक्ति और अनन्य क्षमताओं को पहचानकर उसे सम्मान और समाज में हैसियत दिलाने का दायित्व हर एक नागरिक का है, विशेषकर उसे अर्धांगिनी माननेवाले पुरुष जाति का। स्त्री को भी खुद को सशक्त बनाकर परिवार, समाज, देश और दुनिया के निर्माण में काबिल हो जाना चाहिए। उसे अपनी सीमित दायरे से बाहर निकलकर, कोमलता के साथ सशक्तता को अपनी आभूषण बनाकर, अपने जीवन को ढंग से जीना है, अपने शरीर और मानस पर अधिकार होना है। उसे समाज में सम्मानजनक स्थिति को बनाना है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

मूल ग्रंथ

1. देवरानी जेठानी की कहानी — पं. गौरीदत्त शर्मा
सम्पादक - दिग्दर्शन
चरण जैन
ऋषभचरण जैन एवं संतति
दरियागंज, नई दिल्ली
प्र.सं. 1986

2. वामा शिक्षक — मुंशी ईश्वरीप्रसाद, मुंशी कल्याणराय
संपादक डॉ. गरिमा श्रीवास्तव
राष्ट्रीय पुस्तक न्यास
भारत वसंत कुंज, नई दिल्ली
प्र.सं. 2009, दूसरी आ. 2014

3. भाग्यवती — श्रद्धाराम फिल्लौरी
अखिल भारती, चरखेवालान
दिल्ली-110006
प्र.सं. 2015

4. श्यामा स्वप्न — ठाकुर जगमोहन सिंह
सस्ता साहित्य मंडल
कनॉट सर्कस, नई दिल्ली
प्र.सं. 2015

5. कुसुमकुमारी	देवकीनन्दन खत्री अरुण प्रकाशन, दिल्ली-110032 संस्करण 1998
6. सेवासदन	प्रेमचंद शुभम् पब्लिकेशन नौबस्ता, कानपुर-21
7. निर्मला	प्रेमचंद शुभम् पब्लिकेशन नौबस्ता, कानपुर-21
8. गबन	प्रेमचंद साहित्य सागर, यशोदा नगर कानपुर-208011 प्र.सं. 2007
9. तितली	जयशंकर प्रसाद ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद-1 सं. 2011
10. कंकाल	जयशंकर प्रसाद सं. एवं भूमिका डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1 चौथा सं. 2010
11. चित्रलेखा	भगवतीचरण वर्मा राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 1993

12. कल्याणी	जैनेन्द्रकुमार हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर प्रा.लि. मुंबई-4
13. त्यागपत्र	जैनेन्द्र कुमार हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा.लि. दिल्ली-32
14. सुनीता	जैनेन्द्र कुमार भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन लोदी रोड, नई दिल्ली ती.सं. 2014
15. अप्सरा	सूर्यकांत त्रिपाठी निराला राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-110002 प्र.सं. 1931, पाँचवाँ सं. 2007
16. निरुपमा	सूर्यकांत त्रिपाठी निराला भारती-भंडार, लीडर प्रेस इलाहाबाद नवम् संस्करण - वि.सं. 2018
17. अमिता	यशपाल लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1 संस्करण 1989

18. दिव्या	यशपाल लोकभारती प्रकाशन महात्मा गाँधी रोड़, इलाहाबाद-1 सं. 2008
19. पचपन खंभे लाल दीवारें	उषा प्रियंवदा राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-110002 चतुर्थ सं. 1984
20. रुकोगी नहीं राधिका	उषा प्रियंवदा राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली चतुर्थ सं. 1984
21. आपका बंटी	मन्नू भंडारी राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि. दरियागंज, नई दिल्ली प्र.सं. 1979, उन्नीसवाँ सं. 2006
22. इदन्नमम	मैत्रेयी पुष्पा राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-110002 प्र.सं. 1999, दू.सं. 2004
23. चाक	मैत्रेयी पुष्पा राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-110002 प्र.सं. 1997

24. एक ज़मीन अपनी	चित्रा मुद्गल प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-6 प्र.सं. 1990
25. आवाँ	सामयिक प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली पाँ.सं. 2007
26. छिन्नमस्ता	प्रभा खेतान राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 1993
27. कठगुलाब	मृदुला गर्ग भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली-110003 सातवाँ सं. 2013
28. मुझे चाँद चाहिए	सुरेन्द्र वर्मा भारतीय ज्ञानपीठ प्र. नई दिल्ली-110003 तीसरा सं. 2013
29. माई	गीतांजलिश्रि राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-110002 प्र.सं. 1993

30. समय सरगम
कृष्णा सोबती
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2008

31. शाल्मली
नासिरा शर्मा
किताबघर प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली
प्र.सं. 1987
तृ.सं. 1994

सहायक ग्रंथ

हिन्दी

1. अपना एक कमरा
वर्जीनिया वुल्फ़
अनुवाद मोज़ेज माइकेल
वाणी प्रकाशन
प्र.सं. 2011

2. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में संस्कृति और इतिहास
डॉ. अरुण कुलकर्णी
चिन्तन प्रकाशन, कानपुर-208021

3. आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य
अमर्त्य सेन
राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली

4. आदिवासी साहित्य-स्वरूप एवं विश्लेषण
डॉ. शेख शहेनाज बेगम
हिन्दी बुक सेन्टर
प्र. वर्ष 2014

5.	आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन	एम.एन. श्रीनिवास राजकमल प्रकाशन सं. 1998
6.	आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास	सव्यसाची भट्टाचार्य राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 1990
7.	आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना	डॉ. विजयमोहन सिंह रचना प्रकाशन, इलाहाबाद सं. 1972
8.	आज़ाद औरत : कितनी आज़ाद	संपादक शैलेन्द्र सागर रजनी गुप्त सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली-110002 प्र.सं. 2008
9.	इक्कीसवीं सदी का भारत : मुद्दे, विकल्प और नीतियाँ	डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव ओमेगा पब्लिकेशन्स, दिल्ली-110002
10.	इको-फेमिनिज़्म	डॉ. के. वनजा वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002 प्र.सं. 2013
11.	उत्तर आधुनिकतावाद	जगदीश्वर चतुर्वेदी स्वराज प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. 2004

12. उपनिवेश में स्त्री-मुक्ति कामना की दस वार्ताएँ	प्रभा खेतान राजकमल प्रकाशन प्र.सं. 2003, दू.आ. 2009
13. उदारीकरण की राजनीति	राजकिशोर वाणी प्रकाशन सं. 2016
14. उत्तर समय में साहित्य	परमानंद श्रीवास्तव सुरभि प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. 2004
15. औरत : अस्तित्व और अस्मिता	अरविन्द जैन राजकमल प्रकाशन दिल्ली-110002 सं. 2001, पं. आ. 2013
16. औरत के लिए औरत	नासिरा शर्मा सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली-110002 सं. 2003
17. डॉ. अंबेडकर - आर्थिक विचार एवं दर्शन	लेखन संपादन डॉ. नरेन्द्र जादव प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
18. नये आयामों को तलाशती नारी	सं. दिनेश नन्दिनी डालमिया और रश्मि मल्होत्रा नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली सं. 2003

19. नारी अस्मिता की परख	दर्शन पांडेय संजय प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. 2004
20. नारी व कठपुतली, न उडनपरी	मृदुला सिंहा यश पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली प्र.सं. 2014
21. नारी एक सफर	सं. दिनेशनंदिनी डालमिया संबोध गोयल, ज्ञान भारती दिल्ली-110007 प्र.सं. 2008
22. निर्वासन और समकालीन उपन्यास	उषा सिन्हा हिंदी बुक सेन्टर प्र. वर्ष 2009
23. परिवार के सौहार्द	क्षमा गोस्वामी प्रकाशन वर्ष 2005
24. प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास : नए नैतिक मूल्य	शशि गुप्ता नमन प्रकाशन, नई दिल्ली-110002 प्र.सं. 1999
25. प्रेमचंद की बस्ती	संपादक विजयदान देथा जनवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 1998

26. प्रभा खेतान के साहित्य में नारी विमर्श	डॉ. कामिनी तिवारी विद्या प्रकाशन, कानपुर-22 प्र.सं. 2011
27. प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यास	ज्ञानचंद जैन आर्य प्रकाशन मंडल दिल्ली-1100031 प्र.सं. 2008
28. पितृसत्ता के नए रूप : स्त्री और भूमंडलीकरण	संपादक राजेन्द्र यादव प्रभा खेतान, अभयकुमार दुबे राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 2003
29. बाज़ार और समाज	गिरीश मिश्र स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 2009
30. बाज़ार के बीच, बाज़ार के खिलाफ	प्रभा खेतान वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 2004
31. बाइबिल	बाइबिल सोसाइटी ऑफ इण्डिया प्रकाशन 2013 संस्करण
32. भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में नारी	डॉ. नीता रत्नेश पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली-110051 प्र.सं. 1996

33. भारत में राजनीति कल और आज	रजनी कोठारी वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 2010
34. भारतीय संस्कृति के स्वर	महादेवी वर्मा राजपाल प्रकाशन प्र. वर्ष 2011
35. भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा	मैनेजर पांडेय वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. वर्ष 2013
36. भारत की संस्कृति की कहानी	डॉ. भगवतीचरण उपाध्याय राजपाल एंड सन्स प्रकाशन वर्ष 2012
37. भारतीय नारी : दशा और दिशा	आशारानी ब्योरा नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली प्र.सं. 1983
38. भूमंडलीकरण, ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र	प्रभा खेतान सामयिक प्रकाशन, 2010
39. भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास	सं. नीरू अग्रवाल अनन्य प्रकाशन, दिल्ली-110032 प्र.सं. 2015

40. भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन और हिन्दी साहित्य
डॉ. विश्वामित्र उपाध्याय
प्रगतिशील जन प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1989

41. मनुस्मृति टीका
डॉ. रामचंद्र वर्मा
शास्त्री, विद्याविहार
नई दिल्ली-110002
सं. 2000

42. महिलाओं से
एम.के. गाँधी
कालिफोर्निया विश्व विद्यालय से 1958 में प्रकाशित

43. मूल्य और हिन्दी उपन्यास
डॉ. हेमराज कौशिक
निर्मल पब्लिकेशन्स
दिल्ली-110094
प्र.सं. 2000

44. मैत्रेयी पुष्पा - तथ्य और सत्य
सं. दया दीक्षित
सामयिक प्रकाशन
प्र. वर्ष 2013

45. समकालीन हिन्दी उपन्यास
डॉ. एन. मोहनन
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2013

46. 20वीं सदी का नवजागरण और हिन्दी साहित्य	डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे ज्योति पब्लिकेशन, दिल्ली-32 प्र.सं. 2013
47. साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना	डॉ. जितेन्द्र वत्स साहित्य रत्नाकर प्रकाशन सं. 1989
48. साहित्य इतिहास और संस्कृति	शिवकुमार मिश्र वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 2009
49. संस्कृति की उत्तरकथा	शंभूनाथ नवोदय सेल्स, नई दिल्ली प्र.सं. 2000
50. संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद-211001 ती.सं. 2010
51. स्त्री अस्मिता के प्रश्न	सुभाष सेतिया सामयिक प्रकाशन सं. 2009
52. समकालीन हिन्दी उपन्यास समय से साक्षात्कार	डॉ. एलाङ्बम विजय लक्ष्मी राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 2006, प.आ. 2009

53. स्त्री विमर्श, कलम और कुदाल के बहाने	रमणिका गुप्ता शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली-110032 सं. 2004
54. स्त्री अस्मिता - साहित्य और विचारधारा	संपादन जगदीश चतुर्वेदी सुधा सिंह आनंद प्रकाशन, कोलकत्ता प्र.सं. 2004
55. श्रीवास्तवजी के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन	डॉ. उर्मिल गंभीर आर्य बुक डिप्पो, नई दिल्ली-5
56. श्रृंखला की कडियाँ	महादेवी वर्मा राधाकृष्ण प्रकाशन प्र.सं. 1942, प्र. वर्ष 2000
57. हिन्दी नवजागरण और संस्कृति	शंभूनाथ आनंद प्रकाशन, कोलकात्ता-700007 प्र.सं. 2004
58. हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना	डॉ. लालसाहब सिंह नमन प्रकाशन, नई दिल्ली-5
59. हमारी सांस्कृतिक एकता	रामधारी सिंह दिनकर नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली
60. हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला	डॉ. रोहिणी अग्रवाल दिनमान प्रकाशन, दिल्ली-110006 प्र.सं. 1992

61. हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक विघटन	डॉ. धर्मेन्द्रनायक श्रीवास्तव प्र.सं. 1995
62. हिन्दी कथा साहित्य में पारिवारिक विघटन	डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव नमन प्रकाशन, नई दिल्ली-2 प्र.सं. 2010
63. हिन्दी उपन्यास - राष्ट्र और हाशिया	शंभुनाथ वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 2016
64. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास	बच्चनसिंह राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 1996
65. हिन्दी साहित्य का उत्तरवर्ती काल	डॉ. सत्यदेव मिश्र लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1 प्र.सं. 2012
66. स्त्री पुरुष सहजीवन	दादा धर्माधिकारी परधाम प्रकाशन सं. 2013
67. धर्म और समाज	डॉ. राधाकृष्णन दिल्ली सं. 1960
68. हरित भाषा वैज्ञानिक विमर्श	डॉ. के. वनजा वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002 प्र.सं. 2015

अंग्रेज़ी

1.	Albert Memmi's The Colonizer and the colonized	Les Temps Moderns July-Aug. 1957
2.	Colonialism and Neo colonialism	Jean - Paul Sartre Edition Gallimard Paris-1964 Translation by Azzedine Haddour 2001
3.	Discourse	Sara Mills Published in 1997
4.	Colonialism/Post colonialism	Ania Loomba First published in 1978 by Routledge, 11, New Fetter Lane London
5.	The study of Indian Society	Hans Nagpaul S. Chand & Co. Ltd New Delhi Published in 1972
6.	Indian women through the Ages	V. Janapathy Gyan Publishing House New Delhi Published in 2002

पत्र-पत्रिकाएँ

1.	संग्रथन	सं. डॉ. एम.एस. विनयचंद्रन जनवरी 2011, फरवरी 2014
2.	वर्तमान साहित्य	सं. विभूति नारायण राय अक्तूबर 2015
3.	मधुमति	राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर-313002 मई 2013, अगस्त 2016
4.	नया ज्ञानोदय	सं. लीलाधर मंडलोई जुलाई 2015
5.	आलोचना	सं. नामवर सिंह अप्रैल-जून 2002 अक्तूबर-दिसंबर 2013
6.	सम्मेलन पत्रिका	शोध त्रैमासिक भाग 14, संख्या 3 हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 2009ई.
7.	वागर्थ	सं. एकांत श्रीवास्तव कुसुम खेमानी, मई 2017
8.	शोध दिशा	शोध अंक 6 अक्तूबर-दिसंबर 2008
9.	हिन्दी अनुशीलन	सं. डॉ. रामकमल राय डॉ. यतीन्द्र तिवारी, जून 2004

परिशिष्ट

आलेख प्रकाशन

1. हिन्दी नवजागरण में स्त्रियों का योगदान, अनुशीलन (शोध पत्रिका), जनवरी 2016 ISSN : 22 492844
2. नवजागरणकालीन हिन्दी उपन्यासों में स्त्री - अनुशीलन (शोध पत्रिका), जनवरी 2017 ISSN : 2249 2844

पर्चा प्रस्तुति

1. समय सरगम : वृद्ध जीवन का यथार्थ